महाभारत - विषयक
हमारे साहित्य

१. महाभारत - कथा
२. भारत - सावित्री भाग १
३. भारत - सावित्री भाग २
४. भारत - सावित्री भाग ३
५. दुर्योधन
६. महावीर भीमसेन
७. महारथी अर्जुन
८. धर्मराज युधिष्ठिर
९. कुंती - गांधारी
१०. पितामह भीष्म
११. धृतराष्ट्र
१२. श्रीकृष्ण

युगान्त

इरावती कर्वे

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

युगान्त

महाभारत के विशिष्ट
पात्रों का समीक्षात्मक विश्लेषण

•

लेखिका
इरावती कर्वे

•

अनुवादक
हरिभाऊ उपाध्याय

•

१९७१
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

•

पहली बार : १९७१
मूल्य
आठ रुपये

•

गोपाल कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा,
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित

प्रकाशकीय

महाभारत को लेकर हिन्दी में बहुत-सा साहित्य प्रकाशित हुआ है। 'मण्डल' ने भी तीन पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इनमें पहली है नानाभाई भट्ट की 'महाभारत पात्र-माला', जिसमें उन्होंने महाभारत के चुने हुए पात्रों का अलग-अलग विस्तृत परिचय दिया है। दूसरी पुस्तक है श्री च० राजगोपालाचार्य की 'महाभारत-कथा' जो उपन्यास की भांति रोचक है और महाभारत का संक्षिप्त परिचय देती है। तीसरी पुस्तक है डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'भारत-सावित्री', जो तीन खण्डों में प्रकाशित हुई है और जिसमें सम्पूर्ण महाभारत का पर्वों के क्रम से सार आ गया है। ये तीनों ही पुस्तकें बड़ी लोकप्रिय हुई हैं और उनकी मांग बराबर बनी रहती है।

इसी शृंखला की चौथी पुस्तक अब पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। इस पुस्तक में विदुषी लेखिका ने सम्पूर्ण महाभारत का गहराई से अध्ययन करके कुछ विशिष्ट पात्रों का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखिका ने कुछ ऐसी बातें दी हैं, जो प्रचलित मान्यता से भिन्न हैं। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने अपने ढंग से तर्क भी दिये हैं।

मराठी साहित्य की श्रेष्ठ कृति होने के कारण 'साहित्य अकादमी' द्वारा इसे पुरस्कृत किया गया है।

लेखिका को इस बात से बड़ी प्रसन्नता थी कि पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर 'मण्डल' से प्रकाशित हो रहा है। लेकिन हमें दुख है कि अब जब यह पुस्तक हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो रही है, लेखिका इस संसार में नहीं हैं। हम उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें और इसके व्यापक प्रचार-प्रसार में सहायक होने का अनुग्रह करें।

—मंत्री

अनुवादक का निवेदन

श्रीमती कर्वे ने 'युगान्त' में समग्र महाभारत को समीक्षात्मक दृष्टि से देखकर उसके विशिष्ट पात्रों का अपना बनाया एक चित्र खड़ा किया है। इसमें शक नहीं कि विदुषी लेखिका ने बड़ी गहराई से महाभारत का अध्ययन किया है और सामान्य तर्क तथा व्यावहारिक दृष्टि से इन पात्रों का मूल्य-मापन किया है। इससे पहले गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान और समीक्षक नानाभाई भट्ट ने 'महाभारत ना पात्रो' नाम से विवेचनात्मक और आलोचनात्मक एक पुस्तक लिखी थी। स्व० चिन्तामणि राव वैद्य, राजाजी, स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी अपने-अपने ढंग से महाभारत का अध्ययन प्रस्तुत किया है। कुछ और विद्वानों ने भी छुट-पुट समीक्षात्मक लेख लिखे हैं, परन्तु 'युगान्त' की लेखिका ने जो यथार्थवादी दृष्टिकोण रखकर समालोचना की है, वह बहुतांश में विचार-प्रेरक है।

सब स्वीकार करते हैं कि पुराणों के अन्तिम संस्करण गुप्त-काल में (छठी सदी) में हुए और यह भी मानते हैं कि प्रत्येक संस्करण में कई नई बातें—उपाख्यान—जोड़े गये हैं। उसके बाद प्राचीन साहित्य में नई-नई बातें जोड़ने का सिलसिला बन्द हो गया। एक मत तो यह भी है कि गुप्त-काल के बाद प्राचीन भारतीय साहित्य और दर्शन में नये शोध का क्रम ही बंद हो गया ; नव-चिन्तन और नव-सृजन की परम्परा ही समाप्त हो गई। ऐसा मालूम होता है और यह खुशी की बात भी है कि भारतीय नव-जागरण के साथ अब नव-चिन्तन का क्रम फिर शुरू हुआ है। ज्ञान के क्षेत्र में इसका सर्वत्र स्वागत होना चाहिए।

महाभारत की गिनती पुराणों में होती है। पुराण न तो पूरा इतिहास है और न केवल काव्य-साहित्य। उसका मुख्य उद्देश्य भी इतिहास या काव्य-लेखन नहीं है। इसलिए उसमें ऐतिहासिक और सम्पूर्ण चरित्र-दर्शन की दृष्टि से यदि खोज करते हैं, तो सम्पूर्णता हमारे

हाथ नहीं लग सकती। किसी ग्रंथ या ग्रंथ-कर्ता का भी अध्ययन करना हो, तो उसके साथ न्याय तभी हो सकता है जब हम उसके काल में, उसके भाव में या उसके आत्मा में प्रवेश करके उसे देखें। उसके उद्देश्य को भी समझ लेना आवश्यक होता है। महाभारत के तो अलग-अलग समयों में कई संस्करण हुए। उनमें जो कुछ लिखा गया या जोड़ा गया, वह शुद्ध इतिहास (ऐसा हुआ) की दृष्टि से कहांतक यथातथ्य है, यह नहीं कह सकते। इसलिए हमारे अध्ययन का आधार केवल महाभारत या आनुषंगिक ग्रंथ ही हो सकते हैं। उसके वर्णन के आधार पर यदि हम किसी पात्र की आलोचना करते हैं तो हम कह नहीं सकते कि वास्तव में उस पात्र के साथ न्याय कर पाते हैं या नहीं। महाभारतकार या किसी पुराणकार का उद्देश्य चरित्रों का यथातथ्य वर्णन या चित्रण करना नहीं था। परंपरागत ज्ञान-विज्ञान को कथाओं, उपाख्यानों, चरित्र-कथन, उपदेश-वचन कहकर मनुष्य को धर्म-मार्ग में प्रवृत करना और अधर्म-मार्ग से हटाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति और पुष्टि के लिए जहां जो आवश्यक मालूम हुआ, उन्होंने संग्रह कर, जोड़कर या रचना करके रख दिया। यदि हमें सचमुच महाभारत की नाप-तौल करनी है, तो हमें यह देखना होगा कि इस उद्देश्य में महाभारतकार कहांतक सफल हुए हैं।

महाभारत के ये पात्र, जिनके चरित्रों की समीक्षा विदुषी लेखिका ने की है, जिस काल में हुए और उसमें जो मान्यताएं और मूल्य प्रधान रहे, उनकी कसौटी पर उन्हें कह पाना एक बात है और आज के हमारे मानदंड से उन्हें नापना दूसरी बात। यदि उन पात्रों के साथ हमें न्याय करना है और उनकी ठीक-ठीक भूमिका को समझना है, तो हमें उनके काल के, उस समय के, मूल्य, मन्तव्य और उनकी आत्मा में ही प्रविष्ट करके करना होगा। यह तो उनको समझने की दृष्टि से हुआ। अब आज की दृष्टि से भी उनके मूल्यों और नाप-तौल का महत्त्व है। हम आज जो साहित्य निर्माण करते हैं या आज जिसकी आवश्यकता, उपयोगिता है, उसमें आज के मूल्यों को ही प्रधान मानकर चलना होगा, क्योंकि हमारे प्राचीन ज्ञान और साहित्य भंडार में कई बातें ऐसी हैं

और हो सकती हैं, जो हमारे आज के जीवन के लिए और भावी जीवन-निर्माण की दृष्टि से भी निरर्थक, अनुपयोगी और त्याज्य हैं। उन्हें आज महत्त्व देने से क्या लाभ? महाभारत और रामायण आदि के प्राचीन पात्रों के जीवन से आज हमें क्या प्रेरणा, शिक्षा, बोध, भोजन या पाथेय मिल सकता है, यह हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से सारे वेद से लेकर पुराण-शास्त्र और साहित्य-ग्रंथों आदि सबके पुनरावलोकन की बहुत आवश्यकता है। जो हमारे काम का है, उसे अपनावें और जो नहीं है, उसे जहां-का-तहां रहने दें। जो मित्र प्राचीन-शोध-कार्य में लगे हुए हैं, उन्हें इस दृष्टिकोण पर बल देने की बहुत आवश्यकता है, अन्यथा उनका बहुतेरा अध्ययन और परिश्रम व्यर्थ जाने की संभावना है।

किसी वस्तु को देखने की तीन दृष्टियां प्रधान होती हैं। एक तत्त्व-दृष्टि, जिससे हम वस्तु के मूल में पहुंचकर उसके तथ्य ग्रहण करें; दूसरी साधक-दृष्टि, जिसमें हम यह देखें कि हमारे राष्ट्र के मानव-जीवन के निर्माण और प्रगति के लिए कौन-सा अंश आवश्यक और उपयुक्त है; तीसरी व्यावहारिक दृष्टि। साधक-दृष्टि से व्यावहारिक दृष्टि अधिक व्यापक है और वह वास्तविकता को ध्यान में रखकर चलती है। तत्त्व-दृष्टि और साधक-दृष्टि एक प्रकार से वैयक्तिक होती हैं, जबकि व्यावहारिक दृष्टि समाज और जनसाधारण को साथ लेकर चलती है। इसमें देश, काल, पात्र के विचार की प्रधानता ही रहती है, अर्थात् अमुक तत्त्व-दर्शन, ध्येय, योजना, कार्यक्रम या नियम-मर्यादा आज के समाज और जगत में किस प्रकार पालनीय, माननीय, ग्राह्य और करणीय बनाई जा सकती है।

ऐसा मालूम होता है कि 'युगान्त' की लेखिका ने कहीं-कहीं तो महाभारत-कालीन मूल्यों की दृष्टि से ही काम लिया है और कहीं आधुनिक मूल्यों को महत्व दिया है। जैसे द्रौपदी के पांच पतित्व का समर्थन उन्होंने किया है, जो महाभारतकालीन मूल्य पर समर्थन के अनुसार ही समझ में आ सकता है। और कहीं-कहीं जैसे भीष्म और कर्ण के जीवन करीब-करीब निष्फल बताये हैं,ये आधुनिक मूल्यों को लेकर। एकाएक यह समझ में

नहीं आता कि 'युगान्त' में लेखिका ने मूल्य-मापन की कौन-सी कसौटी निश्चित की है, फिर भी यह कहना ही होगा कि लेखिका ने बहुत अध्ययन, अध्यवसाय, खोजबीन और स्वतंत्र चिन्तन-मनन का आश्रय लिया है और अपने कथ्य को साहस, निर्भयता, स्पष्टता और सचाई के साथ प्रस्तुत किया है।

हमें बड़ा खेद है कि 'युगान्त' का यह अनुवाद प्रकाशित होने के पहले ही डॉ० इरावती का स्वर्गवास हो गया। वह हमारे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और प्रख्यात समाज-सुधारक महर्षि अण्णा साहब (धोंडो केशव) कर्वे की पुत्र-वधू थीं।

उन्हें महाभारत के साथ बचपन से लगाव था। सुदैव से उनका जन्म और पालन-पोषण ऐसे परिवार में हुआ, जहां उन्हें गीता और महाभारत की शिक्षा अपने पिता से मिली। उन्होंने वर्तमान समाज के साथ महाभारत की घटनाओं का तुलनात्मक चिन्तन बरसों किया है और उसीका परिणाम है यह 'युगान्त'।

समाज-शास्त्र के क्षेत्र में डा० इरावती कर्वे की प्रतिष्ठा अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज को छू चुकी थी। वह इंटरनेशनल कांग्रेस आफ एंथ्रोपोलोजीकल सांइसेज़ की उपाध्यक्षा रही थीं। उन्होंने सन् १९४७ में दिल्ली में हुए इंडियन साइंस कांग्रेस के एंथ्रोपोलोजीकल अधिवेशन की अध्यक्षता की थी। वह सन् १९५५ में अखिल अफ्रीका कांग्रेस के प्रागैतिहासिक संबंधी अधिवेशन में भाग लेने के लिए गई थीं। इसी वर्ष लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल आफ ओरिएण्टल एंड अफ्रीकन स्टडीज़ ने एक वर्ष के लिए प्रवक्ता के रूप में उन्हें आमंत्रित किया था। समाज-शास्त्र व नृतत्व-शास्त्र के गहरे अध्ययन और चिंतन-मनन का परिचय उनके लिखे अनेक ग्रंथ देते हैं। इन ग्रंथों ने देश और विदेश में उनके लिए सम्मान अर्जित किया था।

डॉ० इरावती डक्कन कालेज, पूना के पोस्ट ग्रेजुएट एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट में समाजशास्त्र विभाग की अध्यक्षा और आचार्या थीं। वह इस पद पर ३० वर्ष रहीं। गत वर्ष ही उन्होंने इस पद से अवकाश ग्रहण किया था। उनका जन्म बर्मा में सन् १९०५ में हुआ था। शिक्षा पूना

और बम्बई में हुई तथा इसके बाद बर्लिन विश्वविद्यालय से उन्होंने डाक्टर आफ फिलॉसफी की उपाधि प्राप्त की।

साहित्य अकादमी ने उन्हें 'युगान्त' पर पुरस्कार दिया था। इसमें उन्होंने एक नया समाजशास्त्रीय चिंतन प्रस्तुत किया है। यह चिंतन उनके बीस वर्ष के परिश्रम का परिणाम था। उनका कहना था कि महाभारत की घटना आज से चार-पांच हजार साल पहले घटी। इन सालों में समाज का गठन बिलकुल बदल चुका है, सभी सन्दर्भ बदल चुके हैं, लेकिन फिर भी महाभारत आज के संदर्भ में उतना ही उपयोगी है, जितना कि उस समय था। डॉ० इरावती कर्वे ने एक साक्षात्कार के दौरान बताया था कि महाभारत और वर्तमान समाज में एक व्यापक परिवर्तन होते हुए भी वही समस्याएं आज भी हमारे सामने हैं, जो कभी महाभारतकाल में उस समाज के साथ थीं। जैसे सत्य और असत्य का संघर्ष आज भी चल रहा है। आज भी द्रौपदियों का अपमान होता है, आज भी अभिमन्युओं का वध होता है और कर्ण आज भी लकड़ी की पेटियों में बंद कर नदी-नालों में बहाए जाते हैं। इसलिए महाभारत का संदेश आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि उस समय था। आवश्यकता उसकी नई व्यवस्थाओं की है, उसके नए रूप में प्रस्तुत करने की है। श्रीमती कर्वे ने यही किया है। 'युगान्त' में उन्होंने महाभारत के पात्रों और घटनाओं की आज के संदर्भ में नई व्याख्या की है, जिसपर विचार और चिन्तन की आवश्यकता है।

मुझे विश्वास है कि महाभारत के हिन्दी-भाषी अध्येताओं, शोधकों, और चिन्तकों को 'युगान्त' के इस हिन्दी-अनुवाद से नव-चिन्तन की अच्छी प्रेरणा मिलेगी।

हरि भाऊ उपाध्याय

गांधी-आश्रम,
हटूंडी (अजमेर)
३-८-७१

जरूरी प्राथमिक दृष्टि

हमारे जमाने के सब महाराष्ट्री बच्चे—लड़के और लड़कियां—कौरव-पांडव युद्ध की कथा 'पाण्डवप्रताप' नामक मराठी ओवीबद्ध ग्रन्थ की मदद से पढ़ते थे, अथवा सुनते थे और राम-रावण-युद्ध की कथा ऐसे ही दूसरे रामविजय नामक ग्रन्थ के द्वारा हमें मालूम होती थी। अगर किसी मन्दिर में पुराणिक के मुंह से ये कथाएं सुनते थे, तो बीच-बीच में कठिन शब्द के अर्थ भी पुराणिक समझाते थे। अगर हम ग्रन्थ पढ़ने बैठ जाते थे तो हरेक पृष्ठ के नीचे कठिन शब्द के अर्थ दिये हुए मिल जाते थे। अर्थ बार-बार दिये जाते थे, इसलिए शब्दों का अर्थ कंठ हो जाता था। कोई खास वाक्य समझ में न आया, तो उसके लिए न ठहरते हुए, कथा-प्रवाह में हम आगे बढ़ जाते थे।

रामायण-महाभारत जैसे कथा-प्रधान राष्ट्रीय ग्रन्थों का और उनमें दी हुई सांस्कृतिक कथाओं का परिचय होने के उपरांत संस्कृत के कई अर्थघन शब्दों के परिचय द्वारा संस्कृत जैसी राष्ट्रीय महत्त्व की सार्वभौम भाषा का भी थोड़ा परिचय हो जाता था। हमारी संस्कारिता का यह था अत्यंत मधुर प्रारंभ।

इन दो ग्रन्थों के बाद 'हरिविजय,' 'संत लीलामृत' आदि इसी कोटि के अन्य ग्रन्थ भी हम लोगों ने पढ़े। (उस समय का एक दुर्दैवी किस्सा भी याद आता है, जो यहां दिये बिना चारा ही नहीं, क्योंकि बचपन के संस्कार बड़े जबरदस्त होते हैं।)

घर में हम छः भाई। मैं सबसे छोटा। मेरे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव नंबर चार केशू का। उसने एक दिन कहा, "देखो, हमारा खानदान शैव है। मंगेश महारुद्र हमारे कुल-देवता। हम शिवरात्रि का उपवास करें। सोमवार के दिन एकभुक्त रहें। विष्णु से हमारा कोई मतलब नहीं। 'शिव और देवी' इन्हींकी हम पूजा करें।

"विष्णु के दस अवतार कहे जाते हैं। इनमें राम तो अच्छा था।

उसकी भक्ति करने में कोई हानि नहीं है। लेकिन 'हरिविजय' में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ जो लीलाएं बताई हैं, सो तो सब दुराचार ही है।"

मैंने कहा, " 'हरिविजय' तो अभी-अभी पंढरपुर में हमने खरीदा। लेकिन 'पाण्डवप्रताप' में श्रीकृष्ण आते हैं, वह तो बड़े अच्छे हैं। अपने पिताजी का नाम भी बालकृष्ण है। हम श्रीकृष्ण की निंदा कैसे कर सकते हैं?" मेरी दलील के सामने केशू चुप हो गया। थोड़ा सोचकर कहने लगा, "तुम्हारी बात सही है, लेकिन 'हरिविजय' का श्रीकृष्ण तो बिल्कुल दुराचारी है। उसकी हम भक्ति नहीं कर सकते।" बात वहीं अटक गई। लेकिन मेरे जीवन में उस छोटी उम्र में एक दृष्टि जागृत हुई—"सब देव एक से नहीं हैं। कुल-परंपरा के अनुसार देवों की पसंदगी हो ही गई है। हम सब एक ही धर्म के, किन्तु अपने पंथ के प्रति—कुल धर्म के प्रति—हमारी श्रद्धाभक्ति सर्वोच्च होनी चाहिए।"

यह हो गया एक सिद्धान्त। दूसरा सिद्धान्त था श्रीकृष्ण के बारे में। 'पाण्डवप्रताप' के श्रीकृष्ण को हम अच्छा मानें और 'हरिविजय' का श्रीकृष्ण बिल्कुल निंदनीय। इन दोनों को अलग-अलग रखना चाहिए। आश्चर्य की बात कि मैं उसी समय से दो कृष्ण को अलग-अलग रखने लगा। एक की भक्ति करूं और दूसरे की निंदा। तब से धर्म का ज्ञान प्राप्त करते परस्पर विरोधी दृष्टियां मैं एक साथ चला सका हूं।

आगे जाकर संतसाहित्य से प्राप्त की हुई धर्मभावना, उसके बाद आये हुए बुद्धिवाद, एवं संशयवाद आदि के अध्ययन से करीब-करीब नष्ट हो गई। (उस समय अगर कुल-धर्म का प्रभाव बलवत्तर नहीं होता तो मैं पूरे-का-पूरा नास्तिक हो जाता।) बाद में वेदान्त का अध्यात्म सामने खड़ा होने पर धर्म का विशुद्धरूप मैं अपना सका। पौराणिक कथाएं और उनमें काम करनेवाली देवदेवियां काल्पनिक हैं, बहुत-सी कथाएं केवल धार्मिक, नैतिक रूपक ही हैं, ऐसा समझकर मैं पुराने ग्रंथ नये ढंग से पढ़ने लगा। नष्ट हुई भोली श्रद्धा ने अब रूपकात्मक नया जन्म लिया। उसके बाद ही सनातन धर्म का और भारतीय युगानुयुग विकसित होती संस्कृति का रहस्य मैं समझ सका।

आज जब भगवद्गीता पढ़ता हूं तब मेरे मन में श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष स्वयं भगवान ही होते हैं और कृष्ण-सखा-अर्जुन मानव-जाति के प्रतिनिधि बनते हैं। गीता के द्वारा ही मैं सनातन धर्म का और उसके अध्यात्म का साक्षात्कार करता हूं। मेरे मन में खड़ा हुआ 'इतिहास-संशोधक' मेरी श्रद्धाभक्ति और अध्यात्म साधना में विघ्न नहीं डाल सकता।

किन्तु जब रामायण-महाभारत जैसे राष्ट्रीय ग्रंथों में से भारतीय इतिहास ढूंढ़ता हूं, उस समय ऐतिहासिक श्रीकृष्ण एक अलग ही मनुष्य बन जाता है। गौतम बुद्ध के साथ मैं उसकी तुलना भी करता हूं। श्रीकृष्ण ने कौरव-पांडव के बीच का महायुद्ध टालने का प्रयत्न किया। उसके बाद दोनों पक्षों के बीच पक्षपात-रहित सेवा करने का विचार किया। अंत में अपने लिए उस युद्ध में शस्त्रग्रहण न करने का संकल्प करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सारथ्य मान्य किया। इस बात का मेरे मन पर इतना गहरा असर हुआ कि श्री विष्णु के आठवें अवतार श्रीकृष्ण के बाद युद्धमात्र का विरोध करनेवाले गौतम बुद्ध ही विष्णु के नवें अवतार हो सकते हैं, यह औचित्य मेरे मन में बैठ गया। तब से मैं अपने लोगों को समझा रहा हूं कि भूलिये मत, परशुराम के बाद राम, राम के बाद श्रीकृष्ण और उनके बाद गौतम बुद्ध, यही विकासवाली अवतार-परंपरा यथायोग्य है, और हमारे लिए राम और कृष्ण पुराने अवतार हैं। बुद्ध भगवान युगानुकूल चालू अवतार हैं।

इस तरह भारत, भागवत, हरिवंश और विष्णुपुराण आदि ग्रंथ मैं केवल शुद्ध धार्मिक भावना से भी पढ़ सकता हूं और इन्हीं ग्रंथों में से निकाली हुई ऐतिहासिक श्रीकृष्ण की जीवनी भी मैं मान्य कर सकता हूं।

ऐसी विचित्र किन्तु बिल्कुल स्वाभाविक भूमिकाओं पर आरूढ़ होकर मैंने, लगातार चार महीने के पठन से, महाभारत पूरा किया और उसके साथ-साथ भारत-संबंधी तरह-तरह का साहित्य मराठी, हिंदी, गुजराती, अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं में जो पाया जाता है, उसका थोड़ा परिचय भी प्राप्त किया। मराठी में भारताचार्य के लेख तो देखे ही, किन्तु इस समय मेरे हाथ में श्री ज०स० करंदीकर का 'महाभारत कथाभाग आणि शिकवण', दुर्गा भागवत का 'व्यासपर्व', प्रेमाबाई कंटक का 'महाभारत : एक

मुक्त चिंतन' इतने ग्रंथ हैं। इन सबके अपने-अपने दृष्टि-बिंदु मैं समझ सकता हूं। उनके साथ मेरी सहानुभूति भी है।

लेकिन श्री सुखठणकरकृत महाभारत की परिशुद्ध आवृत्ति के आधार पर केवल मानवी और ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा हुआ यह ग्रंथ 'युगान्त' मैंने मराठी में पढ़ा तब ग्रंथकर्त्री श्रीमती इरावती कर्वे का दृष्टि-बिंदु मुझे भारतीय पाठकों के लिए अत्यंत आवश्यक मालूम हुआ। महाभारत का शुद्ध अनुवाद पढ़ने के बाद अगर यह 'युगान्त' पढ़ा जाय, तो ख्याल होगा कि भारतीय कथा एक ऐतिहासिक निरूपण है। दुनिया में सर्वत्र पाये जानेवाले सामान्य और असामान्य लोगों की ही यह कथा है। इसमें किसी के दैवीकरण का प्रयत्न नहीं है।

भारत का इतिहास समझने के लिए यह ग्रंथ अनेक तरह से उपयोगी है, ऐसा देखकर मैंने हमारे 'सस्ता सहित्य मंडल' को इस मराठी ग्रंथ का हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की सिफारिश की। 'मंडल' ने मेरी यह सूचना मान्य तो की ही, किन्तु अनुवाद के लिए श्री हरिभाऊ उपाध्याय जैसे सिद्ध-हस्त लेखक और संस्कृति-परिचायक विद्वान की सेवा प्राप्त की। इसलिए मैं 'मण्डल' का अभिनंदन करता हूं।

इस ग्रंथ में एक-एक प्रकरण के साथ महाभारत के एक-एक प्रधान व्यक्ति का चारित्र्य-चित्र भी आ जाता है। प्रथम प्रकरण 'अंतिम प्रयत्न' में हम दृढ़-प्रतिज्ञ ब्रह्मचारी भीष्म से परिचय पाते हैं। सर्व-कल्याणकारी भावना के साथ भीष्म ने युद्ध टालने का पूरा प्रयत्न किया और जब वह विफल हुआ तब प्रत्यक्ष युद्ध में अपनी पूरी शक्ति लगा-कर अपने विफल जीवन का अंत पा लिया।

आठवें प्रकरण 'मैं कौन ?' में महाभारत के दूसरे दुर्दैवी महापुरुष का चित्र मिलता है—ज्येष्ठ पाण्डव 'कर्ण' का।

गांधारी, कुन्ती, द्रौपदी आदि स्त्री-पात्रों के चित्र तो अत्यंत सफलता से चित्रित किये हुए हमें मिलते ही हैं। इन्हें पढ़ते ये सारे प्रकरण एक स्त्री-लेखिका की कलम से निकले हैं, इसका साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता।

'परधर्मो भयावहः' इस सातवें प्रकरण में महाभारत के अत्यंत

दुर्दैवी और सप्त चिरजीवियों में के आदिम अश्वत्थामा को हम पहचानते हैं। 'अश्वत्थामा' और 'परशुराम' इन दो चिरजीवियों की कथा पढ़ते हुए हम इस निर्णय पर आते हैं कि चिरजीवित्व आशीर्वाद नहीं, किन्तु शाप है। सद्भाव नहीं, किन्तु दुर्भाग्य है।

एक तरह से देखा जाय तो जिस ग्रंथ का प्रथम नाम 'जय' था वह सचमुच एक विशाल सांस्कृतिक 'पराजय' की ही कथा है। धर्मराज के मुंह से जो अंतिम शब्द निकले, वे ही सही हैं :

"जयोपि अजयाकारो भगवन्! प्रतिभाति मे।"

एक प्रकरण 'पितापुत्र' हमें अस्वस्थ करता है। वीर पंडुराजा पुत्रोत्पत्ति के लिए असमर्थ था। इसलिए कुन्ती के तीन या चार पुत्र उसे नियोग से मिले थे। इनमें कर्ण तो कुन्ती के विवाह के पहले हुआ था। कुन्ती को एक मंत्र मिला था, उसके बल पर उसे स्वर्गीय देवों से पुत्र मिलते थे। प्रथम पुत्र 'धर्मराज युधिष्ठिर' कुन्ती को 'यमधर्म' से मिला था। विदुर यमधर्म का ही एक शापित रूप था। धृतराष्ट्र और पंडु का भाई होते हुए भी वह क्षत्रिय नहीं था। वह क्षत्ता अथवा सूत जाति का था। इस पर से इरावतीबहन अनुमान करती हैं कि शायद युधिष्ठिर विदुर का ही पुत्र होगा। सारे प्रकरण में ग्रंथकर्त्री ने अपनी शंका के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये हैं। सारा पढ़ने के बाद शंका सयुक्त लगती है। लेकिन दलीलें, निर्णय पर आने के लिए, पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए सारे ग्रन्थ में यह प्रकरण ज़रा अलग-सा लगता है, तो भी कहने की इच्छा नहीं होती कि यह प्रकरण न दिया होता तो अच्छा होता। उस जमाने का वातावरण देखते अनुमान असमर्थनीय नहीं लगता, और हम चाहते तो हैं ही कि महाभारत में से ऐतिहासिक वायुमंडल हमें मिलना ही चाहिए।

अंत में इतना ही कहूंगा कि महाभारत-जैसा राष्ट्रीय, सांस्कृतिक ग्रंथ केवल एक ही दृष्टि से पढ़ना अयोग्य होगा। महाभारत एक विशाल कान्तार (अरण्य) है। उसमें वैदिक काल की और खास करके वैदिक काल के बाद की सारी संस्कृति प्रतिबिंबित है। इसीलिए सारा महाभारत अनेक दृष्टि से ही पढ़ना चाहिए। इन दृष्टियों में श्रीमती इरावती

कर्वे की दी हुई और 'युगान्त' में पाई जानेवाली दृष्टि उपेक्षणीय नहीं है। मैं तो कहूंगा कि महाभारत की कथा पढ़ने के बाद, सबसे प्रथम 'युगान्त' ही पढ़ना चाहिए। उसके बाद केवल धार्मिक दृष्टि से भी हम महाभारत-कथा को सोच सकते हैं और आखिरकार केवल आध्यात्मिक दृष्टि से महाभारत का उपसंहार भी कर सकते हैं।

महाभारत में बाद के लोगों ने जो कचरा डाला है, उसे भी मैं एक दफे पढ़ लेना जरूरी समझता हूं। महाभारत में समय-समय पर जो बढ़ावे किये गए, उन सबका मूल्य एक-सा नहीं है। लेकिन कचरे को कचरे के तौर पर पहचानने के लिए भी सारा महाभारत 'युगान्त' की दृष्टि से पढ़ना जरूरी है। आखिरकार ये सारे भले-बुरे बढ़ावे भी हमारी संस्कृति के उच्चावच नमूने ही हैं।

श्रीमती कर्वे ने 'युगान्त' लिखकर भारतीय समाज की अच्छी सेवा की है।

गांधी जयंती
२ अक्तूबर, १९७१
नई दिल्ली-१

Chichi Chitale

आभार

अनेक व्यक्तियों की सहायता से मैंने यह पुस्तक तैयार की है। उस ऋण का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने के लिए ही यह आभार-प्रदर्शन है।

पिछले पांच वर्षों में मैंने ये लेख लिखे हैं। प्रकाशित तो ये बहुत समय तक नहीं हुए, परन्तु तैयार थे, इसलिए महाभारतवाला अंश तत्काल संशोधित करने में प्रोफेसर रा० ना० दांडेकर ने मेरी सहायता की। लेखों को एकत्र कर पुस्तक-रूप देने का विचार होने पर प्रो० नरहर कुरुंदीकर से सभी लेखों को सावधानी से पढ़कर उनके बारे में अपने सुझाव दिये। हमारे कालेज के मुख्य प्रोफेसर सु० मं० कत्रे ने कितनी बार सहायता की, इसकी गिनती नहीं। किसी भी संस्कृत शब्द का मैंने जो अर्थ किया, वह ठीक है या नहीं, अर्थ ठीक न लगता हो तो उसका ठीक अर्थ क्या होगा, यह जानने के लिए कोष टटोलने की झंझट मोल न ले मैं सीधी प्रो० कत्रे के पास जाती और वह तुरन्त अपना काम छोड़ सबसे पहले मेरी जिज्ञासा पूरी करते। प्रो० मेहेंदल से भी इसी प्रकार की मदद मिली। प्रो० कालेलकर ने मराठी और उसके अंग्रेजी संस्करण को ध्यानपूर्वक पढ़कर अनेक त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। प्रो० पुंडलीक ने कुछ संभाषणों में आये विचारों को सुव्यवस्थित करने में सहायता की। पीएच० डी० के मेरे विद्यार्थी श्री डिंगरे ने इसमें अधिकांश लेखों की नकल की। आलोचकों और शंकालुओं के विचारों की उन्होंने छानबीन की और लेखों का फिर से परायण कर उनकी त्रुटियों को दूर करने में हाथ बंटाया। घर के बच्चों—जाई, रजनी, गौरी और आनन्द का उल्लेख भी आवश्यक है। ये औरों की बनिस्बत ज्यादा निर्भीकता से मत व्यक्त करते थे, जिससे लेख लिखते समय विशेष सावधानी रखनी पड़ी।

जिन अनेक मित्रों ने पुस्तक को प्रकाशन योग्य बनाने में सहायता की उनमें प्रो० अरविन्द मंगरूलकर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असाव-

धानीवश या अन्य प्रकार से कितनी ही भूलें रह गई थीं, उन्हें ढूंढ-ढूंढकर पाण्डुलिपि में संशोधन करने का उन्होंने मुझे अवसर दिया। इसी प्रकार देशमुख-दंपती की मदद भी सबसे अलग तरह की रही। लेखों की पड़ताल, टीका-टिप्पणी, नकल और जहां कहीं मैं भटक गई, वहां मुझे इंगित करने आदि के सब काम उन्होंने किये।

इन सबकी मदद, सलाह और टीका-टिप्पणी मुझे न मिलती तो शायद ये लेख लिखे ही न जाते। अतः इन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूं।

१४ जनवरी, १९६७ —इरावती कर्वे

विषय-सूची

१. अंतिम प्रयत्न १
२. गांधारी २३
३. कुन्ती ३५
४. पिता-पुत्र ५६
५. द्रौपदी ७०
६. मयसभा ९५
७. 'परधर्मो भयावहः' १०९
८. मैं कौन ? १२५
९. कृष्ण वासुदेव १४९
१०. युगान्त १९४
११. परिशिष्ट
    १. महाभारत में उल्लिखित कुछ समाज २३५
    २. कुरुओं की वंशावली २३७
    ३. यदुवंश २३९
    ४. कुरुओं से संबंधित कुल २४०
    ५. महाभारतकालीन उत्तर भारत का मानचित्र

युगान्त

●

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्चकामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

(महाभारत १८/५/६२)

—मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूं, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ?

•

एक

अन्तिम प्रयत्न

यह माना जाता है कि महाभारत में भारत-युद्ध के पर्वों का आरम्भ भीष्म-पर्व से हुआ। पर ज्यों-ज्यों इन पर्वों को आगे पढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों यह निश्चय होता जाता है कि इन पर्वों से युद्ध की शुरूआत नहीं हुई, बल्कि ये तो युद्ध को रोकने के अन्तिम प्रयत्न थे, और प्रयत्न करने-वाला व्यक्ति था भीष्म। भीष्म का सारा जीवन ही निष्फल त्याग करने में गया। उसके जीवन के अन्तिम दिन तो मानो उसके त्यागमय जीवन की पराकाष्ठा ही थी; दूसरे और सब त्यागों की तरह उसका यह त्याग भी निष्फल ही सिद्ध हुआ। जिस भीष्म ने, अपने जो भी अधिकार हो सकते थे, उन सबका त्याग किया, उसीने बुढ़ापे में—बुढ़ापे के अन्तिम दिनों में, कौरवों की सेना का सेनापति-पद क्योंकर स्वीकार कर लिया ? यह प्रश्न भी मन को कचोटता है। परन्तु जब हम भीष्म के सारे जीवन पर विचार करते हैं, तो लगता है कि भीष्म का यह अन्तिम कार्य सुसंगत ही नहीं, अटल भी था। यह खयाल मन में बराबर बना रहता है कि मानव-जीवन की विफलता की शिक्षा हृदय पर अंकित करने के लिए ही तो कहीं महाभारत की रचना नहीं की गई है। मानव के प्रयत्न, आकांक्षा, वैर, मैत्री सभी, गर्मी के दिनों में उठनेवाले बवंडर में उड़ने-वाले धूल-पत्तों की तरह क्षुद्र और न-कुछ प्रतीत होते हैं, परन्तु उसके साथ ही जिन व्यक्तियों ने ऐसे प्रयत्न किये, आकांक्षाओं को पोषित किया वे अविस्मरणीय भी सिद्ध होते हैं और हृदय पर सदा के लिए एक दर्द की लकीर छोड़ जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशिष्ट पूर्णता की

ओर निश्चित रूप से जाता हुआ दिखाई देता है। हमें वह पूर्णता—परिणति, एक तटस्थ की तरह दिखाई देती है। उस व्यक्ति को भी उसका अहसास होता होगा। महाभारत का अध्ययन करते हुए यह अहसास हमें इतनी तेजी से होता है कि उस व्यक्ति की व्यथा हमें स्वतः अपनी ही व्यथा मालूम होती है। उस व्यक्ति के द्वारा समस्त मानवता का दुःख हमें चुभता रहता है।

भीष्म का जीवन ऐसा ही रहा है—विरोधों से परिपूर्ण; उसमें सुसंगति जो थी वह भीष्म की अपने मन की और अपने कार्यों की थी। भीष्म ने जन्म लिया, तो एक शापित जीव की तरह। उसके साथ के दूसरे जीवों का छुटकारा तो गंगा ने कर दिया, परन्तु भीष्म अकेला जगत् में अटका पड़ा रहा।

गंगा को मृत्युलोक में आने का अवसर कुछ कारणों से मिला। उन्हीं दिनों अष्टवसुओं को वसिष्ठ ऋषि के शाप से मृत्यु-लोक में जन्म लेना पड़ा। उन्होंने गंगा से प्रार्थना की कि "हे गंगा, हम तुम्हारे उदर में जन्म लेने आ रहे हैं। जन्मते ही तुम हमें मार डालना, और इस शाप से हमें मुक्त कर देना।" गंगा ने उन्हें वचन दिया और वे स्वर्गीय प्राणी (अष्टावसु) पृथ्वी की ओर चल पड़े। गंगा स्वर्ग-निवासिनी थी—चिर-यौवना थी। उसकी अवस्था का विचार करने की आवश्यकता नहीं। वह स्वर्गीय थी, इसलिए मृत्युलोक के नियमों से बंधी हुई नहीं थी। देवी गंगा जैसे ही पृथ्वी पर आई, राजा प्रतीक की जंघा पर जाकर बैठ गई और कहने लगी "मैं तुमसे विवाह करना चाहती हूं।" तब राजा ने कहा—"देवि, यदि पत्नी होना था तो मेरी बायीं जंघा पर बैठतीं। तुम तो बैठी हो मेरी दायीं गोद में। यह स्थान तो लड़के का या पुत्रवधू का होता है। सो अब मेरे यहां पुत्र उत्पन्न होने दो। मैं उसे तुम्हारे साथ विवाह करने के लिए कहूंगा।" गंगा ने उसे ध्यान में रक्खा। प्रतीक के यहां शन्तनु का जन्म हुआ। प्रतीक उसे राजकाज सौंपकर चला गया। शन्तनु शिकार करने में मगन था। कुरु-वंश में ही नहीं, दूसरे राजकुलों में भी शिकार करना क्षत्रियों का एक बड़ा शौक रहा है। एक बार उसे गंगा के किनारे एक अनुपम रूपमती स्त्री दिखाई दी और वह उसका

शिकार हो गया। वह गंगा ही थी। गंगा ने शन्तनु से विवाह करके उसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लिया।

किन्तु अन्य स्वर्गीय देवांगनाओं की तरह ही उसने भी बड़ी बेतुकी शर्तें रक्खीं : "राजन्, मैं जो चाहे करूंगी। ऐसा भी करूं जो तुम्हें अनुचित प्रतीत हो, परन्तु मेरे कामों में तुम किसी तरह न रुकावट डालोगे और न मेरी निन्दा करोगे। जिस दिन तुम ऐसा करोगे, मैं तुम्हें छोड़कर चली जाऊंगी।" कामी शन्तनु ने यह सब स्वीकार कर लिया और गंगा आकर उसके साथ रहने लगी। गंगा ने शन्तनु को सब प्रकार से सुखी रक्खा, ऐसा महाभारत में वर्णन है। परन्तु जब कोई बच्चा होता कि वह उसे गंगा में जाकर डुबा आती। इधर शन्तनु उसके इतने अधीन हो गया था कि वह उससे कुछ कह नहीं सकता था। परन्तु एक-एक करके सात के बाद जब वह आठवें बालक को डुबोने चली, तब राजा से नहीं रहा गया। उसने कहा—"इस बच्चे को तुम मत फैंको। तुम भी कैसी अघोर कर्म करनेवाली नारी हो?" गंगा को तो इतना ही निमित्त काफी था। उसने कहा, "मैं इस बच्चे को तुम्हारे कहने से जीता छोड़ देती हूं, परन्तु अपनी शर्त के अनुसार अब मुझे तुम्हें भी छोड़कर जाना होगा।" ऐसा कहकर वह बच्चे को लेकर अन्तर्धान हो गई।

अब न रहा लड़का, न रही पत्नी। शन्तनु फिर शिकार में जंगल-जंगल भटकने लगा। जंगल में ही एकाएक गंगा फिर आकर उपस्थित हुई और वयस्क, सर्व-शास्त्रज्ञ लड़का शन्तनु को सौंपकर चली गई। शन्तनु ने राजधानी में उस लड़के को लाकर युवराज-पद पर उसका अभिषेक किया। उसका नाम देवव्रत रखा गया। वह अपने गुणों के कारण सबका बहुत प्रिय हो गया था। मृत्यु से छुटकारा न मिलने से जीव यहीं अटका रहा और एक प्राचीन राजकुल का युवराज हो गया।

इस प्रकार चार वर्ष फिर बीत गये। शन्तनु का शिकार का शौक चलता ही रहा। लेकिन अबकी बार वह एक अन्य सुन्दरी स्त्री का शिकार हो गया। इस समय उस स्त्री ने नहीं, परन्तु उसके पिता ने कुछ शर्तें रक्खीं। ये सभी शर्तें मानवीय स्वभाव और लोक व्यवहार के अनुकूल

ही थीं, परंतु इनके कारण देवव्रत को अपने जीवन में एक कलाबाज़ी खानी पड़ी।

दाशराज (लड़की के पिता) की शर्त थी कि इस कन्या के पुत्रों को यदि राजपद दिया जायगा, तो ही मैं इसका विवाह आपके साथ करूंगा अन्यथा नहीं। शन्तनु का मन इस बात के लिए तैयार नहीं होता था। वह खिन्न होकर अपनी राजधानी को लौट आया। देवव्रत ने पिता के मनोभाव जानने का यत्न किया, तो शन्तनु ने बड़ा मजेदार उत्तर दिया—"अरे, मुझे किस बात की चिन्ता है ? तुम जैसा गुणवान पुत्र राजकाज संभालने के लिए है ही। आशंका मुझे इतनी ही है कि तुम अकेले हो और तुमको अगर कुछ हो गया, तो फिर इस राज्य का क्या होगा ?" युवराज भीष्म ने दूसरे राजपुरुषों से जानकारी प्राप्त करके सारा भेद समझ लिया और शन्तनु से कुछ न कहकर मंत्री तथा दूसरे बड़े-बूढ़ों को साथ लेकर वह दाशराज के पास गया और शन्तनु के लिए सत्यवती के विवाह का प्रस्ताव किया। दाशराज ने अपनी शर्त बताई। तब वहीं सब लोगों के सामने देवव्रत ने प्रतिज्ञा की कि मैं राजपद नहीं लूंगा। परंतु इतने से दाशराज को संतोष नहीं हुआ। वह बोला—"यह तो ठीक, परन्तु तुम्हारे पुत्र मेरी कन्या के पुत्रों से राज्य के लिए लड़ाई-झगड़ा कर सकते हैं। इसका क्या उपाय ?" तब युवराज ने पहली से भी घोर दूसरी प्रतिज्ञा की कि 'मैं जीवन-भर ब्रह्मचारी रहूंगा।' इस दुर्धर्ष प्रतिज्ञा के कारण ही देवव्रत का नाम 'भीष्म' पड़ा। अब दाशराज का समाधान हो गया और उसने अपनी कन्या गंधकाली को भीष्म के हवाले कर दिया। भीष्म ने 'माता चलो' इन शब्दों के साथ उसे अपने रथ में बैठाया और सब परिवार के साथ राजधानी लौटकर शन्तनु के साथ उसका विवाह कर दिया।

इस असाधारण त्याग से संतुष्ट होकर पिता ने भीष्म को 'इच्छा-मरण' का वर दिया। पहले पुरु ने अपने बूढ़े पिता ययाति के लिए अपना यौवन देकर स्वयं बुढ़ापा स्वीकार किया था, परन्तु वह त्याग सदा के लिए नहीं था और उसका फल भी पुरु को उत्तम मिला। पुरु सबसे छोटा पुत्र था; परन्तु उसके सब बड़े भाइयों (यदु, तुर्वसु, अनु)

का हक छीनकर ययाति ने पुरु को राज्य दिया। पर यहां भीष्म को इस त्याग के बदले में क्या मिला ? 'इच्छामरण'। यह ठीक है कि भीष्म ने जो त्याग किया, वह किसी बदले की इच्छा से नहीं। उसे यह भी पता नहीं था कि वह एक शापित जीव है, पर गंगा ने शन्तनु को यह भेद बता दिया। यदि हम यह मान लें कि भीष्म को अपने पूर्व-जीवन का स्मरण नहीं था, और पूर्व-जीवन पर आधारित कोई प्रवृत्ति हो सकती है, तो फिर इस प्रसंग की संगति कुछ और ही लगाई जा सकती है। इसका क्या यह अर्थ लगाया जाय कि जो जीव जन्म के साथ ही संसार से मुक्त हो जायगा, इस आशा से दुनिया में आया, परन्तु यहां आकर अटक गया; उसने इस अवसर से संसार के प्रपंचों में न पड़ने का लाभ उठाया। अर्थात् न राज्य लिया, न विवाह किया, और मिला तो 'इच्छामरण !' इन तीनों कारणों से भीष्म संसार में रहते हुए भी उससे मुक्त हो गया। सर्वथा अलग होने के लिए स्वतंत्र नहीं हुआ। जो पंछी पिंजरे में फंस गया था, उसे अपने छुटकारे की राह मिल गई। पर भीष्म के जन्म के साथ ही उसका जो भाग्य जन्मा था, उसने उसे फिर क़ैदखाने में डाल दिया !

शन्तनु को सत्यवती से दो पुत्र हुए और वह उनके बड़े होने के पहले ही मर गया। इन छोटे बच्चों को, और उनकी युवती माता को अकेला छोड़ देना भीष्म के लिए संभव न था। वह फिर संसार के जाल में फंस गया। राजा न होकर भी उसने ढाई पीढ़ी यानी विचित्रवीर्य और पांडु से लेकर दुर्योधन के बड़े होने तक, अर्थात् कम-से-कम चालीस वर्ष तक राज्य संभाला। स्वयं विवाह न करके भी दो पीढ़ियों के विवाह का प्रबन्ध उसे करना पड़ा। सत्यवती को रथ में बिठाकर पिता से उसकी शादी कराई। यह मानो उसके भावी जीवन का मंगला-चरण ही था ! विचित्रवीर्य, पाण्डु और विदुर के विवाह के लिए भीष्म ने ही आगे बढ़कर उद्योग किया। उस ब्रह्मचारी का सारा जीवन, जिसके स्वयं का कोई पुत्र नहीं था, दूसरों के पुत्रों की सार-संभाल में ही बीता। इस उलझन में वह जो पड़ा, तो अन्त तक उलझा ही रहा। उससे वह छूट नहीं पाया।

सत्यवती का बड़ा बेटा राजगद्दी पर बैठा। पर वह एक लड़ाई में मारा गया। दूसरा पुत्र, विचित्रवीर्य, बाल्यावस्था में ही गद्दी पर बैठा। यह सोचकर कि उसका जल्दी ही विवाह हो जाय तो अच्छा, भीष्म उसके लिए काशिराज की तीन कन्याओं को स्वयंवर-मण्डप में से भगाकर ले आया। उनमें सबसे बड़ी अम्बा थी। उसने कहा—"मैंने तो अपने मन में शाल्व का वरण कर लिया है।" सो भीष्म ने उसे शाल्व के यहां भेज दिया। शेष दो बहनों—अंबिका और अंबालिका का विचित्रवीर्य से विवाह कर दिया। काशी से ये कन्याएं हस्तिनापुर लायी गईं। इस यात्रा में कुछ दिन गये। फिर हस्तिनापुर जाने के बाद ही अम्बा के यह कहने तक कि मैं मन से दूसरे की हो चुकी हूं, कुछ दिन गुजरे ही होंगे; और शाल्व तक पहुंचने में फिर कुछ दिन लगे होंगे। इसलिए शाल्व ने कहा कि जो कन्या इतने दिनों तक दूसरों के साथ रही, उसे मैं स्वीकार नहीं करूंगा। तब अम्बा वापस भीष्म के पास आई और कहने लगी कि जब स्वयंवर-मण्डप से तुम जबरन मुझे ले आये तो तुमको ही मुझसे विवाह करना पड़ेगा। परन्तु ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा होने के कारण भीष्म ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब अपमानित, धिक्कारित, और निराश्रित परिस्थिति में पड़कर अम्बा ने अग्नि में अपने-आपको जला डाला।

यहांतक का भीष्म का जीवन बिना आक्रोश, बिना संताप के निर्दोष रहा। उसके कारण किसी दूसरे का कोई नुकसान नहीं हुआ था, किसीकी हाय,—शाप नहीं मिला था। परन्तु अम्बा के इस प्रसंग से वह अवसर भीष्म को प्राप्त हुआ। और आगे भी ऐसे बहुत-से अवसर आते गये।

विवाह के बाद विचित्रवीर्य शीघ्र ही मर गया। पीछे उसका कोई वंशधर न रहा। इससे सत्यवती की यह इच्छा तो धूल में मिल ही गई कि उसके पुत्रों को राजगद्दी मिले; पर साथ ही, सारे कुल के भी नष्ट होने की नौबत आ गई! तब उसने बड़ी दीनता से भीष्म को समझाया कि कि वह ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा को छोड़ दे, राजगद्दी संभाले और कुरुवंश का उद्धार करे। कम-से-कम अपनी इन भौजाइयों को तो संतति प्रदान करे। भीष्म ने इनसब बातों से इंकार कर दिया। सत्यवती के कुंवारी रहते हुए, उसे एक पुत्र हुआ था—व्यास। वह विचित्रवीर्य का भाई था, इस

नाते उसकी रानियों का देवर हुआ। इसलिए सत्यवती ने भीष्म की अनुमति से व्यास के द्वारा संतति उत्पन्न कराने का निश्चय किया। बड़ी रानी को सिर्फ इतना ही अस्पष्ट रूप से कहा गया कि बेटी, आज रात को तुम्हारा देवर तुम्हारे पास आयेगा। इससे वह कुछ समझ न पाई कि भीष्म आयेगा या कुल का कोई दूसरा कुरुवीर आयेगा। ऐसी दुविधा में जब एक बड़ा-सा, काला, लाल आंखोंवाला, जटाजूटधारी पुरुष उसे दिखाई दिया तो वह बेहोश हो गई। इस संबंध से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह जन्मान्ध हुआ—धृतराष्ट्र। अतएव व्यास दूसरी रानी के पास गया। उसे देखकर वह डर के मारे सफेद पड़ गई, अतः उसे एक सफेद पुत्र हुआ। वह पाण्डु कहलाया। ये दोनों तो राजकुल की क्षत्रीय महिलाएं थीं और उनको इससे कितनी घृणा उत्पन्न हुई, वह आगे की बात से ही स्पष्ट हो जायगा। पर तीसरी बार ज्योंही तीसरी रानी को जब यह मालूम हुआ कि एक भयंकर ब्राह्मण जटाजूट बांधे आनेवाला है, तो यह सुनते ही उसने अपने बदले में अपनी दासी को ही उसके स्वागत के लिए भेज दिया। उससे जो तीसरा पुत्र हुआ, वह विदुर था।

अंधे धृतराष्ट्र के लिए भीष्म बहुत दूर देश की राजकन्या विवाह के लिए लाया। उसे यह मालूम होते ही कि उसका पति अन्धा है, उसने हमेशा के लिए अपनी आंखों पर कपड़े की पट्टी बांध ली। इधर कुन्ती खासी मोटी तगड़ी—पृथा थी। परन्तु उसको तथा रूपवती माद्री को जिसके गले बांध दिया, उसके लिए स्त्री-संग संभव नहीं था। फिर बेचारी माद्री पति की मृत्यु का कारण बन गई; इसलिए वह युवावस्था में ही सती हो गई। इन पांच स्त्रियों की आत्मा कितनी छटपटाई होगी? भीष्म के कारण ही उनकी यह दुर्गति हुई! भीष्म कुरुकुल के कर्ताधर्ता व अधिकारी पुरुष थे। उन्होंने अपनी वंशवृद्धि के लिए इन कुल-स्त्रियों की ऐसी मानहानि और दुर्दशा की थी! गान्धारी, कुन्ती और माद्री के बारे में तत्कालीन महाभारत में उस समय के लोग क्या कहते होंगे, यह मालूम नहीं। परंतु काशिराज की कन्याओं पर जो संकट आया, उसके विषय में भीष्म की भयंकर भर्त्सना, शिशुपाल के द्वारा कराई गई थी!

वह अवसर था धर्मराज के द्वारा राजसूय-यज्ञ के समय 'अग्रपूजा' को

सम्मान देने का। सब बड़े-बड़े राजाओं को निमंत्रित किया गया था। अतिथियों को अर्घ्य देकर उनका सत्कार करना था। भीष्म की सलाह से पाण्डवों ने सबसे पहले कृष्ण को अर्घ्य देने का निश्चय किया था। तदनुसार युधिष्ठिर अर्घ्य देने ही वाला था कि शिशुपाल ने आपत्ति उठाई। वह बोला, "और कोई नहीं, तो तुम्हारे कुल में सबसे वृद्ध भीष्म पितामह हैं, उन्हींको प्रथम अर्घ्य देना उचित है।" यह तर्क ऐसा था कि कृष्ण भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकते थे और वह कुछ बोले भी नहीं। किन्तु स्वतः भीष्म ने उठकर कहा कि कृष्ण ही सब दृष्टि से योग्य हैं। इस-पर शिशुपाल ने चिढ़कर उत्तर दिया—"भीष्म, तुम्हारा सारा जीवन ही क्षत्रियकुल को कलंक लगानेवाला है। अम्बा ने शाल्व का वरण किया था। सारी दुनिया इस बात को जानती थी; फिर भी तुम उसका हरण कर लाये। विचित्रवीर्य धार्मिक और राजर्षि था, इसलिए उसने उससे विवाह नहीं किया। वह तुम्हारा आश्रय पाने के लिए आई, तो तुमने उसे दुत्कार दिया। तुम्हारे भाइयों के मरने पर उनकी रानियां तुम्हारी थीं, परन्तु एक ब्राह्मण के द्वारा चुपके-से (मिषतः) उनसे संतान उत्पन्न कराई। तुम ब्रह्मचारी नहीं षण्ढ हो। अब अर्घ्य देकर तुम्हारा सम्मान करने का समय आया, तो तुम कृष्ण का गुणगान करने बैठ गये!"

युधिष्ठिर और दुर्योधन की पीढ़ी में घर के पुरुषों के लिए स्त्रियां—पत्नियां लाने का भीष्म का काम रुक गया, इसलिए बाद में किसी महिला को यह दुर्दशा सहन नहीं करनी पड़ी। फिर भी जिस राजसभा में सब बड़े-बूढ़ों के बैठे हुए एक महिला की जो लाज गई, उसे रोकने का प्रयास किसीने नहीं किया। द्रौपदी को खींचकर राजसभा में लाया गया। यह हद हो गई। तब विदुर अलबत्ते बीच में बोला। पर विदुर धृतराष्ट्र का छोटा भाई था, फिर दासी-पुत्र था। उसके बजाय भीष्म अपने अधिकार और प्रभावी शब्दों से इस लज्जास्पद प्रकरण को बन्द कर सकता था, परन्तु इसके विपरीत वह धर्म-अधर्म की उधेड़-बुन करता बैठा रहा।

परिवार में कहिये या राज्य में, जो सबसे दुर्बल होता है, जो अन्याय के खिलाफ आवाज नहीं उठा सकता, उसके साथ सौजन्य का व्यवहार

करने में ही बड़प्पन रहता है। ईश्वर अनाथों का नाथ है। इसीलिए उसकी महिमा है। यही आशय संत तुकाराम ने अपने एक अभंग में व्यक्त किया है—

"दया करी जे पुत्रांसी।
तेंचि दासा आणि दासी।
तोचि साधु ओकखावा,
देव तेथेचि जाणावा।"

अर्थात्—अपने पुत्र के साथ जैसा दया-माया का व्यवहार करता है, वैसा ही जो दास-दासियों से करता है, वही साधु है। वहीं ईश्वर का निवास है।

अपने लड़के के साथ कोई भी सद्व्यवहार ही करेगा। इसमें कौन तारीफ की बात! परन्तु अपने घर के नौकर-चाकरों के हित की ओर जो ध्यान देता है, उसीके मन में देव-भाव समझना चाहिए। ऐसे ही घर में भगवान का निवास होता है। लगभग ऐसे ही वचन मनु ने भी कहे हैं। 'मनुस्मृति' महाभारत के बाद लिखि गई है। परन्तु आचार के—सदाचार के नियम दोनों समयों में एक-से ही थे। पितृ-प्रधान कुटुम्ब में पुरुषों की प्रधानता रहती थी। स्त्रियों को, विशेषतः स्वसुर-गृह-वासिनियों को, कोई हक नहीं थे। ऐसों के लिए ही मनु ने छाती ठोककर कहा है—"जिस कुल में वधुओं (स्वसुरगृह-वासिनियों) के आंसू पड़ते हैं, जहां उनकी आत्मा तिलमिलाती है, उस कुल का नाश हो जाता है। इसके विपरीत जहां स्त्रियों का सम्मान होता है, वहां देवता निवास करते हैं।" 'देव तेथेचि जाणावा।'

कुरुकुल में स्त्रियों की भयंकर दुर्दशा हुई, उनके शरीर और मन दोनों कुचल डाले गये। अतः वह कुल नाश के योग्य ही हो गया था। और दुर्दैव यह कि ये सब पाप भीष्म के ही हाथ से हुए थे।

एक प्रश्न पैदा होता है। भीष्म ने यह सबकुछ अपने लिए नहीं किया। जिस दिन उसने राज्य और स्त्री-संग का त्याग किया उसी दिन से उसका अपने लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया था। उसने जो-कुछ किया वह दूसरों के लिए। उनसब कार्यों के लिए क्या उसे उत्तरदायी

हराया जा सकता है ? इसी प्रश्न का दूसरी तरह विचार करें। मानव-जीवन क्या पूर्णतः निर्दोष-रूप में व्यतीत किया जा सकता है ? जहां जीवित रहने का निश्चय हुआ, वहां मन में हो या न हो, मनुष्य के हाथ से पाप हो ही जाते हैं। मानव-जीवन की रचना में ही क्या यह बात गर्भित नहीं है ? अम्बा मन से शाल्व की थी। जानते हुए भी भीष्म उसे रथ में बैठाकर क्यों लाया ? भाई की पत्नियां विधवा थीं, और अपनी शपथ भी निभानी थी। तो उसके लिए कुरुकुल में अन्य तरुणों की कोई कमी नहीं पड़ गई थी। महाभारत में स्पष्ट ही कहा है कि रानियों के मनों में भीष्म के अलावा अन्य कुरु-पुंगव खड़े थे। उन सबको टाल-कर एक जंगली, वनवासी ब्राह्मण पर ही निगाह क्यों पड़ी ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है, कि यदि राजसभा के किसी योद्धा को चुना गया होता तो पुत्र के पिता के रूप में उसे सदा के लिए स्थान मिल गया होता। इसकी अपेक्षा जिस पुरुष का संबंध राजवंश से कुछ भी न हो, वही ठीक रहेगा, ऐसा विचार शायद सत्यवती और भीष्म के मन में आया होगा। भीष्म की पत्रिका में राजयोग नहीं था। अलबत्ते अधिकार-योग सोलहों आने था। व्यास के इस चुनाव के कारण भीष्म के अधिकार को आंच नहीं आई। इधर ब्रह्मचर्य की भूमिका भी अक्षुण्ण रही। यह तो राजनीति हुई। परन्तु मानव-मूल्यों की दृष्टि से यह व्यवहार निन्दनीय ठहरे बिना रह नहीं सकता था।

शिशुपाल ने भीष्म को गालियां देते हुए 'प्राज्ञमानिन्' अर्थात् 'खुद को बड़ा पंडित समझनेवाला', कहा था। भीष्म तो सब तरह से निःस्वार्थ, बहुत समझदार, सत्यप्रतिज्ञ और दूसरों की चिन्ता रखनेवाला था। इसी रूप में वह बहुत प्रसिद्ध था। सचमुच ही भीष्म ने भी बहुत चिन्ता के साथ इस भूमिका को निबाहा था। मनुष्य जब खुद अपने लिए कुछ करता है, तो उसके कार्यों में कुछ मर्यादा रहती है। उसकी प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी नाप-तौल कर किया जाता है। परन्तु एक बार जब त्यागी के रूप में सामने आया, परोपकारी की भूमिका उसने ग्रहण कर ली, तो फिर उसके आचार और कार्यों की साधारण मर्यादा नहीं रह जाती। यों उसे सदैव लोक-मर्यादा का भान रहता है, परन्तु त्यागी गिना जाने

पर वह निश्चिंत और मुक्त हो जाता है और अन्यायपूर्ण व्यवहार भी करने लगता है। कई बार ऐसा हुआ है कि क्रान्ति की गई, पद-दलितों के लिए विद्रोह किया गया; उसमें मानव-संहार भी हुआ। जितना संहार फ्रेंच और रूसो राजा-महाराजाओं ने न किया होगा, उतना फ्रेंच और रूसी राज्य-क्रान्तियों में हुआ। क्रान्तिकारियों द्वारा यह सारा हत्याकाण्ड करानेवाले 'महापुरुष' कहलाये, क्योंकि वे गरीबों के लिए लड़ रहे थे। मनुष्य खुद अपने लिए जो नहीं करता, वही 'देश' के लिए, 'समाज' के लिए और 'दूसरों' के लिए कर सकता है। आदर्शवादी, स्वातंत्र्यवादी, देश-भक्त, ईश्वर-भक्त, जितना अन्याय कर सकते हैं, उतना दूसरे लोग नहीं करते। इनमें भी यदि आदर्शवादी 'प्राज्ञमानिन्', केवल अपने कुल के कल्याण की ही चिन्ता रखनेवाला हुआ तो फिर सदसद्-विवेक नहीं रहता। क्या भीष्म की ऐसी दशा नहीं हो गई थी ? अपनी भलमन-साहत का, प्रतिज्ञा-पालन का नशा तो उसे कहीं नहीं चढ़ गया था ? नशा चढ़ने-जैसा आत्म-विस्मरण तो भीष्म को नहीं हुआ; परन्तु सर्व-साधारण की दृष्टि में जो कठिन भूमिका उसने स्वीकार की थी और विशेष कारण न रहते हुए भी जो उत्तरदायित्व बाद में स्वीकार किया, उसे देखते तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि भीष्म प्रवाह-पतित की तरह बहता ही चला गया।

हमारे यहां, भारतवर्ष में, इस तरह का विचार दूसरे प्रसंगों में तो किया गया है, जैसे मोक्षार्थ किये गए प्रयत्न। यम, नियम, प्राणायाम, तप, इत्यादि साधनों के द्वारा मुमुक्षु जब आगे बढ़ता जाता है तब तप के फलस्वरूप उसे ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह सीढ़ी मोक्ष-मार्ग में एक बड़ी बाधा सिद्ध होती है। पर मनुष्य उसके चमत्कारों से अपने को 'धन्य' मानकर मोक्ष को भूल जाता है। ऐसी ही दशा आदर्शवादी व्यक्ति की हो जाती है। जब एक विशिष्ट भूमिका पर उसे सम्मान का पद और वाह-वाही मिलती है, तो वह अपनेको भूल जाता है और वह यह समझ बैठता है कि अब मेरे हाथ से बुरा कुछ हो ही नहीं सकता और फिर वह सावधान नहीं रहता। दूसरों के लिए वह धड़ाके से बिना-विचारे बहुत-से काम ऊट-पटांग कर डालता है। वही हाल

भीष्म का भी हुआ।

यह तो हम नहीं कह सकते कि भीष्म ने यह सबकुछ सत्यवती से बदला लेने के विचार से किया हो; क्योंकि महाभारत में ऐसा कहीं संकेत नहीं मिलता। दूसरे और जो बातें हुईं, जैसे विचित्रवीर्य का मरण, एक रानी के अन्धा, दूसरी के रोगी पुत्र का होना आदि, का ज्ञान भीष्म को पहले से नहीं था। घटनाएं घटती चली गईं और भीष्म संसार-जाल में लिपटता चला गया।

शिशुपाल ने राजसूय-यज्ञ के बाद भीष्म के लिए जो 'अग्रपूजा' के सम्मान का दावा किया था, वह अनुचित नहीं था। पर वहां भी भीष्म पीछे हट गया। उसने वह सम्मान कृष्ण को दिलाया। उसी भीष्म ने फिर युद्ध आने पर 'सेनापति-पद' क्यों स्वीकार कर लिया? इसका कोई कारण नहीं मिलता।

व्यासदेव पहले से ही जानते थे कि महाभारत में सर्वनाश हो जायगा, और इसीलिए उन्होंने सत्यवती से कहा था कि वह अपनी बहुओं के साथ संन्यास लेकर वन में चली जाय; और वह चली भी गई। परन्तु भीष्म तो उम्र में अपनी सौतेली मां से कहीं अधिक बड़ा था। यह रास्ता उसके लिए भी तो खुला था! बलराम भी तो तीर्थयात्रा के लिए गया ही न! फिर भीष्म क्यों पीछे रह गया?

भीष्म प्रसिद्ध महान् योद्धा था। महाभारत में भीष्म-पर्व के पहले कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि भीष्म ने कहीं कोई लड़ाई लड़ी हो। अम्बा के प्रसंग से परशुराम के साथ युद्ध होने का उल्लेख आता है; पर वह संभव है, वास्तविक रूप में हुआ ही न हो! परशुराम तो वैसे राम के भी पहले हुए हैं। परन्तु वह प्रत्येक युग में लाये जाते रहे हैं, इतना ही इसका अर्थ है। महाभारत में परशुराम का जो प्रसंग लाया गया है, वह खींच-तानकर दो योद्धाओं के पराभव का कारण बताने के खातिर ही मालूम होता है। कथावस्तु के लिए वह अनावश्यक प्रसंग है। इस कल्पित युद्ध को यदि छोड़ दें, तो फिर भीष्म के लड़ने का कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। पाण्डु वयस्क होने पर राजा हो गया। उसने दिग्विजय भी की। उस समय भी भीष्म पाण्डु के साथ लड़ने नहीं गया था। धर्मराज

के भाइयों ने जो दिग्विजय किया था, उसमें भी भीष्म ने कोई भाग नहीं लिया था। उसी भीष्म ने बुढ़ापे में फिर कौरवों के सेनापति-पद की लालसा क्यों की? बुढ़ापे में विराट राजा की गायें भगाने के षड्यंत्र में वह शामिल अवश्य हो गया था, परन्तु उस समय अकेले अर्जुन ने ही सबोंके साथ भीष्म-द्रोण को भी हराकर भगा दिया था।

महाभारत-युद्ध के समय भीष्म की आयु कम-से-कम ९० वर्ष से १०१ वर्ष की होनी चाहिए। आयु का हिसाब यों है—भीष्म के पिता शन्तनु ने जब मत्स्यगंधा से विवाह किया तब भीष्म युवराज था। धनुर्विद्या सीख चुका था। उस समय वह १६ साल का था। उसका पहला सौतेला भाई चित्रांगद एक व्यक्तिगत झगड़े में मारा गया। उससे छोटा भाई विचित्रवीर्य विवाह के समय कम-से-कम सोलह साल का होगा। ऐसा मान लें और वह सत्यवती के विवाह के दो साल बाद हुआ होगा ऐसा भी समझ लें तो विचित्रवीर्य की शादी में भीष्म की आयु ३४ वर्ष की बैठती है। उसके बाद तुरन्त ही विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई। तब कुरुवंश का उच्छेद न हो इस हेतु से सत्यवती ने यह इच्छा प्रदर्शित की कि भीष्म विवाह करले। परन्तु भीष्म ने उसे अस्वीकार कर दिया। तब व्यास के द्वारा विचित्रवीर्य की रानियों और दासी से नियोग के द्वारा धृतराष्ट्र आदि तीन पुत्र हुए। भीष्म की आयु धृतराष्ट्र के जन्म के समय ३५ और पाण्डु-जन्म के समय ३६ तो होगी ही। यदि यह मान लें कि पाण्डु का राज्याभिषेक और विवाह दोनों १६वें साल में हुए तो भी भीष्म की आयु उस समय ५२ वर्ष की हो जाती है। पाण्डु के हिमालय चले जाने के बाद धर्मराज का जन्म हुआ। मान लीजिए कि वह तुरंत ही एक वर्ष के बाद हुआ और उसके बाद एक वर्ष में ही भीम और अर्जुन का क्रमशः जन्म हुआ तो अर्जुन के जन्म के समय भीष्म की आयु ५५ वर्ष की होनी चाहिए।

विवाह के समय अर्जुन की आयु अपने पिता अथवा दादा के समान ही १६ वर्ष की होनी चाहिए। उसके द्वारा द्रुपद-पराभव आदि प्रसंगों से ऐसा पता चलता है। जब अर्जुन की आयु १६ वर्ष की थी, तो उस समय भीष्म की आयु ७१ वर्ष की हो जाती है। द्रौपदी-स्वयंवर के बाद पाण्डव इन्द्रप्रस्थ गये। वहां से अर्जुन पहले वनवास को गया। वनवास-

काल में ही उसने द्वारका जाकर सुभद्रा से विवाह किया। फिर इन्द्रप्रस्थ आया। बाद में उसके पुत्र अभिमन्यु का जन्म हुआ। अर्जुन का यह पहला वनवास १२ वर्ष का था, यह महाभारत से स्पष्ट है। उसकी जगह यदि उसे १२ महीने का भी मानकर चलें, तो अभिमन्यु अर्जुन के १८वें वर्ष में उत्पन्न हुआ, ऐसा समझना होगा। इन्द्रप्रस्थ में हुए 'राजसूय-यज्ञ' में जो पाण्डवों के वैभव का प्रदर्शन हुआ उससे चिढ़कर दुर्योधन ने भी एक यज्ञ किया। उससे भी संतुष्ट न होकर दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूत के लिए बुलाया। उसमें पाण्डवों ने अपना सर्वस्व खो दिया और वे वनवास को चले गये। उस समय अभिमन्यु तीन-एक साल का हो सकता है। वनवास और अज्ञातवास पूरा होने पर अभिमन्यु का विवाह उत्तरा से हुआ। उस समय अभिमन्यु की आयु १६ साल की, अर्जुन की ३४ साल की, और भीष्म की ८९ साल की सिद्ध होती है। अभिमन्यु के विवाह से युद्ध आरम्भ तक का समय एक साल मान लें, तो भारतीय युद्ध के समय भीष्म की आयु ९० वर्ष की होती है। और यदि अर्जुन का पहला वनवास १२ साल का मान लें तो १०१ वर्ष की होती है। यह कालगणना चारों ओर कम-से-कम वर्षों की गिनती करके की गई है। इससे कम भीष्म की आयु को आंकना किसी प्रकार संभव नही है। कौरवों में वह सबसे बड़ा था। उसके लिए बार-बार 'कुरुवृद्ध' और 'पितामह' ऐसे विशेषण लगाये जाते हैं। इतनी अधिक अवस्था में सेनापति-पद का आग्रह रखना, भीष्म के महाभारत-युद्ध तक के जीवन से विसंगत मालूम होता है।

भीष्म के पास दुर्योधन गया और बोला, 'आप हम सबमें वयोवृद्ध हैं और प्रसिद्ध योद्धा भी। अतः आप हमारी सेना का सेनापति-पद ग्रहण करें।'

भीष्म ने अपना सबकुछ त्याग दिया, पर साथ ही एक बहुत बड़ी जवाबदेही अपने सिर पर ले ली। वह थी कुरु-कुल का रक्षण। उस रक्षा-कार्य में उसे किसीसे कोई युद्ध नहीं करना पड़ा। सिर्फ दो पीढ़ियों की सार-संभाल करनी पड़ी—संसार-भार संभालना पड़ा। उसने अपने से छोटों की सार-संभाल की। अंधे और अपंग तक के विवाह करा दिये। पाण्डव और धार्तराष्ट्रों के अल्पवयस्क होते हुए—तीन पीढ़ियों में पहली बार ही

हस्तिनापुर के राजवंश में तरुण राजपुत्रों का जन्म हो जाने पर—उनके संगोपन और उन्हें शस्त्रविद्या सिखाने की उसने व्यवस्था की। इस तरह दो पीढ़ियों तक लगातार उसने अपना प्रभाव कायम रक्खा। उसके प्रभाव व अधिकार को पहली शह मिली शकुनि के आने से; शकुनि अपने अंधे जीजा और आंख पर पट्टी बंधी अपनी बहिन के हित का बराबर ध्यान रखता था। यदि शकुनि न आया होता, तो भीष्म ने अपनी सत्ता या बल के प्रभाव से राज्य का बंटवारा कर दिया होता। पर कुरुवंश के ये राज-पुत्र जैसे-जैसे बड़े हुए वैसे-वैसे आपस का झगड़ा भी बढ़ने लगा और यहां तक नौबत आ गई कि अब युद्ध के बिना यह झगड़ा समाप्त नहीं हो सकता था। यदि सचमुच ही ये सब बेटे-नाती भीष्म के ही होते तब तो संभव था कि वह भी सत्यवती की तरह वन में चला गया होता। जो संसार अपना निज का होता है उसमें से मन हटा लेना फिर भी आसान होता है। परन्तु दूसरों का उत्तरदायित्व लेने के बाद मन अधिक ही लिप्त होता जाता है। बुढ़ापा आने पर बेटे-बेटी कोने में बिठाना चाहते हैं, ऐसी अवस्था में हमें खुद स्वतः होकर किनारा करने की बुद्धिमानी सूझती है। परन्तु जिन्होंने देश, संस्था या जनसेवा के लिए अपना जीवन अर्पण किया, उनमें से बहुधा लोग वानप्रस्थ लेते दिखाई नहीं देते। अपना स्वतः का गृह-संसार न छोड़ें, तो लोग निन्दा करते हैं; कहते कि बुड्ढे से लोभ नहीं छूटता। परन्तु अपने स्वार्थ और संसार को तिलांजलि देकर यदि हमने दूसरों का जिम्मा ले लिया, तो फिर वह बन्धन, बन्धन नहीं रह जाता है, दायित्व आ जाता है। भीष्म ने यह दायित्व अपने ऊपर लिया था कि जबतक शरीर में प्राण हैं, तबतक अपने परिवार का भार उठाना ही उचित है। इसलिए सेनापति-पद ग्रहण कर, कर्ण का जी दुखा-कर—उसे एक और धक्का देने में भी उसका यही हेतु था।

अपनी आज्ञा का पालन न करनेवाले पुत्र को राजा दण्ड दे सकता था। परन्तु भीष्म के लिए यह संभव नहीं था। जब सत्यवती के पुत्र मर गये तब उसने भीष्म से आग्रह किया था कि तुम अपनी प्रतिज्ञा एक ओर रखकर राजगद्दी संभालो। ऐसी दशा में यदि भीष्म के मन में कुरुकुल के प्रति इतना प्रेम था, तो उन्होंने सत्यवती की बात क्यों न मानली? शिशु-

पाल ने बिलकुल यही सवाल किया था। इससे पहले कर्तव्य-पालन के संबंध में जो कहा गया वह यहां भी लागू होता है। भीष्म ने एक बहुत बड़ी प्रतिज्ञा करके अपने पिता और दूसरों के द्वारा अतुलित प्रशंसा प्राप्त की थी। उसका एक निराला ही व्यक्तित्व बन गया था। लोगों के दिलों में उसने कुछ आशा-अपेक्षाएं पैदा कर दी थीं। इन सबको पूरा करना उनके लिए लाजिमी था। ब्रह्मचर्य की शपथ लेने से कैथोलिक मठ में प्रवेश करने जैसी स्थिति उसकी हो गई थी। शपथ यदि मन में की गई हो तब तो वह तोड़ी जा सकती है, परन्तु यदि जन-समाज में उसका एक दृश्य उपस्थित किया गया हो तो फिर उससे चिपके रहना अनिवार्य हो जाता है। उसी तरह हमने स्वतः अपनी जो एक भूमिका तैयार करली होती है, वह अपने से होकर नहीं छोड़ी जा सकती। उस भूमिका को निभाने का जोर अपने भीतर और बाहर दोनों तरफ से पड़ता है। जिस किसी कार्य के उद्देश्य से वह भूमिका हमने स्वीकार की थी, उसका पोषण न होकर उसके द्वारा सर्वनाश हो रहा है, यह दिखाई देते हुए भी मनुष्य उस भूमिका को नहीं छोड़ सकता। गान्धारी का आंख पर पट्टी बांधना, भीष्म का ब्रह्मचर्य, राम का वनवास, आदि अनेक उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं। उस समय प्रतिज्ञा-पालन एक बहुत बड़ा गुण बन गया था। जिस उद्देश्य से प्रतिज्ञा की जाती थी, उसका खयाल शिथिल पड़ गया था। पति के मरने पर सती होने का कर्तव्य भी इसी तरह बहुतों पर एक समाजिक दबाव के कारण लादा गया होना चाहिए। अमुक आचार की पृष्ठभूमि क्या थी? उसमें हमने क्या उपलब्धि की? किन मूल्यों की रक्षा की? यह विचार बाद के टीकाकारों के लिए तो आसान है, पर उस समय में जो लोग प्रत्यक्ष उस भूमिका को निभाते हैं, उनके लिए यह संभव नहीं होता। उस भूमिका की निश्चितता में एक प्रकार की प्रवाह-पतितता होती है। कहीं ऐसा ही हाल भीष्म का भी न हुआ हो! ऐसी घटनाओं के कारण ही अतिमानुष व्यक्ति भी दुर्बल व छोटा मालूम पड़ने लगता है।

दुर्योधन को युद्धों में प्रोत्साहन देने और दृढ़ता से उसका पक्ष लेने-वाले तीन व्यक्ति थे—शकुनि, दुःशासन और कर्ण। इनमें से पहले दो को

हटाना तो भीष्म के लिए संभव न हुआ। परन्तु उसने तरकीब से कर्ण को एक ओर हटा दिया और वह दस दिन तक ढीली-ढाली लड़ाई का खेल करता रहा। पाण्डवों ने उसे कुलवृद्ध होने का जो गौरव नहीं दिया, उसकी खानापूरी दुर्योधन ने कर दी। उसे यह भी लगा तो होगा कि शायद भीष्म इस सम्मान को स्वीकार न करेगा, परन्तु भीष्म ने तुरंत ही 'हां' करके सेनापति-पद स्वीकार कर लिया। इससे भीष्म के मरने तक दुर्योधन के हाथ-पांव बंध गये। कुलवृद्ध होने के कारण पाण्डवों के लिए भी भीष्म अवध्य ही था। उससे लड़ना कठिन तो नहीं था, परन्तु उसके रिश्ते और आयु को देखते हुए वह असंभव-सा हो गया था। भीष्म का प्रयत्न यह था कि एक ओर से दुर्योधन को और दूसरी ओर से पाण्डवों को पेंच में डालकर जहांतक हो सके युद्ध को टाला जाय और सचमुच ही भीष्म ने बड़े कौशल से काम लिया था। उसका यह सोचना बिलकुल ठीक था कि पाण्डव उसे तो मार नहीं सकेंगे। यों दुर्योधन और उसके भाई-भतीजे तथा दूसरे रिश्तेदारों का सफाया करने में पाण्डवों को कोई कठिनाई मालूम हुई हो, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। अर्जुन के सामने मुख्य प्रश्न इनका नहीं था। वह तो भीष्म और द्रोण का था। उसका आक्रोश तो यह था—"कथं भीष्ममहं संख्ये, द्रोणंच मधुसूदन। इशुभिः प्रतिच्योत्स्यामि" श्रीकृष्ण ने जो इतनी गीता सुनाई, वह इस एक बात में निरर्थक हो गई। पाण्डवों के लिए भीष्म अवध्य थे, परन्तु अपने अन्य रिश्तेदार नहीं। भीष्म के वध के लिए शिखण्डी का जन्म हुआ था और पिता को पराजित करके आधा राज्य छीननेवाले द्रोण से बदला लेने के लिए धृष्टद्युम्न पैदा हुआ था। दोनों ने अपने निर्दिष्ट कर्तव्य को पूरा किया।

अर्जुन के द्वारा भीष्म का वध हो, इसके लिए कृष्ण ने अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी। महाभारत में बताया गया है कि दो बार (तीसरे और नवें दिन) खुद उसने भीष्म पर आक्रमण किया। इन दो में पहली घटना तो स्पष्टतः ही पीछे से जोड़ी हुई है। नवें दिन अलबत्ते कृष्ण हाथ में चाबुक लेकर दौड़ा और भीष्म पर टूट पड़ा। अर्जुन ने इसके पैर पकड़े बड़ी मिन्नतों से लौटाया और 'मैं भीष्म को मारूंगा तो नहीं, परन्तु रथ से नीचे तो अवश्य गिरा दूंगा'—ऐसा वचन उसने युधिष्ठिर और कृष्ण

को दिया। और दसवें दिन उसने ऐसा करके भी दिखा दिया। एक बड़े योद्धा के रूप में भीष्म की ख्याति थी और उसकी आकांक्षा भी यह थी कि वह किसी महान वीर के हाथों ही घायल होकर गिराया जाय। वह महान वीर अर्जुन होगा, इसी बात से अर्जुन बचना चाहता था। परन्तु अंत में नौ दिन तक लड़ाई लड़ने के बाद तंग आकर उसे भीष्म को यह गौरव देना ही पड़ा। शिखण्डी के साथ-साथ उसे भी भीष्म पर बाण-वर्षा करनी पड़ी और भीष्म को भी यह कहने का अवसर उसे देना पड़ा कि ये जो पैने बाण मुझपर छोड़े जा रहे हैं, शिखण्डी के नहीं अर्जुन के हैं।

युद्ध अठारह दिन चला। उनमें पहले दस दिन तक तो युद्ध नहीं के बराबर ही हुआ। इन दस दिनों का हाल यदि देखें, तो स्पष्ट होता है कि भीष्म इन दिनों में युद्ध रोकने का ही प्रयत्न करता रहा था। इसके प्रमाण स्वरूप ज़रा प्रतिदिन होनेवाले युद्ध का वर्णन देखिये—

पहला दिन—कौरवों की विशाल सेना देखकर युधिष्ठिर को निराशा होती है और अर्जुन उसे धीरज बंधाता है। परन्तु ऐन शुरुआत के मौके पर अर्जुन के ही हाथ-पांव ठंडे हो जाते हैं, तब कृष्ण गीता का ज्ञान देकर उसे धीरज बंधाता है। युधिष्ठिर कौरव-सेना में जाकर भीष्म और द्रोण को नमस्कार करके आ जाता है। युयुत्सु पाण्डवों में मिल जाता है। भारी युद्ध होता है, उत्तर मारा जाता है और पहले दिन विजय का पलड़ा कौरवों की ओर भारी रहता है।

दूसरा दिन—अर्जुन, भीष्म, द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि युद्ध करते हैं। कलिंगराज और उसके लड़के को भीम मार डालता है। पाण्डवों के लिए दिन अच्छा था।

तीसरा दिन—भीम दुर्योधन को मूर्छित कर देता है। सारथी दुर्योधन को रथ में बैठाकर रणभूमि से भगा लाता है। कौरवों की सेना पीछे हटने लगती है। दुर्योधन होश में आकर अपनी सेना को संभालता है और भीष्म को कोसता है। तब भीष्म कहता है, पाण्डव अजेय हैं। पर मैं अपनी ओर से उनका नाश करने में कसर नहीं रखूंगा और भीष्म ऐसा करता भी है। कृष्ण युद्ध में सुस्ती करने का दोष अर्जुन पर लगाकर रथ से नीचे

कूदकर चक्र के द्वारा भीष्म को मारना चाहता है, पर अर्जुन उसे वापस लौटा लाता है। कुल मिलाकर पाण्डवों की जय का दिन!

चौथा दिन—दोनों ओर से वीर जी-जान से लड़ते हैं। कुल मिलाकर दिन पाण्डवों के लिए अच्छा रहा। रात को दुर्योधन भीष्म को बुरा-भला कहता है। भीष्म पाण्डवों के, विशेषकर कृष्ण और अर्जुन के दैवी अजेयत्व का वर्णन करके दुर्योधन से कहता है कि अच्छा हो कि वह युद्ध बन्द कर दे।

पांचवां दिन—रोज की तरह युद्ध होता है। किसीकी भी कोई खास विजय नहीं।

छठा दिन—पांचवें दिन के अनुसार ही रहा।

सातवां दिन—शुरूआत में दुर्योधन भीष्म को बहुत बुरा-भला कहता है। भीष्म वही निश्चित उत्तर देता है—'पाण्डव अजेय हैं, परन्तु मैं कोई कसर नहीं रक्खूंगा।' घमासान लड़ाई होती है। युधिष्ठिर शिखण्डी को फटकारता है कि अभी तक उसने भीष्म को मारा नहीं। यह दिन भी छठे दिन की ही तरह जाता है।

आठवां दिन—प्राणपण से युद्ध होता है। कौरवों की ओर से शकुनि के पुत्र और पाण्डवों की ओर से इरावत मारे जाते हैं। भीम धृतराष्ट्र के पन्द्रह-सोलह लड़कों को मार डालता है। घमासान युद्ध चलते-चलते शाम हो जाती है और युद्ध दूसरे दिन के लिए स्थगित हो जाता है। रात को दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि तथा कर्ण परामर्श करते हैं। कर्ण कहता है कि भीष्म को युद्ध से हटा दो। दुर्योधन अपने भाई को लेकर भीष्म के पास जाता है और निश्चयात्मक भाषा बोलता है। भीष्म फिर वही पाण्डवों की अजेयता का सुर अलापता है, परन्तु प्राणपण से लड़ने का वचन देता है।

नवां दिन—भीष्म जोर-शोर से लड़ता है। अर्जुन फिर कमजोर पड़ता है, यह देखकर कृष्ण गुस्से से चाबुक लेकर भीष्म पर आक्रमण करता है और अर्जुन उसे फिर वापस लौटता है। युद्ध समाप्त है। कुल मिलाकर यह दिन कौरवों के लिए अच्छा जाता है। रात को पाण्डवों ने मंत्रणा की और भीष्म से जाकर पूछते हैं कि आपकी मृत्यु कैसे होगी? वह कहता है

शिखण्डी को आगे कर दो। कृष्ण अर्जुन को समझाता है कि अच्छा भीष्म को तुम मारो मत, सिर्फ रथ से नीचे गिरा दो। अर्जुन लज्जा से यह प्रयत्न करना मंजूर करता है।

दसवां दिन—शिखण्डी भीष्म पर बाण वर्षा करता है। उसके पीछे से अर्जुन बाण छोड़कर भीष्म के कवच को तोड़ देता है। अन्तिम बाण भीष्म के सिर पर लगता है और भीष्म रथ के नीचे बाणों के ढेर पर पड़ जाता है, पृथ्वी से उसका शरीर नहीं लगने पाता।

भीष्म के रथ के नजदीक ही अथवा रथ में दुःशासन रहता है और भीष्म अन्त तक उससे बातचीत करता रहता है।

युद्ध अस्थायी रूप से बन्द हो जाता है। भीष्म फिर दुर्योधन से कहता हैं 'मेरे मरने के फलस्वरूप तुम आपस का बैर मिटा दो और पाण्डवों से संधि कर लो।' अन्त में सब लोगों के चले जाने पर कर्ण भीष्म के पास जाता है। भीष्म कर्ण को पाण्डवों की तरफ मिल जाने को कहता है, परन्तु कर्ण उसे स्वीकार नहीं करता।

कुल मिलाकर युद्ध अठारह दिन चला। उसमें दस दिन तो ऐसी ही ढीली-ढाली लड़ाई होती रही। इनमें बहुत दिनों तक भीष्म दुर्योधन से यही कहता रहा कि युद्ध बन्द करो। अन्त में अपने प्राणों की कीमत चुकाकर भी उसने युद्ध रोकने का अन्तिम प्रयत्न किया, किन्तु वह भी व्यर्थ गया।

इन दस दिनों के वर्णन में कहीं-कहीं निश्चित विसंगतियां हैं। शिखण्डी की कथा युधिष्ठिर को मालूम होनी चाहिए, क्योंकि शिखण्डी दो बार भीष्म से लड़ने आया था। सब लोग यह जानते थे कि भीष्म उससे लड़ेगा नहीं। एक दिन पहले ही युधिष्ठिर ने शिखण्डी को उकसाया था कि तुम भीष्म को मारते क्यों नहीं? ऐसी स्थिति में भीष्म के पास जाकर यह बचकाना प्रश्न करना कि तुम कैसे मरोगे, अनावश्यक-सा लगता है। शायद भीष्म अजेय है, इस धारणा को अन्त तक निभाने के लिए ही यह प्रयत्न था। इस अतिवृद्ध को मारना सभीको भारी पड़ रहा था। भीष्म यह गौरव चाहता था कि वह मारा भी जाय, तो अर्जुन जैसे प्रथम कोटि के योद्धा के हाथों ही। कौरवों के पक्ष से भीष्म को हटाना कठिन

था। पाण्डवों की ओर से दिखने के लिए ही क्यों न हो, अर्जुन को भीष्म के खिलाफ खड़ा करना भी कठिन था। दोनों ओर से भीष्म एक समस्या ही बन गया था।

तीसरे दिन कृष्ण रथ से कूदकर सुदर्शन चक्र घुमाकर दौड़ा, यह प्रकरण बाद में जोड़ा गया मालूम होता है। नवें दिन वह चाबुक लेकर दौड़ पड़ा, यह प्रकरण ठीक जगह पर आया है और वह सारा प्रसंग ही महाभारत की कथा-पद्धति के अनुसार ही सजाया गया है। थोड़े में कहें तो वह उस काल की परिस्थिति के अनुरूप ही था।

तीसरे दिन का प्रसंग बहुत काव्यमय और अत्युक्तिपूर्ण है। उसमें उसका बहुत-सा भाग कृष्ण के ईश्वरत्व का वर्णन करने में ही खर्च किया गया है। कृष्ण ने इतना आग्रह किया, तो भी कहना पड़ता है कि अर्जुन पर उसका कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि वह जो भीष्म के खिलाफ खड़ा हुआ सो उसके छठे दिन। यह विसंगति नवें दिन के प्रसंग में नहीं है। भीष्म इस बात को जानता है कि मरे बिना गति नहीं है। इधर अर्जुन भी समझता था कि मारने के लिए कटिबद्ध होना ही पड़ेगा। और दसवें दिन भीष्म घायल होकर गिर ही पड़ता है।

सारा भीष्म-पर्व ही बड़ा विलक्षण है। शुरुआत में ही भीष्म के सेनापति बनने पर दुर्योधन ने यह आदेश दिया था कि सब मिलकर भीष्म की रक्षा करें।

युद्ध का जो वर्णन मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि एक योद्धा से दूसरे योद्धा का परस्पर जैसा युद्ध होता है उसी तरह कई योद्धाओं के समूह दूसरे समूह से लड़ते हैं।

मुख्य योद्धा दो रथों में बैठते हैं और उनकी रक्षा करनेवाले दूसरे अनेक लोग होते हैं। उदाहरण के लिए जब शिखण्डी 'लड़ रहा था, तो उसकी रक्षा के लिए इस प्रकार व्यवस्था थी कि अर्जुन तो रथ के बांये पहिए की ओर रहे और युधामन्यु दायीं ओर। उत्तमौजा और खुद अर्जुन शिखंडी की रक्षा कर रहा था। इसी तरह उधर दुर्योधन ने दुःशासन को सचेत किया था कि सब मिलकर भीष्म के रथ की रक्षा करें। उसने कहा था कि रथ ऐसा तैयार रक्खो कि जिससे भीष्म की रक्षा हो सके और खास

करके भीष्म की रक्षा होती रहे तथा शिखण्डी का वध (जिसपर कि भीष्म शर चलानेवाले नहीं थे) तुम्हारा लक्ष्य हो। खुद दुर्योधन के पुत्र भीष्म के पीछे की ओर से रक्षा कर रहे थे, ऐसा भी एक श्लोक में कहा गया है। इसके सिवाय यह भी उल्लेख है कि विभिन्न देशों के राजा और सैनिक भीष्म के चारों ओर रहकर उसकी रक्षा कर रहे थे। ऐसी दशा में भीष्म रथ में खामोश रहता है। शिखण्डी उसपर बाणों की वर्षा कर रहा है—अथवा शिखण्डी के पीछे से अर्जुन बाण चलाता है। भीष्म उन बाणों से घायल होकर प्रतिकार न करते हुए गिर पड़ता है। यह चित्र सारे वर्णन से एकदम असंगत लगता है।

अंतिम दिन भीष्म के रथ और भीष्म की रक्षा करनेवाला कोई दिखाई नहीं देता। भीष्म अन्त तक दुःशासन से बात कर रहा था। ऐसे समय दुःशासन क्या कर रहा था? क्या सभीको भीष्म का अस्तित्व अखर रहा था?

भीष्म सभी दृष्टियों से अभागा रहा। वह मारा नहीं गया। जख्मी होकर गिर पड़ा। एक तो भीष्म 'इच्छामरणी' था। उत्तरायण सूर्य होने से पहले वह मरना नहीं चाहता था। दूसरे, कृष्ण ने अर्जुन को समझाया था कि भीष्म को अब मारने की जरूरत नहीं। तुम उसे केवल रथ से नीचे गिरा दो। अर्थात् भीष्म पर जो बाण वर्षा हुई वह उसे मारने के लिए नहीं, बल्कि रथ से नीचे गिराने की दृष्टि से ही थी।

भीष्म ने जिस कुल की रक्षा के लिए जन्म-भर प्रयत्न किया, उसे जीवित रहकर और हाथ-पर-हाथ रक्खे हुए आधे से अधिक नष्ट होते हुए देखते रहना पड़ा। भीष्म अजेय नहीं, पर अवध्य था। दूसरे शूरवीरों की तरह तत्काल मृत्यु भी उसकी तकदीर में नहीं थी। शर-शैया पर पड़े-पड़े अपनी आंखों से उसे यह सारा संहार देखना पड़ा। अपने कानों से कुरु-स्त्रियों का क्रन्दन सुनना पड़ा। इतनी विडम्बना कम थी, शायद इसीलिए महाभारत का आगे का संस्करण करनेवालों ने शान्ति-पर्व का लम्बा-चौड़ा वर्णन उसके मुंह से करवाया।

फिर भी यह प्रश्न, कि भीष्म ने प्रतिज्ञा-पालन के द्वारा क्या हासिल किया, शेष रह ही जाता है।

दो

गान्धारी

पर्वतीय प्रदेश समाप्त हो गया था और भारत का विशाल मैदान—असीम, जी उबानेवाला मैदान—आ गया था। रास्ते में कोई रुकावट यदि थी तो वह नदियों की ही पड़ती थी, वरना बीच-बीच में अरण्य—सघन वन आता रहता। कभी-कभी रथ में बैठकर, कभी पैदल चलकर और कभी शिविका (पालकी) में राजकन्या की यात्रा हो रही थी। उसके साथ सहेली के तौर पर उससे उम्र में कुछ बड़ी उसकी एक दासी थी।[1]

पीहर से रवाना होते हुए राजकन्या को उसीने सांत्वना दी। नाना प्रकार की कथाएं कहकर, रास्ते में पड़नेवाले रमणीय दृश्यों को दिखाकर वह गान्धारी का चित्त प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती रहती थी। घर के और कोई लोग साथ नहीं थे। अलबत्ता राजपुत्र, उसका भाई शकुनि साथ था। वह भी बीच-बीच में अपनी बहिन का हाल-चाल पूछता रहता था। गांधार-सम्बन्धी विचार धीरे-धीरे मन्द होते जाते थे और राजकन्या का मन हस्तिनापुर की कल्पना में रंगता जाता था, जिसे देखने

१. इस अध्याय में जिन घटनाओं का वर्णन है, उनमें सिर्फ नीचे लिखी बातें ही महाभारत की संशोधित प्रति में मिलती हैं :

(१) पति अन्धा था, इसलिए गान्धारी ने अपनी आंख पर पट्टी बांध ली।

(२) गांधारी के अनेक पुत्र हुए और वे सब युद्ध में मारे गये।

(३) गांधारी, कुन्ती और धृतराष्ट्र ये सब वन की आग में जलकर मर गये।

इस अध्याय में बताये अनुसार महाभारत में विदुर की मृत्यु इन तीनों के साथ न होकर इनके पहले ही हो चुकी थी।

की उसे अभिलाषा थी। हस्तिनापुर के लोग जब राजकन्या की मांग करने के लिए आये, तो उन्होंने शगुन के समय जो कुछ दिया उससे सबकी आंखें चौंधिया गईं थीं। उनके रथ, उनकी वेशभूषा, सभी मूल्यवान थे। बोलचाल भी मधुर और नगरोचित थी। अबतक तो साथ आनेवाले लोगों में गांधार की अपेक्षा हस्तिनापुर का ही परिवार बड़ा था। यात्रा इतनी लम्बी और इतनी तेजी से हो रही थी कि अन्त में यात्रा के श्रम से, शरीर के साथ-ही-साथ राजकन्या का मन भी थकने लगा था। लगता था कि कब यह यात्रा समाप्त हो।

अन्त में यात्रा समाप्त हुई। हस्तिनापुर से भीष्म ने आकर गन्धार की राजकन्या का स्वागत किया। राजधानी के मार्ग में दोनों ओर खड़े होकर लोगों ने उसका सत्कार किया। परन्तु इस सजावट, समारंभ और सत्कार की ओर ध्यान देने की शक्ति राजकन्या में नहीं रह गई थी। उसके लिए किये गए निश्चित भवन में वह दाखिल हुई। दो दिन वह म्लान होकर पड़ी ही रही, परन्तु उसकी सखी राजपरिवार में इधर-उधर जाकर कौरवों के वैभव का नित्य नया वर्णन उसे सुनाती जाती थी। यह जानकर कि गान्धार-राजपुत्र शकुनि सदा के लिए हस्तिनापुर में ही रहनेवाला है, गान्धारी चकित हो गई। बड़ा भाई राजगद्दी पर बैठता है और छोटा भाई दूसरे राज्यों में जाकर कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त करता है, उस समय के ऐसे कई उदाहरण उसे मालूम थे। अतः इतनी दूर आ जाने पर भी पीहर का सम्बन्ध टूटा नहीं, कम-से-कम भाई साथ है—इस ख़याल से ही उसे बड़ा संतोष मिला।

दासी ने आकर जब शकुनि के नये राजमहल का वर्णन किया तब तो उसे अपनी ससुराल की सम्पत्ति पर गर्व होने लगा। एक संध्या को वह अपने भवन की छत पर खड़ी होकर नीचे जगमगाती सुन्दर राजधानी और उसके आसपास के उपवन तथा जमुना-तटीय विशाल अरण्य को देख रही थी। गन्धार में तो इतना बड़ा, चौड़ा, सपाट प्रदेश उसने कभी देखा ही नहीं था। उसके पिता के राजमहल से यहां के राजमहल भी बहुत विशाल थे। पितृगृह की स्मृति उसे कम होती जाती थी। ससुराल के रानीपद के वैभव में उसका मन मुग्ध हो रहा था। इतने में ही उसकी

सखी आई और गांधारी उसकी ओर उत्सुकताभरी नज़र से देखने लगी। आज वह कौन-सी नई बात सुनाने जा रही है ? परन्तु आज का दृश्य कुछ भिन्न ही था। आज दासी सदा की तरह हँसती हुई चंचल गति से नहीं आ रही थी। उसका चेहरा फीका पड़ गया था। वह कुछ लड़खड़ाती हुई-सी आ रही थी। शायद उसकी तबीयत ठीक नहीं है, ऐसा समझकर राजकन्या मिलने दो कदम आगे बढ़ी ही थी कि उसकी सखी जल्दी से लपककर आगे बढ़ी और उसने राजकन्या के हाथ जोर से कसकर पकड़ लिये और बड़ी कठिनता से जैसे-तैसे उसके मुख से शब्द निकले—"बड़ा धोखा हो गया, बहन, बहुत बड़ा धोखा हो गया ! जिस राजपुत्र से तेरा विवाह होनेवाला है, वह तो जन्मांध है।" थोड़ी देर तक तो दासी के शब्दों का अर्थ राजकन्या गांधारी समझ ही न पाई। पर दूसरे ही क्षण वह पछाड़ खाकर जमीन पर गिर गई और बेहोश हो गई।

× × ×

अपनी सनेत्र धर्मपत्नी अंधे की लाठी होकर रहेगी, ऐसी आशा अगर धृतराष्ट्र ने रखी हो तो वह समूल नष्ट हो गई, क्योंकि यह मालूम होते ही कि उसका पति अन्धा है, गान्धारी ने अपनी आंखों पर कपड़े से कसकर पट्टी बांध ली। पट्टी बांध लेने पर भी गृह-संसार में जो होना था, वह रुका थोड़े ही ! गान्धारी को अनेक पुत्र हुए। कौरव-पाण्डवों के युद्ध में वे सबके-सब मारे गये। सबसे बड़ा दुर्योधन ही अन्त तक जीवित रहा। पर बाद में उसके भी मारे जाने की खबर दूत ने आकर उसे दी।

× × ×

गान्धारी अपने भवन के कक्ष में बैठी हुई थी। उसकी सखी उसके पीछे खड़ी धीरे-धीरे उसके बालों को सहला रही थी। अपने आंसू पोंछती हुई वह गान्धारी को सांत्वना देने का प्रयास कर रही थी—'धीरज रक्खो, राजकन्या !' इस समय गान्धारी केवल माता ही नहीं थी, दादी भी हो चुकी थी। तब भी सखी के मुख से गान्धारी के पितृगृह का संबोधन 'राजकन्या' ही याद आया। उसने यह कह तो दिया कि

'धीरज रक्खो', पर खुद उसीने यह महसूस भी किया कि वह क्या पागल की तरह यह कह रही है। बेचारी किस आधार पर धीरज रक्खेगी ? सब पुत्र मारे गये थे। केवल एक दुर्योधन के कारण वह पुत्रवती रह गई थी, सनाथ कहलाती थी। अबतक तमाम दुःखों और कष्टों को पीकर वह सीना तानकर खड़ी रह सकती थी। अब वह क्या करेगी ? सखी फिर बोली, "गान्धारी, अब शान्ति रखो।" एक लम्बी सांस लेकर गान्धारी ने कहा, "सखि, मन की उथल-पुथल के लिए अब कोई कारण ही नहीं बचा। पुत्र होने पर तुम समझ रही होगी कि इतने पुत्रों की माता होने का सुख तो गान्धारी को मिला ! पर ऐसा था नहीं। लड़कों को ज़रा कहीं कुछ हुआ नहीं कि मेरा कलेजा धड़क उठता था। उनका रोना सुना नहीं कि मेरा जी खलबला उठता। रथों की दौड़-होड़ में मैं सुनती कि वे जीते नहीं तो मेरा चित्त उदास हो जाता। उस घोष-यात्रा में उनकी जो फजीहत हुई, वह मैंने खुद देखीं थी। उस समय उन्हें जितना दुःख नहीं हुआ था, उतना मुझे हुआ था। जब सीमा के निकटवाले गांव में उन्होंने पाण्डवों को भेजा था तब वे पांचों भाई दीन वाणी से मुझे नमस्कार करने आये थे। तब मैंने ऊपरी मन से उन्हें आशीर्वाद तो दिया, परन्तु मन में लग रहा था कि अब मेरे पुत्रों का मार्ग निष्कंटक हो गया। युद्ध शुरू होने से पहले सभा में जाकर मैंने पुत्रों को उपदेश दिया था कि लड़ाई मत करो। वह भी मैंने तुम्हारी प्रेरणा से किया था। परन्तु मेरे मन में तो यह था कि हस्तिनापुर का राजपद तो मेरे पुत्रों के पास ही रहना चाहिए। उसके बाद ज्यों-ज्यों एक-एक दिन बीतता त्यों-ही-त्यों मेरे मन में यह आशंका उठती रहती कि आज कैसी खबर कानों में पड़ती है। जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, मैं अपने मन से प्रश्न पूछने लगी, अब कितने बाकी रहे ? एक-एक पुत्र मेरे लिए एक-एक दुःख ही होकर रहा। अपना जीवन जैसा मेरे लिए कुछ बचा ही नहीं था। उनके सुख के क्षण, वे मेरे सुख के क्षण; उनके दुःख के क्षण, सो मेरे दुःख के क्षण। इसी तरह अबतक का सारा जीवन बीता।" यह कहते-कहते गान्धारी का स्वर कुछ तेज हो गया। सखी इससे कुछ सहम गई। उसने फिर व्याकुल मन से कहा—"बहन, शांति रक्खो, धीरज धारण करो।"

गान्धारी ने तुरन्त ही उत्तर दिया, "अरे यही तो मैं तुझसे कहने जा रही हूं कि आज मैं बिल्कुल शान्त हो गई हूं। अब मेरा मन न किसीकी विजय से फूलेगा, न किसीकी पराजय से म्लान होगा। किसका क्या होगा, इस चिन्ता से अब मेरा मन नीचे-ऊपर नहीं हो सकता। अब मन को हमेशा के लिए शान्ति मिल गई। न किसी बात की अपेक्षा है, न किसी बात का भय।" वह यह कह ही रही थी कि अपने दुःखों को पीकर धृतराष्ट्र स्वयं प्रतिहारी का हाथ पकड़कर गान्धारी को सांत्वना देने के लिए उसके भवन के द्वार तक आ गया। दरवाजे से ही उसने पुकारा, "गान्धारी, ओ गान्धारी !" गान्धारी का अंतिम वाक्य पूरा हुआ ही नहीं था कि उसने यह आवाज सुनी और धृतराष्ट्र के शब्द सुनते ही उसे भान हो गया कि अभी वह जो-कुछ कह रही थी, उसके वे शब्द कितने मिथ्या थे ! जबतक उसका अंधा पति जीवित है तबतक उसका मन सुख-दुःख से परे कैसे हो सकता है ? और यह भान होते ही वह एकाएक व्याकुल होकर उठी और धृतराष्ट्र से बोलने को मुख खोला। उसके मुख से कुछ अस्फुट शब्द किसी तरह निकले ही थे कि वह बेहोश हो गई और लड़खड़ाकर गिर पड़ी। जीवन में दूसरी बार वह बेहोश होकर गिरी थी।

महारानी के बेहोश होकर गिर जाने से सब परिजन इधर-उधर भागने लगे। प्रतिहारी भी राजा का हाथ छोड़कर गान्धारी को संभालने दौड़ा। गान्धारी के कक्ष में कदम धृतराष्ट्र ने रखे ही थे कि उसे आस-पास कुछ शोर सुनाई दिया, परन्तु हुआ क्या है, यह उसे मालूम नहीं हो पा रहा था। अपनी दृष्टिहीन आंखें वह इधर-उधर घुमाता हुआ दीन, असहाय-सा पूछने लगा "क्या हुआ ? क्या हुआ ?"

× × ×

हिमालय की तराई में बनी पर्णकुटियों को छोड़कर आज सब लोग पर्वत पर जाने के लिए चल पड़े थे। नीचे की पर्णकुटी में उनकी सेवा के लिए दास-दासी रहते थे। आसपास अन्य तपस्वियों की झोंपड़ियां थीं। युधिष्ठिर आदि राजपुत्र दो-एक बार आकर उनसे मिल गये थे। कुल मिलाकर जीवन शान्त और स्वस्थ ही बीत रहा था। धृतराष्ट्र,

गान्धारी, विदुर और कुन्ती इन चारों के दिन एक-एक करके कट रहे थे। विदुर, धृतराष्ट्र और दूसरे तपस्वियों के बीच किसी-न-किसी विषय पर वार्तालाप-चर्चा चलती रहती थी और गान्धारी तथा कुन्ती सुनती रहती थीं। ऊपर से दिखाई देनेवाले शान्त जीवन में हस्तिनापुर से जब कोई मेहमान आ जाते, तो कुछ लहरें उठ आतीं, और राजपुत्रों तथा राज-परिवारों के लोगों से वह सारा स्थान भर जाता था। राजपुत्र आकर जब बड़ों के चरणों में प्रणाम करते, तो प्रत्येक के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाओं की लहर उठती थी। वे लोग मिल-मिलाकर जब लौट जाते तो बाहर का वातावरण तो शान्त हो जाता, किन्तु भीतर की खलबली शान्त होने में कुछ समय लग जाता। आज ही हस्तिनापुर से राजपुत्र और उनकी वधुएँ आई थीं। धृतराष्ट्र ने कुछ निश्चय करके धर्मराज से कहा—"युधिष्ठिर, वास्तव में हमारा यह कोई अन्तिम आश्रम तो है नहीं। अब हम चारों को ही यहां से और आगे कुटी बनाकर एकान्त स्थान में ही रहने दो। राजमहल से निकलकर बाहर जो इतने दिन यहां रहे, वह तो केवल इसलिए कि हमें आश्रम-जीवन का कुछ अभ्यास हो जाय। अब हमारे लिए दूर अरण्य में ही जाकर रहना उचित है।" युधिष्ठिर तथा दूसरे सम्बन्धियों ने अपने चाचा के विचार को बदलने का प्रयत्न किया, परन्तु धृतराष्ट्र ने पूर्ण निश्चय कर लिया था। वह और कुछ नहीं सुनना चाहता था। तब धर्मराज ने विदुर की ओर देखा। परन्तु आज तो विदुर भी धृतराष्ट्र का समर्थन कर रहा था। 'युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र जो कहते हैं सो ठीक ही कहते हैं। तुमको चाहिए कि अब हमें अन्तिम विदाई दो। तुम धर्म के ज्ञाता हो। तुम हमें इस मोह-चक्र में क्यों डालते हो? और तुम भी इस मोह में क्यों पड़ते हो?' कुन्ती की आंखें डबडबा आईं। पर उसने भी इस पर्णकुटी को छोड़ने का अपना निश्चय प्रकट किया। गान्धारी से किसीने अलग से पूछा ही नहीं, क्योंकि जो धृतराष्ट्र की इच्छा होगी वही उसकी इच्छा होगी, यही सब लोगों ने मान लिया था।

सब लोग दिन-भर चलते रहते। पुत्र और पुत्रवधुएँ ही नहीं, तपस्वी लोग भी उन चारों को दूर तक पहुंचाने गये थे। नदी के किनारे संकरे

होते जाते थे, विदुर ने एक अच्छी-खासी शान्त छायादार जगह पसन्द की। साथ आये दास-दासियों ने कुटी खड़ी कर दी और उसमें इतनी सामग्री रख दी कि वह दस-पन्द्रह दिन चल सके। एक दिन तो सब लोग वहीं ठहरे, सोये और दूसरे दिन सारे परिजन भारी मन लेकर लौट आये। धृतराष्ट्र ने एक भी दास या दासी को वहां अपने पास नहीं रहने दिया। धृतराष्ट्र के सारे काम-काज करने की जिम्मेदारी विदुर ने ले ली। कुन्ती ने कहा कि मैं अपनी जिठानी (गांधारी) की सेवा बहुत प्रसन्नता से करूंगी, सिर्फ उनकी अनुमति होनी चाहिए। जो-कुछ हो रहा था, उस पर गान्धारी ने अपने मन से सम्मति दी और उसने भी दृढ़ता से कहा कि मुझे भी किसी दासी की जरूरत नहीं है। अन्त में सबोंने विदाई ली। जाते-जाते युधिष्ठिर ने विदुर को अलग बुलाकर कहा, "यहां से नीचे चौथाई योजन दूरी पर मैं अपने चार-पांच विश्वासपात्र सेवकों को कुटियां बनाकर रहने के लिए कहे देता हूं। बीच-बीच में दो-चार दिन छोड़कर वे यहां आकर देखभाल व पूछताछ कर जाया करेंगे। उन्हें आप मना मत करना। मैं उनसे कह दूंगा कि इसके अलावा वे आपके पास बार-बार न आया करें।" इन सबोंके साथ दस-पांच कदम चलकर विदुर भी वापस लौट आया। अब उस एकान्त स्थान में सिर्फ चारों जने रह गये।

दूसरे दिन प्रातर्विधि समाप्त होने पर विदुर ने धृतराष्ट्र को और कुन्ती ने गान्धारी का हाथ पकड़कर एक ऐसी ठण्डी छांह की जगह बिठाया कि जहां अधिक धूप नहीं लग सकती थी और खुद ये दोनों ज़रा पीछे की ओर एक पेड़ का सहारा लेकर बैठ गये। गान्धारी चुपचाप बैठी थी। एक गहरी निःश्वास उसके मुंह से निकल पड़ी। उसे सुनकर उसकी ओर मुंह करके धृतराष्ट्र ने किंचित उपहास से कहा, "अब निःश्वास छोड़ने से क्या लाभ? दो अन्धों का संसार जैसा होता है, वैसा अपना यह संसार चला।" यह वाक्य और उसकी ध्वनि सुनकर गान्धारी चौंक उठी। यों उसने प्रत्युत्तर न दिया होता, किन्तु राजा के वचनों में छिपा उपहास उसे चुभ गया। उसने कुछ रुखाई से उत्तर दिया, "महाराज, मैंने अपने निज के दुःख के कारण निःश्वास नहीं ली। जब से यहां आये हैं, पहाड़ी

हवा लग रही है। पांव के नीचे देवदार के लम्बे पत्तों का सघन गलीचा चारों और बिछ रहा है। देवदार की मन्द गन्ध के साथ हवा का प्रत्येक झोंका मानो सारे वन को सुगन्धित कर रहा है। देवदार के पत्तों की इस ध्वनि, रात-दिन नदी का कल-कल, छल-छल करता प्रवाह इन सबके प्रभाव से मुझे एकाएक गन्धार-देश की याद आ गई और बिल्कुल अनजान में ही यह उच्छ्वास निकल गया।" गान्धारी के इन शब्दों को सुनकर धृतराष्ट्र का उसपर चोट करने का इरादा नष्ट हो गया और वह दयार्द्र होकर बोला, "सचमुच गान्धारी, अन्धे के पल्ले पड़कर ही तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है। पितृगृह की याद आने से ही तुम मन में संताप कर रही होगी। ठीक है न।" गान्धारी बोली—"ऐसी बात नहीं है। पितृ-गृह की याद तो मेरे मन में उसी दिन से बुझ गई, जिस दिन आपके साथ विवाह हुआ। आज तो जो याद आई वह गान्धार-देश की थी; वहां के लोगों की नहीं। महाराज, आप तो जानते ही हैं कि राजमहल के एक प्रांगण में रहकर भी मैं अपने भाई से भी कभी बोली तक नहीं।" थोड़ी देर सन्नाटा छा गया। विदुर और कुन्ती के चेहरे पर भी आश्चर्य छा गया था। कुन्ती के मन में ऐसा लगा कि पति-पत्नी का यह संवाद पता नहीं किस स्तर पर जाकर पहुंचे? जब धृतराष्ट्र के बोलने की बारी आई, उसकी आवाज में पहलेवाला उपहास का भाव नहीं रहा था। कुछ नम्रता से उसने कहा, "तुम्हें फंसाकर यहां लाने और मेरे अंधे होने की खबर तक न देकर और मुझसे तुम्हारा पल्ला बांधकर तुम्हारे मायके के लोगों ने और हमारे परिवार के लोगों ने भी तुम्हारे प्रति महान अपराध किये हैं। पर, गान्धारी, तुमने भी उसका पूरा बदला ले लिया। अब जो कुछ हो गया, बीत गया, उसके लिए क्या क्षमा नहीं कर सकोगी?"

इस तरह की बातचीत का किसी तीसरे के लिए सुनना उचित नहीं, ऐसा समझकर विदुर और कुन्ती वहां से चुपचाप खिसकने लगे, परन्तु सनेत्र मनुष्य की आंखों को जो नहीं दिखाई देता है, वह अंधे धृतराष्ट्र ने देख लिया। विदुर ओर कुन्ती की और मुखातिब होकर धृतराष्ट्र बोला, "ठहरो, कहीं मत जाओ, यहीं बैठे रहो। हम पति-पत्नी में एकान्त में

ऐसी-वैसी एक भी बात नहीं हुई है और न आगे भी ऐसी कोई होने की सम्भावना है। मैं अपने बड़े होने के नाते तुमसे कह रहा हूं कि बैठे रहो, न जाओ। आज्ञा मानकर वे दोनों बैठ गये हैं, इतना सुनने तक वह रुका और फिर गान्धारी की ओर मुड़कर रुद्ध किन्तु उत्तेजित स्वर से बोला, "सचमुच तुमने बहुत बड़ी नसीहत दी, गान्धारी। आंखों पर पट्टी बांध-कर जब तुम विवाह-मण्डप में खड़ी हुईं, तब मुझे इतना प्रतीत नहीं हुआ था। मैंने सोचा था कि मैं समझा-बुझाकर अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे क्रोध को शान्त कर दूंगा, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। रात को शायनागार में तुम आईं तब भी आंखों पर पट्टी ही बंधी थी। लड़खड़ाते-लड़खड़ाते किसीका हाथ पकड़कर तुम आईं थीं। मैं तो जन्मान्ध था ही। मुझे तो अन्धे की तरह रहने का अभ्यास हो गया था। परन्तु तुमने तो जान-बूझकर आंखें बांध रखी थीं। कैसी भयानक रात थी वह। उसी समय जाने क्यों मैंने तुम्हें मार क्यों नहीं डाला?" गान्धारी ने कटुता के साथ उत्तर दिया—"ऐसा हुआ होता तो बड़ा अच्छा हो गया होता। जीवन का आगे का यह ग्रन्थ ही समाप्त हो गया होता।" धृतराष्ट्र आवेग से बोला, "गान्धारी, ऐसा मत कहो। हम कुरुवंश के पुरुष कितने ही नादान क्यों न हों, क्षत्रियत्व को नहीं भूले हैं। स्त्रियों को मारने में हमारा पौरुष नहीं है।" ऐसा कहकर मानों उसने अपना पहला ही वाक्य चालू रखा, "मैं अपने राज्य का राजा था। तब तुम्हारी आंखों की पट्टी मैं फाड़ सकता था। मैंने सोचा कि अधिकार के बल से ऐसा करने की अपेक्षा मौका देखकर सहूलियत से समझाकर ऐसा कर दूंगा। परन्तु तुमने पहले ही दिन जो निश्चय किया वह कायम ही रहा। जब तुमने पुत्र को जन्म दिया, तब भी मेरे मन में आया कि तुमसे कहूं कि गान्धारी मेरे लिए नहीं, परन्तु अपने पुत्र का मुंह देखने के लिए तो आंखों की पट्टी खोल डालो। परंतु उस समय तक मेरा मन भी कठोर हो गया था। पुत्र के लिए शायद तुमने पट्टी खोल भी दी होती, परन्तु तब तुम्हें ऐसा करने देने की मेरी तैयारी नहीं थी। तुम पुत्र का मुंह नहीं देख पातीं, इसमें मुझे एक प्रकार से तुमसे बदला लेने का-सा कुछ आनन्द मिला। आंखों पर पट्टी बांधकर तुम सती के गौरव में मग्न हो रही थीं। एक बार जो

निश्चय कर लिया उसके आवेश में तुम फंस गई थीं। तुम्हारे लिए अपनी आंखें खोलना सम्भव न था। हां, शायद मेरी आज्ञा से ही तुम ऐसा कर सकती थीं। पर मैंने तुम्हें ऐसी आज्ञा नहीं दी।

"पुत्र के स्नेह के कारण—अन्धे प्रेम के कारण ही क्यों न हो—हम परस्पर नजदीक आये थे, अन्यथा किसी भी समय तुम्हें मेरे प्रति अपनापन महसूस नहीं हुआ था। कुरुवंश के हम पुरुषों ने तुम जैसी महिलाओं पर अनेक अन्याय किये हैं। उसका प्रायश्चित्त भी हमें खासा करना पड़ा। अम्बा के कोप में भीष्म को जलना पड़ा। तुम्हारे कोप से मैं भस्म हो रहा रहा हूं। मेरे सब पुत्र भी नष्ट हो गये। कुन्ती का विवाह भी एक अपंग मनुष्य से हुआ। परन्तु कुन्ती ने अलबत्ता अपनी पत्नी की, बहुत प्रिय न रहनेवाली, भूमिका तो निबाही तो इसके अलावा उसने अपने पति के बाद अविरत जागरूक रहकर अपने पुत्रों का हित संभाला। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अन्याय की परंपरा में फंसा हुआ है। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया, पाण्डु ने कुन्ती के साथ अन्याय किया, खुद मुझे तथा पाण्डु को अपने जीवन में जो असफलताएं भोगनी पड़ीं वह किसके अन्याय से? यह हमारी माताओं की वेदना का ही फल था, जो हमें भोगना पड़ा है, ऐसा क्यों न मानें? बेचारा विदुर, शरीर से तथा बुद्धि से भी पूर्ण स्वस्थ था। जिस पिता के हम पुत्र उसीका वह भी था; परन्तु दासी-पुत्र होने मात्र से वह गद्दी पर नहीं बैठ पाया। पर उसने अपने जीवन की निराशा का बदला किसीसे नहीं लिया। हमारे कुरुकुल में जो अहर्निश जागरूक रहे, वे सिर्फ विदुर और कुन्ती ही हैं। गान्धारी, तुम समझती होगी कि अकेली तुम्हारी ही प्रवंचना हुई। पर हमारी तीन पीढ़ियों के लोगों की स्थिति का विचार तो करो! इनमें का प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार से त्रस्त हुआ है। मैं जो तुमसे यह सब कह रहा हूं, वह कोई तुमसे क्षमा मांगने के लिए नहीं, बल्कि अपने संपूर्ण जीवन से तुम्हारा जो झगड़ा चल रहा है, उसे शांत करने की दृष्टि से। मेरा तुमसे अनुरोध है कि तुम मुझपर का ही नहीं, सारे जीवनभर का जो रोष एकत्र हुआ है, उसे छोड़ दो। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया, इसलिए तुम्हें अपने पुत्र-पौत्रों पर, अपने सारे गृह-संसार पर अन्याय करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो

जाता। गान्धारी, एक अन्याय की पूर्ति दूसरे अन्याय से भला कैसे हो सकती है? अपनी आंख की पट्टी अब भी खोल दो। आस-पास की यह सारी सृष्टि, मनुष्य, लोग और जीवन में अबतक घटी समस्त घटनाओं की ओर एक बार निरपेक्ष दृष्टि से देखना सीखो। हमारे जीवन का अन्त अब निकट आ गया है। मरते समय तो आंखों पर पट्टी बांधे मत मरो।" धृतराष्ट्र से आगे बोला नहीं गया। धृतराष्ट्र ने कर्त्तव्य की भावना व कर्त्तव्य को जो यह लहर पैदा की उसमें और सब भी डूब गये। बहुत देर शान्त रहने के बाद गान्धारी ने धीरे-से कहा, "महाराज, मैंने आंखों की पट्टी खोल दी है। परन्तु अब भी मुझे स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा है।" जीवन में पहली बार बड़े आवेग से धृतराष्ट्र ने गान्धारी के हाथ पकड़े और वह छोटे बच्चों की तरह रोने लगा। कुरुकुल के सारे सुख-दुःखों के भोक्ता गान्धारी और धृतराष्ट्र थे। कुन्ती और विदुर तो साक्षी मात्र थे। परन्तु इन साक्षियों की भी आंखों में पानी आ गया। पहला आवेग समाप्त होने पर धृतराष्ट्र कोमल स्वर में बोला, "गान्धारी, एक-दो दिन में ही तुम कुन्ती की सहायता से स्पष्ट रूप से देखना सीख जाओगी। जिस दिन तुम अच्छी तरह देखने लगोगी, उस दिन तुम्हीं मेरा हाथ पकड़कर यहां लाकर बिठाना।" इसके आगे कोई कुछ नहीं बोल सका। पर्णकुटी में लौटने पर भी सब अपने-अपने विचारों में डूबे हुए थे।

दो दिन हो गये, गान्धारी को आंखों से देखकर काम करने की आदत पड़ गई थी। राजा का हाथ पकड़कर वह नित्य के बैठने की जगह ले आई। और सब लोग भी शांति से पास में आकर बैठ गये। ऐसा लग रहा था मानो इन बीच के दिनों में कुछ हुआ ही नहीं था। पिछले वार्तालाप का सूत्र चालू हुआ। धृतराष्ट्र ने नीचे बैठते हुए भी गांधारी का हाथ अपने हाथ में थाम रक्खा था। वह बोले, "गान्धारी, अवस्था में तुम मुझसे छोटी हो। मेरे चले जाने के बाद भी तुम अब स्वतंत्रतापूर्वक रह सकोगी।" यह शब्द सुनते ही गान्धारी, जो अब देखने लग गई थी, धृतराष्ट्र के मुंह पर हाथ रखकर बोली, "नहीं महाराज, यह कभी नहीं हो सकता। मैंने जो आपका हाथ पकड़ा है, बीच में छोड़ने के लिए नहीं। मैंने जो आंखों की पट्टी खोली है, सो केवल अपने ही लिए नहीं। हम दोनों के लिए है।" इसके बाद धृतराष्ट्र से कुछ बोला नहीं गया।

बहुत देर बाद जब उसका मन कुछ शान्त हुआ, तो वह बोला, "गान्धारी, तुम आंखवालों को जो दिखाई नहीं देता, उसकी मुझे गन्ध आ जाती है—वह मुझे सुनाई दे जाता है। देखो तो, जंगल में यह आग किधर लग रही है ? मुझे सुबह से ही धुएं की गन्ध-सी आ रही है। भयभीत पक्षियों का चीत्कार सुनाई दे रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम नदी की जिस ओर बैठे हैं, उसके पीछे ही कहीं जंगल में आग लगी है। वह इतनी पास तो नहीं लगी दीखती है कि उसकी आंच का आभास हो। पर तुम लोग देखो तो ज़रा।" और विदुर, कुन्ती और गान्धारी तीनों उठकर देखने लगे। सचमुच ही बहुत दूरी पर उन्हें आकाश में धुआं उठता हुआ नज़र आया। क्षितिज में ज्वालाओं की लालिमा और उसकी पीली-पीली आभा भी उन्हें दिखाई दी। तीनों वापस आकर बैठ गये। गान्धारी धीरे-से, लेकिन स्पष्ट स्वर में बोली, "महाराज, आपका कहना ठीक है, आग चौथाई योजन के लगभग दूर है।" तब धृतराष्ट्र बोला, "गान्धारी, अन्त तक मेरा हाथ पकड़े रखना, जितना तुम समझती हो, उससे कहीं कठिन है। आश्रम में रहकर मौत की राह देखना, पांच-छः महीनों में लड़के-बच्चों के आने की राह देखना और फिर पुराने दुःखों को ताजा करना, फिर से मन को किसी तरह शान्त करना, इन बातों से अब मेरा मन ऊब उठा है। मैं तो यहीं रुका रहूंगा। पर तुम नदी के पार जाकर आग से अपने को बचा सकती हो।" गान्धारी ने धृतराष्ट्र का हाथ जोर से पकड़ लिया और बोली, "महाराज, मैं अब आपका हाथ नहीं छोड़ूंगी। यहां रहकर आग की राह देखने की अपेक्षा हम लोग वहीं क्यों न चले चलें ?"

"ठीक कहा तुमने, गान्धारी।" यह कहकर धृतराष्ट्र खड़ा हो गया। वह तथा गान्धारी आग की दिशा में जाने लगे। उनके पीछे-पीछे कुन्ती और विदुर भी चलने लगे। यह सुनकर धृतराष्ट्र रुक गया। उन्होंने पीछे फिर-कर देखा – "तुमलोग भी—" इतना ही वह बोला और फिर आगे बढ़ने लगा।

एक बड़ी विचित्र घटना घट रही थी। एक पतिव्रता, अपने जीवित पति का हाथ पकड़कर सहगमन के लिए चल पड़ी थी। एक देवर अपने बड़े भाई की विधवा को चिता से उठाने की अपेक्षा साथ लेकर चिता की ओर रवाना हो रहा था।

तीन

कुन्ती

मनुष्य अपने जीवन में बहुत कम ऐसे काम करता है, जो खुद उसी की प्रेरणा से होते हैं। बहुत बार विचारने पर यह प्रतीत होता है कि मानव-जीवन हवा में झोंके खानेवाले पत्तों की तरह होता है। और कभी ऐसा भी लगता है कि हमारा जीवन सब तरह से दूसरों के हाथों में ही रहता है। महाभारत की स्त्रियों का जीवन पराधीन था। उनके सुख-दुःख जिनपर अवलम्बित थे वे सब कर्ता-धर्ता पुरुष ही थे। करें वे और भोगें स्त्रियां। गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा सबका यही हाल। परन्तु इन स्त्रियों ने भी अपने जीवन का कुछ भाग अलबत्ता वैभव और सुख-शान्ति में बिताया। अन्धे से विवाह हो जाने पर भी गान्धारी हस्तिनापुर के राज-वैभव में रह पाई। यद्यपि उसके पति का राज्याभिषेक नहीं हुआ था तब भी वह रानी की तरह ही रही। दुर्योधन जब राजा हुआ तो उसे राज-माता का गौरव भी मिला। द्रौपदी ने ज़रूर बहुत कष्ट भोगे, पर साथ ही उतना ही वैभव भी पाया। सुभद्रा कभी पटरानी नहीं बनी, परन्तु उसका सारा जीवन कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। उसका पुत्र ज़रूर युद्ध में मारा गया, पर उसका पोता गद्दी पर बैठा और अन्त में उसने अपने तथा अपने भाई के वंशधर को राजगद्दी पर बैठा देख लिया। परन्तु कुन्ती के भाग्य में जौ के बराबर भी सुख रहा हो, ऐसा हम नहीं पाते। अलबत्ता जीवन-भर उसे दुःखों के पहाड़ ही अपनी छाती पर उठाने पड़े थे। जिन-जिन पुरुषों से उसका संबन्ध आया, उन सबने अपने-अपने तौर पर उसे कष्ट ही पहुंचाया।

एक जगह वह वासुदेव से कहती है, "मैं तुझे कमर पर बैठाकर गेंद खेला करती थी। इतनी छोटी उमर में ही, जैसे चोरी-छिपे किसीको धन दे डालते हैं, उसी तरह मेरे पिता ने मुझे कुन्तीभोज को दे दिया था।" उद्योगपर्व का यह वर्णन, संभव है, पीछे से जोड़ दिया गया होगा; क्योंकि कुन्ती का जो यह कहना है कि उसने कृष्ण को कमर पर उठाकर खिलाया था, वह दूसरे प्रमाणों से मेल नहीं खाता। पढ़ते हुए ऐसा लगता है, मानो वह कोई बेचारी दुखी नारी रही होगी। वह रोई-गाई तो, परन्तु वह अपनेको दीन-हीन नहीं समझती थी। उसकी दृष्टि से एक क्षत्रिय नारी को जो-कुछ चाहिए था, उसे प्राप्त हुआ था। क्षत्रिय नारी यह कभी अपेक्षा नहीं रख सकती कि उसे सुख-चैन की जिन्दगी मिले, ऐसा उसके उद्‌गारों से प्रकट होता है; और मन में विचार आता है कि उसको दयादृष्टि से देखनेवाले हम कौन ? उसने खुद ही आंख खोलकर और छाती तानकर अपने जीवन में कृतकृत्यता अनुभव की और उसी तरह अपना जीवन बिताया। अपने सुख की कल्पना के आधार पर हम उसके सुख-दुख की नाप-तौल क्यों करें ?

कुन्ती का पिता शूरसेन राजा था। कुन्तीभोज उसीके वंश का एक दूसरा राजा था। कुन्ती-विषयक आरंभ ही महाभारत में नीचे के इन दो श्लोकों से होता है—

पैतृष्वसेयाय स तामनपत्याय वीर्यवान्।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वीर्यवान्॥
अग्रजातेति तां कन्यामग्र्यानुग्रहकांक्षिणे।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने॥ १.१०४.२-३

श्लोक का अन्वय है—सः वीर्यवान् सखा स्वस्य अपत्यस्य अग्रे अग्र्यं प्रतिज्ञाय, अग्रजाता इति तां कन्याम् अग्र्यानुग्रहकांक्षिणे पैतृष्वसेवाय अनपत्याय महात्मने सख्ये कुन्तिभोजाय प्रददौ।

इसमें पहली पंक्ति के ताम् और दूसरी पंक्ति के वीर्यवान् ये पद पादपूर्णार्थ मानने चाहिए।

अर्थ—उस शूरवीर सुहृद (शूरसेन) ने अपने (अपत्य के) जन्म के पहले ही प्रथम अपत्य देने का वचन देकर प्रथम जन्मी वह कन्या ब्राह्मणों

का अनुग्रह चाहनेवाले अपत्यहीन अपने फुफेरे भाई और बड़े सखा कुन्तिभोज को दे डाली।

इस प्रकार कुन्ती के जन्म के पहले ही उसका भविष्य निश्चित हो चुका था। उसके पहले यदि लड़का हुआ होता, तो ही वह टल सकता था। उसने ऐसी शपथ ली थी कि अपनी संतान तुम्हें दूंगा। यदि पहले लड़का हुआ होता, तो शूरसेन ने उसे हर्गिज़ नहीं दिया होता, क्योंकि वह तो राज्य का वारिस होता ! लेकिन जब पहली कन्या ही हुई, तो उसे देने में कोई कठिनाई नहीं थी। इसलिए ब्राह्मणों के अनुग्रह के लिए प्रयत्नशील कुन्तिभोज—अपने फुफेरे भाई को वह दे दी। उस समय लड़कियों के जो अनेक उपयोग होते थे, उन्हींमें एक यह भी एक था। विवाह के बाद तो वह दूसरों के घर जाती ही थी और दूसरा यह कि उसके पहले वह किसी मित्र को या ब्राह्मणों को सेवा के लिए दे दी जाती। उस समय यह कोई विशेष बात नहीं मानी जाती थी। पहले भी पुराणों में ऐसा वर्णन आया ही है कि राजा दशरथ ने अपनी कन्या अपने मित्र रोमपाद को दे दी थी। इसी प्रसंग को लक्ष्य करके कुन्ती आगे (उद्योग पर्व में) कहती है—"जिस प्रकार लोग चोरी-छिपे द्रव्य देते हैं, उसी तरह मेरे पिता ने मुझे कुन्तिभोज को दे डाला।"

कुन्ती का नाम पृथा भी था। संभव है, उसका अंग टेढ़ा-मेढ़ा या मोटा-तगड़ा हो, इसीसे यह नाम पड़ा हो। कुन्ति-देश के राजा भोज की कन्या होने से 'कुन्ती' कहलाने लगी हो। भोज ने उसे लिया भी एक सनकी और क्रोधी ऋषि की सेवा के लिए। वह था दुर्वासा। पुराण कहते हैं कि वह बहुत ही फूहड़ था। पूरे कपड़े भी नहीं पहनता था। शायद उसके शरीर से बदबू भी आती रही हो। इसके अलावा बहुत क्रोधी के रूप में भी उसकी प्रसिद्धि थी। इस सुवासा (ऋग्वेद १०-७१-४) क्षत्रिय-कन्या ने वर्ष-भर उसकी सेवा की। एक बार भी उसे क्रोध नहीं आने दिया। उसने जाते हुए प्रसन्न होकर पुत्र-प्राप्ति के लिए कुन्ती को एक मंत्र दिया। महाभारत में इन मंत्रों के और उनके अनुष्ठान के लिए 'अभिचार' (अभिचाराभिसंयुक्तम्) विशेषण लगाया गया है। वेदों के अभिचार-मंत्र की योजना, किसीका नाश करना हो, किसी का पराजय करना हो, अथवा

किसीको वश में करना हो, तो उसके लिए की गई है। यह माना जाता था कि जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग करना हो, उसपर उसकी क्रिया—प्रभाव—अवश्य होगी। ऐसी शक्ति अभिचार-मंत्र में मानी जाती थी। इस मंत्र का प्रभाव यह था कि कुन्ती इसके द्वारा जिस किसी भी देवता का आव्हान करेगी, वह उसके वश में हो जायगा। कुन्ती ने बालबुद्धि से सूर्य का आह्वान किया। सूर्य ने उसके साथ संग किया और उसे तुरन्त ही एक सुन्दर पुत्र हो गया। कुमारावस्था में पुत्र का जन्म हुआ, इस लज्जा से कुन्ती ने जन्मते ही उसे छोड़ दिया। यही पुत्र आगे चलकर 'कर्ण' नाम से विख्यात हुआ।

महाभारत में बहुत-सी अद्‌भुत बातें हैं। किसीकी संगति तो मानवीय स्तर पर लगाई जा सकती, किसीकी नहीं। महाभारत की अद्‌भुत घटनाओं में एक यह भी है कि सूर्य से कुन्ती को जो पुत्र प्राप्त हुआ, उसे जन्मतः ही कवच और कुण्डल प्राप्त थे। इसकी क्या संगति लगाई जा सकती है? कुन्ती ने ऋषि की सेवा की। इस सेवा का अर्थ क्या? इस सेवा का दुष्फल कर्ण था क्या? यदि ऐसा था, तो फिर उसका संबंध सूर्य से क्यों जोड़ा गया? इस प्रकार सहज (जन्मतः ही शरीर पर पहने) कवच-कुण्डल का अर्थ क्या? कुन्ती ने जब इस पुत्र को कहीं डाल दिया तब क्या द्रव्य के साथ ही कवच-कुण्डल भी रख दिये? कवच कुण्डल उच्च वर्ण का, विशेषतः क्षत्रियत्व की निशानी थे क्या? त्यक्त पुत्र क्षत्रिय था, यह सूचित करने के लिए ही तो कहीं कुन्ती ने कवच-कुण्डल न रख दिये हों? ऐसे कितने ही प्रश्न मन में उत्पन्न होते हैं। अस्तु। वह अनाथ लड़का अधिरथ सूत के हाथ लगा। द्रव्य के साथ मिला, इसलिए अधिरथ ने उसका नाम 'वसुषेण' रक्खा। नाम भी—'सेन' पदान्त क्षत्रियों के ही ढंग पर। उससे भी ऐसा मालूम होता है कि कवच-कुण्डल को देखकर ऐसा नाम रक्खा गया होगा। अलबत्ता यह बात ठीक है कि 'कर्ण-जन्म' और 'कवच-कुण्डल' की कोई नैसर्गिक उत्पत्ति नहीं लगती है। दुर्वासा ऋषि का यदि कुछ संबंध सूर्य के साथ पहुंचता हो तब तो यह तुक मिल सकती थी, परन्तु महाभारत में ऐसा कहीं कुछ दिखाई नहीं देता। कुमार-अवस्था में कुन्ती को यह पुत्र क्या हुआ, जिन्दगी-भर

के लिए मानो कुन्ती ने अपने पेट में एक महान दुख ही पाल लिया हो। एक बार जब उसे छोड़ दिया, तो फिर उसे वह प्रत्यक्ष तो नहीं अपना सकती थी। बड़ा होने पर सारा जन्म-रहस्य उसे बताये जाने पर भी कर्ण अपनी माता के इस कृत्य को भूल नहीं सका और न मां को क्षमा ही कर सका। परन्तु कुन्ती उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक, जन्म देने के पाप की और उसे छोड़ देने के अन्याय की क्षतिपूर्ति हर समय करती रही।

एक पिता ने उसे दत्तक दिया, इससे इस दुःख का जन्म हुआ। दूसरे पिता ने उसका विवाह किया, तो एक विकलांग व्यक्ति के साथ, उससे उत्पन्न दुःख और पहले के इस दुःख के साथ उसका जन्मभर का सहचार रहा।

पाण्डु का राज्याभिषेक हुआ तब कुन्ती हस्तिनापुर की महारानी बनी। परन्तु संपूर्ण महाभारत में उसके रानी होने का उल्लेख सिर्फ उसी के मुंह से बिल्कुल अन्त में हुआ है। पाण्डु ने राजा हो जाने पर दिग्विजय किया। उसमें जो कुछ कर-भार, रत्न, द्रव्य आदि प्राप्त हुआ वह सब धृतराष्ट्र को सौंप दिया और वह हिमालय में चला गया। उसके साथ कुन्ती और माद्री भी गईं। हिमालय में वह ठाट-बाट के साथ रहे भी होंगे; परन्तु कहां हस्तिनापुर का रानीपद और कहां हिमालय का अरण्यवास!

कौरवों को शिकार का शौक था, इसके लिए वे जंगलों में जाते रहते थे। स्त्रियां राजधानी में ही रहा करती थीं, इसलिए शकुन्तला दुष्यन्त को और सत्यवती शन्तनु को अपने पास में ले पाईं। पाण्डु युवावस्था में वन में रहने क्यों गया? क्या इसीलिए तो नहीं कि अपने जीते-जी अपनी रानियों से दूसरों के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने का उपाय, अपने राजधानी में रहते हुए, वह नहीं कर सकता था? वन में रहते हुए सारे पुत्र 'देवदत्त' हुए; कदाचित् राजधानी में यह संभव नहीं हो सकता था। महाभारत में उल्लेख है कि वन में जाने पर पाण्डु को शाप मिला। यदि थोड़ी देर के लिए उसे ही सही मान लिया जाय, तो यह समस्या बाकी रहती ही है कि इतनी युवावस्था में अपनी दोनों पत्नियों को लेकर, दिग्विजय होते ही वह वन में क्यों चला गया? और पुत्र-

उत्पत्ति भी शीघ्र कराई गई होगी, क्योंकि पाण्डु ने, यह मालूम होने पर कि वह पुत्रोत्पत्ति में असमर्थ है, कुन्ती से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहा। कुन्ती उस समय यह कह सकती थी कि कुमार-अवस्था ही में मेरे पुत्र हो चुका है। और उस समय की परिपाटी के अनुसार (क्षेत्र-बीज-न्यास से) पाण्डु उसे विधिवत् अपना ही पुत्र कह सकता था। किन्तु उस समय कुन्ती को यह मालूम ही नहीं था कि कुमारावस्था में हुए पुत्र का क्या हुआ? वह जीवित भी है या नहीं? ऐसी दशा में यदि उसने कुमारावस्था में पुत्र-जन्म की कथा पाण्डु को न कही हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

धृतराष्ट्र का विवाह हो चुका था। पर उससे पहले अपनेको पुत्र हो जाने की आवश्यकता पाण्डु ने समझी होगी। लेकिन सबकुछ उल्टा होने-वाला था, क्योंकि गान्धारी को गर्भ पहले रह चुका था। परन्तु महाभारत में कहा है कि पुत्र उसे कुन्ती के बाद प्राप्त हुआ।

कुन्ती को एक के बाद एक तीन पुत्र हुए। तब माद्री ने राजा को कहा कि लोग मुझे बांझ कहेंगे। मुझमें तो कोई कमी है नहीं, आप बड़ी रानी से पूछकर मुझे भी एक मंत्र क्यों नहीं दिलाते?

राजा ने कुन्ती से याचना की और कुन्ती ने एक मंत्र दिया। माद्री ने अश्विनी-कुमारों को बुलाया और उसे जुड़वां दो पुत्र हुए। उनके ज़रा बड़े होने पर माद्री ने फिर राजा से पुत्रोत्पत्ति के लिए अनुरोध किया। राजा ने फिर कुन्ती से याचना की। कुन्ती क्रोध से जल-भुन गई। "मैं पागल ठहरी; मुझे क्या पता था कि इसे जुड़वां पुत्र होंगे? और यदि फिर दूसरी बार उसे मंत्र बता दिया, तो पता नहीं वह क्या कर डाले? तब तो सब तरह उसीका वर्चस्व रहेगा! अब किसीको भी पुत्र की जरूरत नहीं, न उसे और न मुझे।" कुन्ती ने कहा।

पहले-पहल ही यदि माद्री को दो पुत्र न हुए होते, तो संभव था कि और भी पाण्डव जन्मे होते।

बेचारी माद्री सुरूप थी और तरुणी भी, परन्तु भीष्म ने उसे पाण्डु की छोटी पत्नी के रूप में क्रय किया था। रानी-पद मिलना तो दूर रहा, उल्टे बड़ी रानी के मत्सर की ज्वाला में ही वह जलती रहती। एक दिन

पाण्डु ने एकान्त देखकर माद्री के 'ना-ना' कहते हुए भी उसके संग संभोग किया और उसी समय मर गया। माद्री का रोदन सुनते ही कुन्ती दौड़ी आई। "तुम अकेली ही आओ, बच्चों को साथ न लाओ।" यह सुनते ही लड़कों को दूर रहने की आज्ञा देकर कुन्ती दौड़ती वहां आई और चिल्लाई, "हाय मैं मर गई!" राजा और उसके पास ही माद्री को देख-कर उसका मत्सर उफन उठा। "मैंने इतने दिनों तक इतना ध्यान रक्खा, परन्तु तुमने जान-बूझकर यह क्या कर डाला? राजा की रक्षा करने की बजाय तुमने एकान्त में मौका देखकर उसे फंसा लिया। धन्य है बाल्हिकी तुमको! मेरी अपेक्षा तुम कई गुना धन्य हो! तुमने अपने पति का वह मुख तो देख लिया, जिसपर सम्भोग-जनित आनन्द की झलक दिखाई देती थी।" पर माद्री बेचारी इसका क्या उत्तर देती? जैसे-तैसे उसने कहा, "मैं तो 'नाहीं, नाही' ही करती रही।" तिसपर कुन्ती ने और जहर उगला—"मैं बड़ी पत्नी हूं, मैंने अब जो सोच लिया है, जो मार्ग अंगीकार किया है, उससे मुझे पीछे मत हटाना। मैं अब जा रही हूं पति के साथ। उठो, उसे छोड़ो और अब इन बालकों का पालन-पोषण करो।"

इस एक ही क्षण में अल्हड़ माद्री मानो प्रौढ़ा हो गई। इस एक क्षण में ही उसे अपना सारा भावी जीवन दिखाई दे गया। वह समझ गई कि अबतक विफल जीवन अब और भी दीन-हीन ही होगा। इससे छुटकारे का एकमात्र मार्ग ही उसने अंगीकार किया। माद्री ने उत्तर दिया, "मैं ही पति के साथ जाती हूं। मेरे ही कारण तो उन्होंने अपने प्राण छोड़े हैं। और मेरा मनोरथ भी पूर्ण नहीं हुआ। तुम बड़ी हो, इसलिए मुझे उनके साथ जाने की अनुमति दो। तुम्हारे बालकों के प्रति मुझसे समभाव नहीं रक्खा जा सकेगा। इस पाप से भी मुझे बचना है। कुन्ती, तुम ही मेरे बालकों को अपने पुत्रों की तरह रखना। मैं यह चली।"

माद्री राजा की चिता पर खुद जल गई—सती हो गई। और कुन्ती छोटे बालकों को तथा आधेजले दोनों शवों को लेकर ऋषियों के साथ हस्तिनापुर चली गई।

अब इसपर क्या दया करें? और किसका तिरस्कार करें? सौत पर

सौत होना उस समय की अनेक स्त्रियों के भाग्य में ही था। और उस सौतपन में भी बड़प्पन प्राप्त करने की कितनी जोड़-तोड़! कौसल्या और कैकेयी, द्रौपदी व सुभद्रा और बाद में एक सहस्र वर्ष के उपरान्त कालिदास ने जिन चित्रों को उभारा—धारिणी, इरावती, मालविका! उसके कितने ही शतकों के बाद महाराज शिवाजी की रानियों की तथा उनकी संतति में पाई जानेवाली स्पर्धा! समाज में स्त्रियों का स्थान पति और पुत्र पर अवलम्बित है। अतः पति की या तो प्रथम पत्नी होना या प्रिय-पात्री होना! पुत्र के लिए सम्पत्ति का—राज्य का—भाग प्राप्त करने के लिए इतनी सारी भागदौड़! यही स्त्रियों का भाग्य! "आओ, हम एक दूसरे को धीरज दें, एक दूसरे से सहयोग करें।" इस भावना का कहीं भी दर्शन नहीं। द्रौपदी ने अर्जुन से गुस्से में कहा था—"मेरे पास क्यों आते हो? सात्वत कुल की सुभद्रा लाये हो न? उसीके पास जाओ।" लेकिन जब सुभद्रा प्रणाम करने आई, तो उसे गले लगाकर कहा—"देवी, तुम्हारा पति सदा विजयी हो।" तो उस समय द्रौपदी अपनी सौत के प्रति उदार-भाव नहीं रखती थी, बल्कि उसे अपने पति के बड़प्पन और गौरव की ही चिन्ता थी। वह जानती थी कि यह नया संबंध बहुत फलदायी होगा, इसलिए उसने यह उदारता दिखाई थी।

कुन्ती बड़ी कठोर-हृदय थी। माद्री के प्रति उसे प्रेम हो ही नहीं सकता था। फिर भी उसने उसे संतान प्राप्त करने में सहायता दी। इससे प्रतीत होता है कि उसमें न्याय-भावना थी। माद्री को उसने जो इतने कठोर वचन कहे, उसके लिए कारण थे। पाण्डु यदि जीवित रहता तो आज या कल हस्तिनापुर के राज्य पर उसका अधिकार हो गया होता। और फिर उसका ज्येष्ठ पुत्र, युधिष्ठिर, अपने-आप ही राज्य का वारिस हो जाता। ऐसा लगता है कि कुन्ती राजा के स्वास्थ्य की देख-भाल हर समय चिन्ता के साथ करती थी। माद्री को दिये उसके उलहाने का अर्थ इतना ही था कि तुम सबकुछ जानती थी, फिर भी राजा से अकेले में क्यों मिलीं? परन्तु इस सारे प्रकरण में राजा को 'बेचारा' 'दीन' कहना व माद्री पर दोषारोपण करना न्यायानुकूल नहीं था। कुन्ती

का संतुलन ही बिगड़ गया था।

माद्री के लिए मरण के सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं था। खुद उसकी दृष्टि से भी तथा आगे की आने वाली कथा की दृष्टि से भी। हस्तिनापुर में सत्यवती-अम्बालिका जैसी ददिया-सास और सास विधवा थी ही; उनमें यह एक और बढ़ जाती। पुरुष के सहवास की तो बात ही नहीं थी, उससे तो उसका रिश्ता ही मानो नहीं रहा। इससे तो हिमालय-निवास का जीवन ही अच्छा था। अतः सिवा जल मरने के उसके पास दूसरा चारा ही क्या था। अपने पल्ले दोष बंधवाकर, कुन्ती को बड़प्पन देकर, अम्बा की तरह हाय-तोबा न करके, सुकुमार माद्री ने अपनेको मृत्यु के हवाले कर दिया।

अब यहीं से कुन्ती का कठोर जीवन आरंभ होता है। हस्तिनापुर के मार्ग में दोनों ओर खड़े नागरिक चर्चा कर रहे थे—'ये लड़के उसी-के हैं न।' 'उसके कहां से होंगे?'—'हां उसीके तो हैं।' इस चर्चा को सुनकर कुन्ती को कैसा लगा होगा? साथ में ब्राह्मण तथा ऋषि थे। पाण्डु और माद्री के शव थे। भीष्म ने सबको सम्मान दिया। राजवैभव के अनुकूल पाण्डु और माद्री का अंतिम संस्कार किया। हस्तिनापुर के राजकुल में तथा समस्त नगर में सूतक मनाया गया। इसके कारण पाण्डु के पुत्रों को युवराजत्व की मान्यता मिली। और चचेरे भाई के साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी। कुन्ती ने छुटकारे की सांस ली होगी।

यह शान्ति की सांस पूरी हुई ही न होगी कि नये संकट सामने आ गये। पाण्डव राजपुत्र माने गये। फिर भी राज्य के एकमात्र वारिस के तौर पर उनका उल्लेख कहीं नहीं किया गया। इधर धृतराष्ट्र, राज्याभिषिक्त न होते हुए भी राजा बन बैठा। कुन्ती के कुछ वर्ष—पुत्रों के वयस्क होने तक—सुख से तो नहीं, पर ठीक ही बीते होंगे। उस समय भी लड़कों की देखभाल तो करनी ही पड़ती थी। ज्योंही लड़के शिक्षा प्राप्त करने लगे, घुस-पुस शुरू हो गई। कुन्ती का पुत्र भीम बड़ा लट्ठ-भारती था। वह अपने चचेरे भाइयों—धृतराष्ट्र के पुत्रों के ऐब निकालता, उन्हें तंग किया करता। वे पेड़ पर चढ़ जाते, तो यह पेड़ को जोर से

हिलाकर उन्हें पेड़ से नीचे गिरा देता। मार-पीट तो हुआ ही करती थी। उसमें भी फिर शस्त्रविद्या और अस्त्र-विद्या दोनों में पाण्डव अपने चचेरे भाइयों से बढ़-चढ़ रहे थे। भीम के अलावा दूसरों के, विशेषतः बड़े भाई के व्यवहार-समझदारी की चारों और प्रशंसा थी। इसका भी श्रेय कुन्ती की शिक्षा को ही मिलना चाहिए। धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के पांच राजपुत्र थे। धर्मराज उन सबमें बड़ा था। इतना ही नहीं, वह समझदार, सुज्ञ, सुरूप, सुवृत, और विश्वासपात्र भी हो गया था। अतः वही राजा बनेगा, इसका निश्चय, विश्वास हो जाने से पाण्डवों को लोगों की निगाह से और राजधानी से दूर करने की दुर्योधन और धृतराष्ट्र की योजना शुरू हो गई थी; और उन्होंने तरकीब से पाण्डवों तथा कुन्ती को वारणावत भेज दिया। लाक्षागृह में उन्हें जीता जला देने का उनका षड्यंत्र विदुर की सतर्कता से टल गया। इस अवसर पर भी कुन्ती का असामान्य धैर्य दिखाई देता है। रोज ब्राह्मण-भोजन कराने का नियम बनाकर उसने पुरोचन को बिलकुल भुलावे में रखा। पाण्डवों ने खुद ही घर को आग लगा दी और उस घर में अपनी जगह दुष्ट पुरोचन और उसके साथ ही एक निरपराध निषाद स्त्री तथा उसके पांच पुत्रों की आहुति हो गई। इस प्रसंग में यहां यह प्रश्न उठता है कि पाण्डवों का क्या यह दुष्कृत्य नहीं है ? पाण्डवों का हेतु इतना ही था कि षड्यंत्री भाइयों के चंगुल से सही-सलामत छुटकारा पा जायं। यह हेतु दूसरे किन्हीं-को बलि दिये बिना सिद्ध नहीं हो सकता था। यह इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। खुले मैदान में युद्ध करके मरने की उनकी तैयारी थी। परन्तु कपट से मारे जाने में अपकीर्ति थी। इस प्रसंग में महाभारतमें दूसरे स्थानों पर जो स्व-पर-भाव (अपने और परायेपनका भाव) दिखाई देता है, वही यहां भी दिखाई देता है। जो स्त्री शराब पीकर, अपने पुत्र के साथ नशे में सुध-बुध खोकर रात को वहां सोई थी वह एक भीलनी थी। वर्तमान संस्करण में एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि "एक भीलनी जिसे मानो मृत्यु ही वहां खींचकर लाई हो, उस दिन वहां आई और शराब पीकर मदहोश-सी हो वहीं सो गई।" नीचे उन श्लोकों के अर्थ दिये जाते हैं, जो भिन्न-भिन्न संस्करणों में मिलते हैं, लेकिन प्रक्षिप्त साबित हो जाने के

कारण जिन्हें छोड़ दिया। एक में कहा है—"वह निषादी दुष्ट थी और पुरोचन की विश्वास-पात्र थी। दूसरे में है—"वह दुष्ट (पापी) थी और कुन्ती से ऊपर-ऊपर मैत्री-भाव बताती थी (सखिमानिनी)। हस्तलिखित प्रति की जांच करते हुए तुलना से (अर्थ से नहीं) जो प्रक्षिप्त साबित हुए हैं, वे श्लोक प्राचीन महाभारत और उसमें बाद जोड़े गये श्लोकों का फर्क अच्छी तरह बताते हैं।

बाद के श्लोक ऐसा आभास पैदा करते हैं, मानो वह निषादी दुष्ट थी और मारने के योग्य थी। मूल श्लोक परिस्थिति को ठीक दिखाते हैं। "वह अचानक आई, इस तरह कि मानो मृत्यु ने ही बुलाया हो और पाण्डवों के लिए दुर्योधन की साजिश बिलकुल निष्फल करना सम्भव हो गया।" यह वर्णन स्वाभाविक मालूम होता है। कदाचित उस निषादी की वजह से उसी दिन भाग निकलने की तजवीज निश्चित हुई हो। पांच पुत्र और एक स्त्री ऐसे छः व्यक्तियों के भस्म हुए शरीर, जो पहचाने नहीं जाते थे, दूसरे दिन नागरिकों को मिले। उसके साथ ही और एक पुरोचन का, उनको मारनेवाले का, शरीर भी मिला। इससे यह सिद्ध हो जाता था कि पाण्डव जलकर मर गये और उन्हें किसीकी नज़र न पड़ते हुए साल-भर तक लुक-छिपकर रहना सम्भव हो गया। निषादी का मरना कथानक के सूत्रों का एक प्रकरण था।

घर आग में जलने जैसा है, अतः हम ऐसी जगह रहें ही क्यों ? यह प्रश्न भीम ने भाइयों के सामने रखा था। इसका धर्मराज ने जो उत्तर दिया उससे मालूम होता है कि पाण्डवों ने उस समय जो कुछ किया उस-से भिन्न कुछ किया नहीं जा सकता था। उसने कहा—"हमें यहां इसी तरह रहना चाहिए मानो हमें कुछ मालूम ही नहीं। यदि पुरोचन को ऐसा मालूम हो जायगा कि हमें ऐसा कुछ संदेह हो गया है तो वह किसी तरह हमें जला ही डालेगा। और यदि आग के भय से हम कहीं दूर चले गये तो दुर्योधन हमें शस्त्रों से मरवा देगा। उसे तो एक विशिष्ट स्थान, हस्तिनापुर, मिल गया है, परन्तु हमें तो अभी कोई स्थान मिला ही नहीं है। उसका एक समर्थक पक्ष निर्माण हो गया। हमारे पक्ष में अभी तो कोई भी नहीं है। वह धनाढय है और हम धनहीन हैं। वह हमें जरूर ही

मरवा डालेगा। इसलिए चुप साधे रहो। शिकार के बहाने रोज़ यहां से निकलकर लाक्षाग्रह से भाग जाने का रास्ता देख आया करें। नक्षत्रों का अध्ययन करके दिशाओं का ज्ञान कर लें और यहां से छुटकारे के लिए निकल भागने को एक सुरंग खोद लें।" यहां पाण्डवों की दीन-पराधीन स्थिति का और कौरवों तथा धृतराष्ट्र की दुष्टता का खासा परिचय मिलता है।

कुन्ती अपने लड़कों के साथ रही। सावधान रहकर उनके सब कामों और सब योजनाओं में वह हर तरह से सहायक रहती। जिस रात लाक्षाग्रह जला उस समय अंधेरे में तेजी से भागते हुए बिचारी की बड़ी फजीहत हुई। नगर छोड़कर जब वे वन में पहुंचे, तो वृक्षों की सघनता के कारण नक्षत्र भी दिखाई नहीं देते थे। नीचे जंगल और झाड़ी थी, अतः चला भी नहीं जा सकता था। तब भीम ने कुन्ती को अपने कंधे पर बैठाया। अन्त में नजदीक ही जलचर पक्षियों की आवाज सुनकर सब को एक पेड़ के नीचे बैठाया और भीम पानी लेने को गया। जबतक वह लौटता है तबतक थकान के मारे ये सब लोग सो गये थे। भीम ने कुन्ती के लिए कहा, "कितना आश्चर्य है कि गरम गद्दों पर जिसे नींद नहीं आती थी, वह आज धरती पर ही कैसी गाढ़ी नींद सो रही है?" परन्तु जमीन पर सोना कुन्ती के लिए कोई दुःख नहीं था। वह एक ऐसी स्त्री थी जो अपने हक (स्थान) के लिए अत्यन्त जागरूक थी और क्षत्रियत्व का अति अभिमान रखती थी। जीवन उसकी दृष्टि में एक संघर्ष था। संघर्ष के समय वह विचलित नहीं होती थी।

आगे की यात्रा में भी यही दिखाई देता है। उसने भीम को हिडम्बा के साथ रहने की हृदय से अनुमति दी थी और उस कठोर वन-प्रवास में उस-से अपनी मित्रता जोड़ ली। इसी हिडम्बा का पुत्र आगे चलकर युद्ध के समय अत्यन्त कठिन जीवन-मरण के प्रसंग पर बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बकासुर का वध करने के लिए उसीने भीम से आग्रह किया। द्रौपदी को पांचों पुत्रों की पत्नी बनाने का निर्णय भी उसीने किया। पांचों में फूट न पड़ सके, ऐसी एकता उसीने स्थापित की। विवाह के पहले वह एक मां के पांच पुत्र कहलाते थे, परन्तु आगे चलकर माद्री को कुन्ती से

फोड़ने का दाव जो दुर्योधन रचनेवाला था, उसके पहले ही कुन्ती ने द्रौपदी के निमित्त पांचों को एक सूत्र में बांधकर दुर्योधन के दांव को व्यर्थ कर दिया। ऐसा लगता है, जैसे पाण्डवों को द्रौपदी के हवाले कर वह एक ओर हट गई। परन्तु अब भी वह इतनी निश्चिन्त नहीं हुई थी कि खामोश बैठकर रंग-ढंग देखती रहती। उसके बड़े पुत्र युधिष्ठिर ने ही उसपर पराधीन-जीवन लाद दिया। इस जीवन का कष्ट उसने बहुत अनुभव किया। जुए में सर्वस्व हारकर जब पाण्डव वनवास को निकले तो विदुर ने कहा, "अब कुन्ती का तुम लोगों के साथ रहना सम्भव नहीं। क्योंकि वह सुकुमार और वृद्ध है। वह मेरे घर रहेंगी।" इस दुःख में उसको पाण्डु और माद्री की याद आई। "पाण्डु भाग्यवान थे, उसने पुत्रों का मुंह देखा, परन्तु यह दुर्दशा नहीं देखी।" माद्री का स्मरण करते हुए अपने निज के जीवन की विफलता का तीव्र भान उसे फिर हो गया। "माद्री को धन्य है, वह ज्ञानवान थी, उसे सद्गति प्राप्त हुई। रति-मति और सद्गति यह सब उसे मिली। सभीमें उसने मुझे मात दी। मेरी इस जीवन-प्रियता को धिक्कार है। उसीके कारण आज मुझे यह क्लेश भोगने पड़ते हैं।" (२.७.१८-२०)

तेरह वर्ष के इस वनवास-काल में उसने कितने कष्ट उठाये और अपने हृदय में क्या-क्या आशाएं बांधी, इसका दर्शन उद्योग-पर्व में होता है। द्रौपदी ने अपने पुत्रों को मायके भेजकर पति के लिए एक प्रकार का वनवास स्वीकार किया था। परन्तु कुन्ती को मायके न जाते हुए, विदुर के यहां रहकर, अपने शत्रुओं का वैभव रोज अपनी आंखों से देखने का वनवास भोगना पड़ा। कृष्ण ने जब मध्यस्थता स्वीकार की और कुन्ती से मिलने गये तब वह उनके गले लिपटकर रोने लगी। बचपन से लेकर अबतक भोगी हुई, समस्त आपदाओं को बार-बार याद कर करके वह रोई। हस्तिनापुर जाते हुए कृष्ण फिर उससे मिले थे। उस समय कुन्ती ने अपने पुत्रों के लिए उन्हें जो संदेश दिया वह कुन्ती के मन में उस समय चुभ रहा कांटा, भावी आशा और मन की दृढ़ता व कठोरता का दर्शन कराता है। उस समय के भाषण में एक वाक्य आता है।

दूसरे एक-दो अवसरों पर भी उसीका उपयोग कहावत के तौर पर भी हुआ है। कुन्ती कहती है—"विवाह के कारण मैं एक 'दह' से दूसरे 'दह' में आकर पड़ गई।" (हृदात्-हृदमिव) ।उसके मतानुसार एक अच्छे स्थान से निकलकर दूसरे अच्छे स्थान में आ गई। राजकन्या थी सो अब राजरानी हो गई। "दूसरों को जहां मेरे आश्रय में आना चाहिए वहां आज मैं दूसरों के आश्रितहो गई हूं।" यहउसे लगना चाहिएथा। पाण्डु जैसे दुर्बलके पल्ले बन्ध गई, इसलिए आज की दृष्टि से उसपर दया आती है। परन्तु उसे ऐसा नहीं लगा। कुछ भी हो, आखिर पाण्डु राजा था। उसे दूसरों के द्वारा पुत्र प्राप्त करने की सुविधा थी। पाण्डु यदि जीवित रहकर हस्तिनापुर जाता तो वह पटरानी हुई होती और बिना किसी झंझट के राजमाता हो गई होती। शुरू से अन्त तक का 'हृदात् हृदम्' की तरह उसकी स्थिति हो गई होती। परन्तु उसके पति ने ही उसे पहला धोखा दिया। उस संकट से धीरज के साथ निकलकर वह राजमाता का वैभव प्राप्त करनेवाली थी ही कि उसके पुत्र ने उसे धोखा दिया। पति से उसे विषय-सुख नहीं मिला। एक बार ही, अंतिम ही क्यों न हो, वह माद्री को मिला। परन्तु इससे वह जल-भुन गई। कुन्ती यह जानती थी कि वह उसे मिलनेवाला नहीं था। इस प्रकरण में पति की मृत्यु के कारण उसका रानीपद और पुत्रों का राजपद गया। यह उसकी दृष्टि से सचमुच महान् कष्ट था। उसने माद्री को जो उलहना दिया था, 'मैं उसका कितना ध्यान रखती थी', उसका अर्थ यही था।

राज गंवाकर पुत्रों ने तो दगा दिया ही था, परन्तु अब एक और नया संकट आ गया। वह यह कि ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर और उसके आज्ञा-पालक भाई और दूसरे भाई-भतीजे संधि करना चाहते थे। तब उसे यह भय हुआ कि यह संधि कहीं अक्षत्रियोचित और अपमान-जनक न हो जाय। इसलिए उसने कृष्ण के साथ यह संदेश भेजा। उसने कृष्ण से कहा—"भीम और अर्जुन से कहना कि अपने अपमान को न भूल जायं।"

कृष्ण को उसने जो संदेश दिया उसमें, अर्जुन और भीम को कहलाया कि 'अपमान को न भूलना।' परन्तु दर असल यह मुख्य संदेश था

धर्मराज को। यह ज्येष्ठ पुत्र राज्य का वारिस, परन्तु न तो युयुत्सु ही था, न विजिगीषु ही था। "कृष्ण, राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा है, उससे कहना कि 'भइया, तेरा धर्म नष्ट हो रहा है। तू जो न करना चाहिए, वह मत करना। मन्द, अविद्वान, शब्दजाल में फंसे रहनेवाले ब्राह्मण की तरह तुम्हारी बुद्धि को एक ही धर्म दिखाई देता है। अरे, ब्रह्मदेव ने क्षत्रिय का जो अपनी छाती से निर्माण किया, वह बाहुबलदिखाने के लिए। प्रजापालन के लिए, राजा यदि धर्म भूल जाय, तो वह तो नरक में जाता ही है, सारी प्रजा को भी नरक में ले जाता है। पिता के द्वारा जो राज्य-भाग मिला वह डूब गया है। उसे बाहर निकालो, उसे अपने कब्जे में करो। अरे, तुम्हारे इस व्यवहार से शत्रुओं को बड़ा आनन्द होता है। तुमको जन्म देकर मैं दूसरों के अन्न पर जीवित रहूं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? तुम राजधर्म पर चलो, अपने पितृजनों को, खुद अपनेको, और अपने छोटे भाइयों को नरक में मत डालो।" इतने पर भी वह रुकी नहीं उसने एक पुराना इतिहास भी कह-सुनाया। वह विदुरा अथवा 'विदुला-पुत्र-संवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। विदुरा का अर्थ है ज्ञानी, उसका वर्णन, मानो कुन्ती का ही वर्णन समझना चहिए। वह कैसी थी—यशस्विनी, मन्युमती (क्रोध करनेवाली, स्वाभिमानी) कुलेजाता (उत्तम कुल में जन्मी) क्षत्र-धर्म-रता (क्षात्रधर्म का पालन करनेवाली) दीर्घदर्शिनी (दूर तक विचार करनेवाली) 'विश्रुता राजसंसत्सु' (राजसभा में विख्यात) श्रुतवाक्या, बहुश्रुता (बहुत श्रवण करनेवाली) थी। और पुत्र कैसा था? सिन्धुराज द्वारा विजित, सोता रहनेवाला, दुर्बलमना, निरानंद, धर्म-ज्ञान न रखनेवाला, शत्रुओं को आनन्द देनेवाला। ऐसे पुत्र की विदुरा ने जो भर्त्सना की, वह वैसी ही कुन्ती ने युधिष्ठिर को सुना दी। उसका कुछ थोड़ा-सा ही भाग यहां दिया जाता है। (उद्योगपर्व १३१ से १३५)

"तुम ऐसे मुर्दे की तरह कैसे सो रहे हो? अरे पामर, पराजित होकर मत सो। उठ अपनी शूर-वीरता का प्रभाव दिखा और सद्गति (मौत) को प्राप्त हो। अरे कापुरुष, तुमने ऐहिक कीर्ति और पारलौकिक पुण्य सभी कुछ खो दिया। पुत्र के नाम से तुम मेरे पेट में

कलि ही आ गये हो। भगवान करे, किसी भी राजवंश में इस तरह जोर से चीखनेवाला, किन्तु कृति में इतना निर्बल पुरुष जन्म न ले। तुम्हारा नाम संजय रक्खा गया है। उसे सार्थक करो। तुम्हारी पत्नी और मैं आश्रयणीय (जो लोग आश्रय दें) हैं। तुम हमें आश्रित क्यों बनाते हो।

पुत्र ने कहा, "माता, संसार का सारा लोहा एकत्र करके, भगवान ने तुम्हारा हृदय कोपपूर्ण, अकरुण, वैरमय बना दिया है। यह कौन-सा क्षत्रियाचार है, जो तुम अपने इकलौते पुत्र को इस प्रकार फटकारती हो? मेरे मरने पर या तुम्हारी आंखों से ओझल होने पर पृथ्वी का राज्य या अलंकार या भोग अथवा यह जीवन भी क्या तुम्हें इष्ट लगेगा?"

मां ने कहा, "हां, बेटा यही समय है तुम्हारे बोलने का और मेरे घाव पर नमक छिड़कने का! जिस वात्सल्य में सामर्थ्य नहीं है, वह जो सहेतुक नहीं है, वह गधी के प्रेम की तरह ही होता है। तुम क्षत्रिय हो। विजय प्राप्त करो अथवा मृत्यु को प्राप्त करो।"

पुत्र ने अंतिम उपाय के रूप में कहा, "अरे, मेरे पास धन भी तो नहीं; मैं लड़ूं भी तो किसी बिरते पर? सेना कैसे एकत्र करूंगा?" तब विदुला ने कहा, "ऐसा न कहो। मेरे पास गुप्त धन है, यदि तुम लड़ाई के लिए तैयार हो, तो मैं तुम्हें वह दे दूंगी।"

संजय लड़ा और उसने गया हुआ राज्य फिर प्राप्त कर लिया। —"कृष्ण यह आख्यान तुम युधिष्ठिर को सुनाना और अर्जुन से कहना, 'क्षत्रिय की स्त्री जिस आशा से पुत्र को जन्म देती है, उसे सफल करने का समय आ पहुंचा है। सब लोग मिलकर युद्ध करो और बड़े भाई को राजा बनाओ।' हमारी बहू से कहना कि तुम बड़े कुल की हो।"

जैसे चाबुक से घोड़ों को फटकारा जाता है वैसे ही कुन्ती ने पुत्रों को लड़ने के लिए तैयार किया। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और बहू को जो संदेश उसने भेजा, उसके द्वारा मानो उसने यही कहलाया कि "युधिष्ठिर को शरणागत न होने दें।" देवी कुन्ती का हृदय भी 'वज्रायसा', फौलाद का बना हुआ था, इसमें संदेह नहीं। पर उसके इन शब्दों से भी अधिक कठोर शब्दों में कर्ण ने कुन्ती को फटकारा था—उसे धिक्कारा

था। वह कर्ण से मिलने न गई होती तो कोई हर्ज नहीं था। परन्तु उसे तो दुर्योधन का दांव व्यर्थ करना था। इतने दिनों तक सहे अन्याय के दुःख का परिमार्जन भी करना था। इसलिए उसने यह लाचारी मंजूर की। वह एक साधारण स्त्री की तरह, वह कर्ण से मिलने गई। अपना एक विशिष्ट हेतु ही उसे सिद्ध करना था क्या? कर्ण कौन है? उसने बताया और कहा, "पांच भाइयों में तू छठा है, यह युद्ध मत कर। तेरा 'सूत-पुत्रत्व' जाकर तू 'क्षत्रियत्व' के पद को पहुंच जायगा।" ऐसा लालच भी उसे दिया गया।

कर्ण का उत्तर चाबुक की फटकार से भी तेज़ था। पहली सलामी में ही उसने 'क्षत्राणी' सम्बोधन करके ताना मारते हुए, कहा—"क्षत्राणी, जो तुम कहती हो, उसपर मेरा विश्वास है, मेरे यश और कीर्ति को समूल नष्ट करने का पाप तुमने किया है। क्षत्रिय कुल में जन्मा तो, परन्तु क्षत्रियों के संस्कार मेरे जन्म के बाद नहीं हुए। इससे अधिक बुरा मेरा कौन शत्रु कर सकता है? उस समय तो मुझपर करुणा नहीं दिखाई, और अब मुझे बुलाने आई हो? उस समय तो मां की तरह नहीं बरती और अब जो आई, तो केवल स्वार्थ साधने के लिए। पहले मुझे नहीं मालूम था कि मेरे कोई भाई है और अब एकदम यदि मैंने भाई को झंपट लिया, तो लोग क्या कहेंगे? जिन धृतराष्ट्र-पुत्रों ने मुझे इस लोक का सबकुछ दिया, क्या मैं उन्हें छोड़ सकता हूं? फिर भी तुम्हें इतना जरूर कह देता हूं कि तुम्हारे पुत्र पांच के पांच ही रहेंगे। मैं मर गया, तो भी पांच ही रहेंगे और यदि मैंने अर्जुन को मार डाला तो भी पांच ही रहेंगे।"

कुन्ती ने दुःख के साथ कहा, "अच्छा, कौरव तो सब नष्ट होंगे ही, तुम जैसा कहते हो वैसा ही होने दो। दैव के आगे किसका वश?" इन शब्दों से ऐसा मालूम होता है, कुन्ती की भावना ऐसी रही होगी कि कौरवों के साथ कर्ण का नाश न हो। या यह उसका कोरा स्वार्थ-भाव ही था?

यहां ऐसा लगता है कि मानो ने कुन्ती ने ऐसा कुछ किया कि जिससे उसके प्रति मन में कुछ तिरस्कार का भाव उत्पन्न हो। परन्तु होता यह है कि कुन्ती का दूसरा रूप ही हमारे सामने खड़ा होता है। पति की मृत्यु

के बाद माद्री को दोष लगाकर उसका शोर-शराबा मचानेवाली कुन्ती के प्रति हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न होता है। पर वही कुन्ती जीवन-भर माद्री के पुत्रों को अपने सगे पुत्रों की तरह रखती है। सहदेव की उसपर विशेष ममता थी। द्रौपदी को वह तीन की पत्नी बना सकती थी, परन्तु कुन्ती का ही आग्रह था कि वह पांचों की हो। ऐसा क्यों? उसका क्या केवल यही उद्देश्य था कि पांचों में फूट न पड़े? परन्तु समय-समय पर निकले उसके उद्‌गारों से ऐसा नहीं लगता। उसने उनको, अपनी छाती से लगाकर रक्खा और अन्त तक उन्हें अपना प्यार दिया। भूलकर भी उन्हें परायापन नहीं दिखाया।

कर्ण के विषय में भी उसका व्यवहार ऐसा ही था। कुमारावस्था में प्राप्त पुत्र को अपनाकर चलना उसके लिए संभव ही नहीं था और बाद में भी उसे वह अपना कह नहीं सकती थी। उसके इस अन्याय को कर्ण भूल नहीं सका और न वह ही भूल पाई।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया था। युद्ध में मारे गये वीरों के अंतिम संस्कारों का कार्य चल रहा था। ऐसे समय कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा, "कर्ण मेरा पुत्र था—कुमारावस्था में हुआ था। वह तुम्हारा बड़ा भाई था। अतः उसका क्षत्रियोचित संस्कार करना।" जीतेजी जो बात कर्ण के लिए न हो सकी, वह मरने के बाद करने का क्या अर्थ है? यह प्रश्न उठता है। परन्तु उसका उत्तर सहज है। कर्ण की यह शिकायत थी कि तुमने मेरे क्षत्रियोचित संस्कार नहीं किये। मेरा जन्मजात स्थान तुमने नष्ट कर दिया। कुन्ती के साथ हुई उसकी अंतिम बातचीत के समय कर्ण ने इस बात पर ज़ोर दिया था। उसकी दृढ़ मान्यता थी कि "योग्य क्रिया-कर्म करने से मनुष्य की सद्‌गति होती है।" 'यदि मुझसे और कुछ न हो सका तो कम-से-कम इतना तो कर ही देना चाहिए', ऐसा उसके मन ने कहा होगा। कुंवारेपन में जो कुछ हो गया, उसका जिक्र करने की, लौकिक दृष्टि से, आवश्यकता नहीं थी। युद्ध के पहले इसकी आवश्यकता कृष्ण को महसूस हुई थी, और कुन्ती उस अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार भी थी। परन्तु अब तो ऐसी कोई बात नहीं थी। लेकिन उसका मन ही उसे कचोटता था, अन्यथा उसकी न्याय-निष्ठुर बुद्धि उसे स्वस्थ नहीं

बैठने देती थी। कुछ भी कहिए, इस बार उसने सबकुछ कह दिया। यह बात दूसरी थी कि लोग क्या कहेंगे? परन्तु हुआ यह कि उसे खुद अपने ही लड़के की फटकार सुननी पड़ी। कहते हैं, धर्मराज को इसका बड़ा रंज रहा। अन्त में सारे भारती-युद्ध का भंडा कुन्ती पर फोड़कर वह अलग हो गया। "तुम्हारे इस गुप्त कृत्य ने हमारा सत्यानाश कर डाला। पांचाल नाश को प्राप्त हुए, कुरु भी नष्ट हो गये। द्रौपदी के पुत्र भी मारे गये। अभिमन्यु को खो दिया। यह सब इसी वजह से हुआ। यदि तुमने पहले ही कह दिया होता कि कर्ण अपना है, तो यह युद्ध ही नहीं हो पाता। कर्ण यदि हमारे पक्ष में होता, तो यह युद्ध हो ही नहीं सकता था।" वह इतना ही कहकर नहीं रह गया, बल्कि समग्र स्त्री-जाति को भी उसने एक वाहियात शाप दे डाला "आज से स्त्रियों के पेट में कोई गुप्त बात नहीं ठहरेगी।"

शाप देने की इस घटना के प्रक्षिप्त होने की बहुत संभावना है, क्योंकि सभी पर्वों में कहा गया है कि कर्ण की उत्तर-क्रिया धर्मराज ने की। बाद में शान्ति-पर्व में फिर एक बार कर्ण के जन्म की कथा आती है और वहां युधिष्ठिर के मुख में शाप की बात डाल दी गई है।

कुन्ती ने फिर एक बार अपने दृढ़ निश्चयी स्वभाव का परिचय दिया। राजधानी में, युधिष्ठिर के राजमहल में पन्द्रह साल रहने पर धृतराष्ट्र ने अरण्यवास का निश्चय किया। युधिष्ठिर, कुन्ती की पुत्र-वधुएं, अर्जुन, सभी धृतराष्ट्र का सम्मान करते थे। परन्तु भीम के उकसाने से नकुल, सहदेव आते-जाते, धृतराष्ट्र और गान्धारी के कान तक पहुंच जाय, इस तरह कोई-न-कोई ओछी बात सुनाते रहते थे। परन्तु उनके इस व्यवहार पर धृतराष्ट्र का नाक-भौंह सिकोड़ना या शिकवा-शिकायत करना संभव या उचित नहीं था। अतः धृतराष्ट्र ने स्वतः अपने तथा गान्धारी के लिए भी वहां से चला जाना ही उचित समझा। विदुर और संजय भी उनके साथ जाने के लिए निकले। कुन्ती ने भी उनके साथ जाने का निश्चय किया। उसने कहा, "अबतक बड़ों की कोई सेवा मुझसे नहीं हो सकी, अब तो वह हो जाय। मैं अपनी सास (जेठानी—गान्धारी) और श्वसुर (जेठ—धृतराष्ट्र) की सार-संभाल रक्खंगी।" यह कहकर वह भी

साथ हो गई। पाण्डवों का आक्रोश सुनकर धृतराष्ट्र ने गान्धारी से कहा कि बहू (कुन्ती) से कहो कि उसने बड़े कष्टमय दिन बिताए हैं। अब अच्छा है कि वह चार दिन अपने पुत्रों के साथ राज-वैभव में रह ले। परन्तु कुन्ती ने एक न सुनी। अन्त में युधिष्ठिर ने आंखों में आंसू भर-कर कहा, "पहले तुमने वासुदेव के द्वारा हमें विदुला की कहानी सुनाई। तुम्हारी बात मानकर हमने लड़कर राज्य जीता। अब तुम्हारी वह क्षात्रवृत्ति कहां गई, जो इस प्राप्त-राज्य, हम पुत्र-पुत्रवधुओं आदि सबको छोड़कर तुम वन को जा रही हो?" परन्तु कुन्ती ने उसकी बात न सुनी, आंखों से आंसू बहाती हुई जाने लगी। तब भीम बोला, "पांचों पुत्रों द्वारा प्राप्त किये राजपाट का सुख छोड़कर तुम कहां चलीं? यदि ऐसा ही करना था तो हमसे सारी पृथ्वी का क्षय करनेवाला यह युद्ध क्यों करवाया? माद्री के इन दोनों पुत्रों को और हमको वन से फिर हस्तिनापुर लाई ही क्यों?"

ये लोग बड़बड़ाते ही रहे। द्रौपदी आंसू बहाती हुई पीछे-पीछे चल रही थी और कुन्ती चुपचाप आगे जा रही थी। जब उसने देखा कि उसके पुत्र किसी भी तरह पीछा नहीं छोड़ते हैं, तो उसने अपने आंसू पोंछे और बोली—"पाण्डव, तुमने जो कहा सो सब सच है। तुम हिम्मत हार रहे थे, इसलिए मैंने तुम्हें चाबुक लगाया था। तुमने द्यूत में—जुए में राज्य खो दिया था। सुख से हाथ धो बैठे थे। अपने जाति-धर्म का विचार भूल गये थे। तब मैंने तुमको ऊंचा उठाया। पाण्डु की संतति नष्ट न हो, तुम्हारा यश मिट न जाय, इसलिए तुम्हें फटकारा था। मेरा तथा मेरी लाड़ली बहू का फिर अपमान न हो, इसलिए मैंने तुमको चुभती हुई बातें कहकर जगाया था। मेरे बच्चो, पाण्डु की पत्नी रहते हुए मैंने राजपाट का सुख-भोग बहुत-कुछ तो कर लिया है; दान किये, यज्ञ किये, सोमरस पीया। मैंने वासुदेव के साथ संदेश इसलिए नहीं भेजा था कि मुझे अपने लिए कुछ चाहिए था। तुम पुत्रों द्वारा प्राप्त राज्य-कुल के वैभव की मुझे ज़रा भी चाह नहीं है। अब तप करके सास-ससुर की सेवा करते हुए मुझे अपने पुण्यप्रद पतिलोक को जाने दो। तुम लोग लौट जाओ।"

कुन्ती के ये शब्द सुनकर पाण्डव शर्मिन्दा हो गये और द्रौपदी को

लेकर वापस लौट गये। कुन्ती ने गान्धारी का हाथ अपने में लिया, धृतराष्ट्र ने गान्धारी के कन्धे पर अपना हाथ रक्खा और तीनों एक कतार में हस्तिनापुर के मार्ग से आगे जाने लगे।

वन में जाने पर भी कुन्ती ही उनकी सेवा करती थी। रोज इसी तरह उन्हें गंगा पर ले जाया करती थी। पाण्डव एक बार आकर उनसे मिल गये थे। फिर सब लोग रोये। वन में जाने पर सबसे पहले विदुर चल बसे। कुल मिलाकर तीन साल वन में बीतने पर वहां बड़ी ज़ोर की आग लगी और उसमें वे तीनों—उनके शरीर, जलकर भस्मीभूत हो गये। मरते समय भी कुन्ती सीधी सीना तानकर मरी। धृतराष्ट्र ने संजय से कहा कि तुम बचकर निकल जाओ। आग जैसे-जैसे आगे बढ़ने लगी, सब लोग जमीन पर बैठ गये। सांस रोककर प्राणायाम किया और इसी अवस्था में संजय के देखते हुए वे अग्निसात् हो गये।

चार

पिता-पुत्र

बचपन में पाण्डवों का रक्षण—लालन-पालन किसने किया? कुन्ती यद्यपि जागरूक थी, परन्तु उनको मार डालने की जो युक्तियां की जाती थीं, उनमें से उन्हें किसने बचाया? विदुर ने।

भीष्म ने धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था तो की, परन्तु उनकी रक्षा का कोई खास प्रयत्न नहीं किया। इसका कारण यह तो नहीं रहा होगा कि धृतराष्ट्र के तथा पाण्डु के पुत्रों में जो स्पर्द्धा व ईर्ष्या चल रही थी, उसे वह समझ ही न पाया हो; या वह कुछ करने में असमर्थ था या उदासीन था? जो कुल निर्वंश होने जा रहा था वह संभल गया। जहां एक भी नहीं था वहां दो हो गये और दो के फिर एक सौ पांच हो गये। उन एक सौ पांच में कुछ मर भी गये तो उसकी उसे परवाह नहीं थी। वह सिर्फ इतना ही चाहता था कि हस्तिनापुर की गद्दी पर कुरु-वंश का आधिपत्य हो। क्या भीष्म की जागरूकता सिर्फ इतने ही के लिए थी? परन्तु ऐसा नहीं कह सकते। हां, इतना अलबत्ता ठीक है कि द्रौपदी के स्वयंवर तक उसने इन भाइयों में परस्पर ईर्ष्या का अथवा धृतराष्ट्र के दुष्ट हेतु का प्रवेश नहीं होने दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसको इसका अनुमान भी नहीं था। परन्तु पाण्डवों के हितों के लिए यदि कोई व्यक्ति पिता की तरह सावधान और तत्पर रहा हो, तो वह था विदुर। परन्तु विदुर खुद ही इतना परतन्त्र था कि धृतराष्ट्र की कुटिलता और दुर्योधन की असूया का पता लगने तक, यह सावधानी भी उसे पहले-पहल बड़ी चतुरता से करनी

पड़ी थी कि किसीको पता न लगने पावे। दुर्योधन, शकुनि इत्यादि तो पाण्डवों को मार डालने पर तुले ही बैठे थे। डुबो देना, सांपों से कटवाना, भोजन में विष मिला देना, इत्यादि अनेक प्रपंच उन्होंने भीम के विरुद्ध रचे। युयुत्सु ने हर बार उनकी गुप्त मंत्रणाएं पाण्डवों को बता दीं। पाण्डव भी, आदिपर्व में कहा गया है कि, इस सारी शत्रुता को जानते हुए भी, जाहिरा कुछ न दिखाते हुए, विदुर की सलाह पर चले। विदुर ने कुन्ती के हित की भी रक्षा की। ये सभी राजपुत्र जब अपनी-अपनी शस्त्र-विद्या का प्रदर्शन कर रहे थे तब कर्ण वहां चुपचाप आ गया। ज्यों-ही अर्जुन और उसकी ठनने ही वाली थी कि कुन्ती बेहोश होकर गिरते-गिरते बची। विदुर ने उसे धीरज दिया और बड़ी तरकीब से दोनों लड़कों को युद्ध से बचाया और उस प्रसंग को टाल दिया। विदुर का पाण्डवों के प्रति यह झुकाव सर्वथा छिपा न रहा। धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने पाण्डवों को राजधानी से दूर हटा देने का जब दांव फेंका था उस समय दुर्योधन ने अपने पिता से कहा था—"भीष्म हमारे और पाण्डवों के बीच मध्यस्थ जैसे हैं, हममें से कोई भी उनके बहुत निकट नहीं है। द्रोणाचार्य का पुत्र हमारे पक्ष में है, और जिधर बेटा ले जायगा उधर बाप जायगा और उन्हींके साथ ही कृपाचार्य भी। परन्तु विदुर अलबत्ते भीतर से उनके पक्ष का है। मगर वह अकेला हमारे खिलाफ कुछ नहीं कर सकेगा। (१-१३०-१६-१८) धीरे-धीरे धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को वारणावत भेजने का उपक्रम किया और आगे उसमें अपनी मृत्यु दिखाई देते हुए भी युधिष्ठिर को वहां जाना पड़ा। सबसे बिदा होते हुए विदुर ने दुमानी बात कहकर भावी संकट की ओर संकेत किया था और उसमें से कैसे बच सकेंगे, इसका रास्ता भी बताया था। फिर पाण्डवों के वारणावत में जाने पर उनके पास अपना एक विश्वासपात्र कारीगर भी भेज दिया, जिसने वहां एक सुरंग बना दी। विदुर ने इस प्रकार छिपे-छिपे उनकी रक्षा की। द्रौपदी से पाण्डवों का विवाह होने के बाद तो विदुर खुल्लमखुल्ला पाण्डवों के पक्ष में धृतराष्ट्र के सामने बोलने लगा था। कारण स्पष्ट था। कौरवों के नजदीक विदुर की स्थिति जैसी थी वैसी ही थी। वह किसीके लिए कुछ भी नहीं कर सकता था, परन्तु पाण्डव

अब स्वतन्त्र हो गये थे। उनकी पीठ पर अब पांचालों का सामर्थ्य था। यादवों का भी बल था। अब चुपचाप रहकर कौरवों के इरादों को चुपके-चुपके विफल करने का प्रश्न नहीं था। आदि पर्व में परिस्थिति का यह फर्क बड़ी मार्मिक रीति से बताया गया है। द्रौपदी को पाण्डवों ने प्राप्त कर लिया, जिससे दुर्योधन आदि को हारकर हाथ मलते वापस लौटना पड़ा। यह जानने पर विदुर धृतराष्ट्र के पास गया और कहा—'कौरवों का अभिनन्दन हो। पाण्डव क्या, और दुर्योधनादि भाई आदि क्या, सब कुरु के ही वंशज अर्थात् कौरव ही तो हैं।" इसपर धृतराष्ट्र ने समझा कि पाण्डव तो लाक्षागृह में जल गये। अतः द्रौपदी को प्राप्त करके अपना पुत्र दुर्योधन ही लौटा होगा, सो हर्ष से उछलकर बोला—"बहुत अच्छा, खूब किया, लाओ द्रौपदी को लाओ, अरे दुर्योधन, उसे गहने-कपड़े से सजाओ।" बाद में विदुर ने असली बात बताई और धृतराष्ट्र ने बचपन से ही पाण्डवों को समय-समय पर संकट और कष्ट में डालकर अन्त में अग्नि में जला डालने की जो चाल चली थी, उन सबके लिए विदुर ने इस समय धृतराष्ट्र की खबर ले डाली। तब धृतराष्ट्र बोला, "वे भी मेरे पुत्र ही हैं, विदुर, वे भी मुझे प्यारे हैं।" इसपर विदुर ने कहा—"आपके मुंह में शकर पड़े। उनके विषय में आपकी मति ऐसी ही बनी रहे।" विदुर के चले जाने के बाद दुर्योधन आदि वापस आकर धृतराष्ट्र से फिर यह मशवरा करने लगे कि पाण्डवों को कैसे खत्म किया जाय। तब धृतराष्ट्र ने समय और मौके को पहचानकर कि अब गुप्त साजिशें करने में कोई फायदा नहीं, भीष्म, द्रोण, विदुर सबको बुलाया। सबने उससे अनुरोध किया कि पाण्डवों से मेल-मिलाप रखा जाय। इस समय का विदुर का भाषण बड़ी हार्दिकता लिये हुए था। फिर विदुर खुद जाकर पाण्डव, द्रौपदी, कुन्ती आदि को बुला लाया और धृतराष्ट्र ने उन्हें आधा राज्य देने का कहकर खाण्डवप्रस्थ दे दिया। इसके बाद तो विदुर ने बिल्कुल खुले तौर पर हमेशा पाण्डवों का पक्ष लिया है।

महाभारत में विदुर का व्यक्ति के नाते, अपना एक विशिष्ट स्थान और कार्य है। इसके अलावा भी वह एक खास वर्ग का था। उस सारे वर्ग का भी एक विशेष कार्य इस कथा में है। इस वर्ग के जो दुःख-दर्द

थे वे तो विदुर के थे ही, परन्तु खुद उसकी भी अपनी शिकायतें थीं। विदुर 'क्षत्ता' था। 'क्षत्ता', 'सूत' अथवा 'पारशव' आदि नाम इस वर्ग के थे। इनकी स्पष्ट व्याख्या करना कठिन है। कर्ण इसी वर्ग का था। एक क्षत्रिय कुमारी ने जन्मतः ही जिसे छोड़ दिया था और एक सूत (अधिरथ) ने उसे अपना पुत्र माना था। इस कारण वह सूत था। विराट पर्व में इसका वर्णन आता है। अर्थात् इस पोषित पुत्र 'कर्ण' के अलावा भी अधिरथ और राधा को दूसरी सन्तान थी, और वह सूत वर्ग की ही। कर्ण ने खुद भी सूतों से शरीर-संबंध, (विवाह) जोड़ा था। उसकी पुत्र-वधू दामाद सब सूत ही थे। अपनी आंखों देखा युद्ध का वर्णन करनेवाला संजय भी सूत ही था। धृतराष्ट्र की वैश्य-पत्नी से उत्पन्न पुत्र, युयुत्सु को धृतराष्ट्र पुत्र की तरह मानते थे। परन्तु वह भी 'क्षत्ता' अथवा सूत ही था। अम्बिका और अम्बालिका की कोई एक दासी और व्यास से उत्पन्न विदुर भी सूत ही था। विदुर की पत्नी 'कन्या पारशवी' सूत-जाति की ही थी। सुदेष्णा का भाई विराट का सेनापति कीचक भी सूत ही था। नेमिशारण्य में ऋषियों को जिसने महाभारत की कथा सुनाई वह उग्रश्रवा रो(लो)महर्षण भी सूत ही था। सूत सारथि थे, अस्त्रजीवी थे। पुराणों और राज-वंशों के ज्ञाता थे। सूत और मागध इनका उल्लेख एक ही समास में 'सूत-मागध' किया हुआ मिलता है। परन्तु मागधों का स्थान सूतों से बहुत नीचे था।

सूत क्षत्रियों के अपने बहुत निकट के आप्त ही मालूम होते थे। इसका कारण यों मालूम होता है कि सूत बहुत बार क्षत्रियों के सौतेले भाई हुआ करते थे जैसे विदुर और युयुत्सु। मागध केवल स्तुति-पाठक किन्तु सूत बहुधा बराबरी के और कभी-कभी सिरचढ़े (जैसे कीचक) होते थे। वे अपने क्षत्रिय-भाइयों को और पोषकों को उपदेश भी कर सकते थे जैसे संजय-विदुर। उनके सलाह-मशविरे में बराबरी से बैठते थे. जैसे संजय। उनकी सुन्दर लड़कियां 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' इस न्याय से क्षत्रियों से विवाह कर सकती थीं जैसे सुदेष्णा। परंतु क्षत्रियों की कन्याएं उन्हें विवाह में नहीं मिल सकती थीं। दुर्योधन ने

कर्ण को राजा बना दिया, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि विवाह-संबंध नहीं किया । दुर्योधन कर्ण को मित्र कहता था, परन्तु दोनों में पूर्ण समानता का रिश्ता नहीं था । सेव्य-सेवक-भाव अन्त तक दिखाई देता है । यही अवस्था इन सूतों की भी थी । विदुर की भी थी । विदुर और उसके भाई सब एक ही पिता के पुत्र थे, परन्तु पहले दो की माताएं क्षत्रिय-कन्याएं और मृत राजा की पत्नियां थीं । उसकी माता दासी थी, परन्तु मृतराजा की पत्नी नहीं । यदि ऐसा न होता तो विदुर राजा ही हो गया होता; महाभारत में स्पष्ट ही ऐसा कहा गया है । यादवों के भीषण अन्त के बाद इन्द्रप्रस्थ का राज्य वज्र को मिला । हस्तिनापुर का परीक्षित को । परन्तु धृतराष्ट्र-पुत्र होने पर भी, सूत होने के कारण, बेचारे युयुत्सु को कुछ भी नहीं मिला । इस वर्ग की अवस्था ऐसी ही थी । क्षत्रियों के अतिशय निकट के, क्षत्रियों के रक्त के, क्षत्रियों को साधिकार उपदेश कर सकनेवाले होकर भी ये लोग क्षत्रियों की बराबरी नहीं कर सकते थे । वे अथवा उनकी सन्तान सिंहासन पर नहीं बैठ सकती थी । धृतराष्ट्र अन्धा था । अतः उसे राज्य नहीं मिला । पाण्डु विकलांग था । फिर भी उसे राज्य मिला । परन्तु सब दृष्टियों से योग्य व्यक्ति होते हुए भी विदुर कोरा-का-कोरा ही रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि सूतों के घर राज्यांगण के निकट ही थे । परन्तु क्या विदुर और क्या संजय अपने-अपने घरों में राजमहल से कुछ दूर रहते थे । धृतराष्ट्र का विदुर से प्रेम था । परन्तु उसमें भी एक प्रकार की हुकूमत का रौब था । जब कभी समय-असमय आवश्यकता होती वह विदुर को बुलाने भेजता । इसी तरह जब कभी पाण्डवों को भी कुछ संदेशा भिजवाना होता, तो वह विदुर को ही भेजता । एक बार गुस्से से धृतराष्ट्र ने विदुर को राजमहल से निकाल भी दिया था । पर उसे पश्चात्ताप हुआ और विदुर को वापस बुला लिया गया । उससे क्षमा मांगी और उसे छोटा भाई कहकर अपनी गोदी में बिठा लिया । इस प्रकार का हृदयंगम वर्णन महाभारत में आता है । भाई तो जरूर था, परन्तु ऐसा कि जिसे अन्न-वस्त्र के अलावा और किसी प्रकार का कोई हक नहीं था । भीष्म यद्यपि कुल-ज्येष्ठ था, तो भी पाण्डवों और कौरवों के साथ वह समान-रूप से

व्यवहार करता था । उसने ऐसा प्रयास भी किया कि युद्ध न हो । परन्तु विदुर के मन का झुकाव पाण्डवों की ओर था । पाण्डव बड़े जबर्दस्त योद्धा हैं । उनके हाथों कौरवों का नाश हो जायगा, ऐसा भीष्म बार-बार कहा करता था । विदुर भी इस बात को जानता था, परन्तु विदुर की भाषा में न्याय-भाव अधिक होता था । पाण्डवों के बचपने पर उसे दया भी आती थी । ऐसा क्यों ? जो बालक असहाय अवस्था में स्वतः हस्तिनापुर आये थे, उनके प्रति सहानुभूति तो इसके मूल में नहीं थी ? या ऐसी भावना तो नहीं थी कि मुझे राज्य का अधिकार यद्यपि नहीं है, तो जिन्हें वह है उनसे तो न छीना जाय ? विदुर शब्द का अर्थ ज्ञानी होता है, और सम्पूर्ण महाभारत में विदुर के ज्ञानी होने का जो परिचय मिलता है वहां परमार्थिक है । वह इस बात पर जोर देता था कि जगत् में समभाव और न्याय-युक्त व्यवहार करना चाहिए । लोभ नहीं रखना चाहिए । आत्मा की चिरंतनता को पहचानना चाहिए । और उसने जिसको इस ज्ञान का पाठ पढ़ाया वह धृतराष्ट्र आंखों से अन्धा था । खुद राज्य का अधिकारी था, किन्तु वह उसे पा न सका था । इसका दुःख उसे था और यदि 'मुझे न मिल पाया तो कम-से-कम मेरे पुत्रों को तो मिल जाय,' ऐसी ईर्ष्या उसके मन में थी, जिससे उसका सदसद्-विवेक नष्ट हो गया था । पहले-पहले तो उसने पाण्डवों के अल्प वयस्क रहते हुए विदुर की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया । और जब बाद में सुनने लगा तो यह कहकर कि 'मैं क्या कर सकता हूं ? पुत्र अब मेरे हाथों में नहीं रहा ।' कहकर विदुर के उपदेश से अपना बचाव कर लिया करता था । विदुर के पास समझदारी थी, परन्तु सत्ता नहीं थी । द्रौपदी स्वयंवर के बाद उसने एक बार ही धृतराष्ट्र को नीचा दिखाया था । उसके बाद सारा युद्ध समाप्त होने पर उसने कहा—"अब रोने से क्या फायदा ? जब पाण्डव जुए में हार गये थे तब तो एक छोटे बच्चे की तरह अपने पुत्रों की जीत पर तुम नाचने लग गये थे । मैं कहता ही रहा—'भैया, यह विजय नहीं सत्यनाश है । तब तुमने नहीं सुना । अब क्षत्रियों जैसा बर्ताव करो और शोक न करो ।" इन वचनों में उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं दिखाई देता ।

हमें जो भोगना पड़ता है वह अपने ही कर्मों का तो फल है। अतः अब जो कुछ आ पड़ा है, उसे धैर्य से सहन करना चाहिए। ऐसी ही ध्वनि उसके कथन की थी। विदुर कभी इस बात के लिए दुःखी नज़र नहीं आया कि खुद उसे कुछ मिला नही। यों देखा जाय, तो महाभारत के अन्य पात्रों के मुकाबले उसका जीवन सुख में ही बीता। उसने विवाह किया था, अपने ही घर में रहकर वह भजन-पूजन, मनन-चिन्तन में मगन रहता था। उसके बाल-बच्चे भी हुए थे। वह ज्ञानी के नाम से प्रसिद्ध था। फिर भी उसका सारा जीवन एक प्रकार से उदास और निराश मालूम होता है। महाभारत का प्रत्येक पात्र, स्त्री हो या पुरुष, ऊंचा हो या नीचा, किसी-न-किसी झमेले में ही उलझा दीखता है। धृतराष्ट्र और पाण्डु, गांधारी और कुन्ती, दुर्योधन और पाण्डव, द्रौपदी और सभुद्रा, उत्तर और उत्तरा और उनके पुत्रादि, तथा कृष्ण और इधर यादव इन सबका जीवन क्षोभमय और उत्कट दिखाई देता है। उसमें चढ़ाव-उतार है, प्रेम है, द्वेष भी है। और यदि शान्ति-जैसी कुछ थी भी तो, वह मरणोत्तर-जैसी, अथवा जीवन के अन्त में बड़े-बड़े आघात सहन करने के बाद, थक जाने पर, बड़े प्रयत्न से जान-बूझकर प्राप्त शान्ति की तरह थी। इसे वास्तविक शान्ति नहीं कह सकते। उसमें भी एक प्रकार का सुप्त आक्रोश था। धृतराष्ट्र, गांधारी और कुन्ती का वनवास, अथवा पाण्डव और द्रौपदी का महाप्रस्थान शान्ति-दायक अथवा शान्ति-कारक नहीं प्रतीत होता।

जो हालत क्षत्रियों की थी वही उनके निकटवर्ती सूतों की थी। जो संजय केवल युद्ध के समाचार देता रहता था, वह भी आसपास के इस झगड़े से अलिप्त नहीं रह सका, ऐसा जगह-जगह दिखाई पड़ता है। द्रोण, अश्वत्थामा जैसे व्यक्ति भी, मन और शरीर से अत्यन्त दुखदायक व्यापार से बच नहीं सके। इन सबके विपरीत विदुर का जीवन एक प्रकार से ऊंचा उठा हुआ दिखाई देता है, तो दूसरी तरफ बिल्कुल भुला दिया जाता है। वह दासी-पुत्र के रूप में जन्मा और राज्य से वंचित रहा। ऐसा लगता है मानो उसने अपने लड़कपन में ही अपनी विफलता को पीकर जीवन का एक विशिष्ट भाग निश्चित कर लिया था। यों तो महाभारत में सभी

के मन के विचारों को वाचा दी गई है, परन्तु विदुर के विषय में कहीं कुछ भी नहीं कहा गया है। क्या सचमुच ही वह विदुर और ज्ञानी था? या प्रत्यक्ष यम—धर्म—का अवतार था, इसलिए दरअसल ही जीवन के उतार-चढ़ाव ने उसे छुआ ही नहीं। यह भी नहीं कह सकते कि वह बिल्कुल उदासीन ही था। वह पाण्डवों का कृपालु रक्षक था। क्रूरता और अन्याय से उसे घृणा थी। परन्तु उसने अपना स्थान नहीं छोड़ा। युद्ध के पहले दिन दोनों सेनाओं के आमने-सामने खड़ी रहते हुए युयुत्सु खुल्लमखुल्ला पाण्डवों से जाकर मिल गया, परन्तु पांडवों को न्याय दिलाने के लिए धृतराष्ट्र से निरन्तर झगड़ते हुए भी विदुर ने धृतराष्ट्र को नहीं छोड़ा। धृतराष्ट्र की भर्त्सना भी उसने की। परन्तु धृतराष्ट्र जब संकट में, शोक में पड़ा तब सांत्वना भी विदुर ने ही उसे दी थी।

भीष्म ने लड़कपन में धृतराष्ट्र और पाण्डु का जिस प्रकार लालन-पालन किया वैसा ही विदुर का भी किया था। विदुर बड़ा होने पर विदुरत्व को प्राप्त हो गया था। राज-सभा में, विशेषतः द्रौपदी-चीर-हरण और कृष्ण-मध्यस्थता के समय, विदुर और भीष्म ने भी भाषण दिये हैं। परन्तु उन दोनों के बीच एक दूसरे से बातचीत या विचार-विनिमय हुआ हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं पड़ता। आदिपर्व के अध्याय १०३ में उनके सम्भाषण का जो प्रसंग आया है, वह स्पष्टतः प्रक्षिप्त मालूम होता है। वह इस प्रकार है—भीष्म विदुर से कहता है, "सुबल की पुत्री (गांधारी) मद्र की राजकन्या (माद्री) और यादवी (कुन्ती) को अपनी पुत्रवधू बनायें, ऐसा मुझे लगता है। विदुर, इसपर तुम्हारा क्या मत है?" विदुर कहता है—"आप ही हमारे माता-पिता, बड़े सब-कुछ हैं। जैसा आप ठीक समझें, कर लें।" इसके बाद गांधारी, कुन्ती और माद्री का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से आता है। अर्थात् ये प्रथम आठ श्लोक बिल्कुल निरर्थक हैं। इस समय विदुर के दोनों बड़े भाइयों के विवाह का विचार चल रहा था। विदुर का विवाह अभी होना बाकी था। सब लोग बीस वर्ष से कम आयु के होंगे। विदुर सबसे छोटा था। ऐसी अवस्था में भीष्म का विदुर से सलाह लेना संभव नहीं लगता। भीष्म ने अपने दोनों

बड़े भतीजों का विवाह करने के बाद देवक नामक राजा की दासी-पुत्री से विदुर का विवाह किया। उसे अच्छी सन्तान भी हुई। इसका दो-तीन श्लोकों में वर्णन किया गया है। उसके बाद फिर विदुर के स्त्री-पुत्रों का महाभारत में कहीं उल्लेख नहीं आया है। महाभारत में हुई मानसिक तथा शारीरिक भीषण स्पर्द्धा से विदुर ने खुद को अलिप्त ही रखा है। यही नहीं, अपने परिवार को भी अछूता ही रखा, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी मन में यह शंका आ ही जाती है कि विदुर अन्दर-अन्दर गहराई में कहीं गुंथ गया हो, लिप्त रहा हो।

हमने कहा कि विदुर पाण्डवों का पृष्ठपोषक था, परन्तु सभी पाण्डवों से उसका संबंध एक-जैसा नहीं था। उसका युधिष्ठिर से खास निकट का संबंध था। वारणावत जाते हुए भावी संकट की खबर उसने युधिष्ठिर को दी थी। कुन्ती ने युधिष्ठिर से पूछा, "विदुर ने तुमसे क्या कहा? हमें कहो न?" तब कहीं युधिष्ठिर ने सबसे कहा कि विदुर ने क्या बताया था। कौरवों की राजसभा से जब-जब वह आता तब-तब वह युधिष्ठिर से बातें करता था। कृष्ण और अर्जुन, कर्ण और दुर्योधन इनकी मित्रता की तरह यह एक मैत्री-संबंध नहीं था, जो स्पष्टतः संसार को दिखाई देता। वह बराबरी की मित्रता का नाता भी नहीं था। युधिष्ठिर ने जैसा कहा है, उसके अनुसार विदुर ने पिता के तौर पर पांडवों की रक्षा की थी। परन्तु इतर पाण्डवों की अपेक्षा युधिष्ठिर ही उसके अधिक निकट था। युधिष्ठिर और विदुर में एक विलक्षण साम्य भी है। विदुर नीतिज्ञ, धर्मज्ञ होने के कारण विदुर के नाम से प्रसिद्ध था, तो युधिष्ठिर अपनी पीढ़ी का बड़ा विद्वान्, विचारशील और धर्मज्ञ के रूप में प्रसिद्ध था। उसकी बुद्धिमत्ता की परीक्षा अरण्यपर्व में यक्षप्रश्न के समय हुई। फिर महा-प्रस्थान के समय भी हुई। पाण्डु का, अर्थात् राज्याभिषिक्त राजा का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वंशपरंपरागत राज्य उसे मिल जाना चाहिए। परन्तु उसमें भी झंझट और कठिनाई पैदा हो गई। लड़कपन में ही शत्रु के यहां चुपचाप दीन, असहाय होकर उसे रहना पड़ा। वह राज्य का अधिकारी है, यह बात क्षणभर के लिए भी भूल जाने जैसी नहीं थी। यही क्यों, उसके छोटे भाई तथा माता ने भी उसे यह बात

कभी भूलने नहीं दी। भीम व अर्जुन-जैसा युद्ध-प्रिय युधिष्ठिर नहीं था। ब्राह्मणों को एकत्र करना, उनके द्वारा यज्ञ कराना, उन्हें दक्षिणा देना, लोगों से आशीर्वाद प्राप्त करना, धार्मिक विषयों का ऊहापोह करना, प्राचीन राजाओं के चरित्र सुनना, मज़े में चौपड़ खेलना, यह उसका दैनिक क्रम बन गया था। परन्तु जो जीवन वह जीया वह अलबत्ते धका-पेल का; और जो कुछ उसे मिला वह भी दूसरों के पौरुष से। अत्यन्त रूपवती पत्नी और द्रुपद की तरह बलशाली ससुर मिले, सो अर्जुन की बदौलत। दोनों समय वनवास में जो रक्षण मिला वह भी भीम के बल से। इन्द्रप्रस्थ का राज्य और मय-सभा की तरह अनुपम सभा का निर्माण हुआ सो कृष्ण व अर्जुन के कारण। अन्त में जो भारती-युद्ध में विजय प्राप्त हुई वह भी भाइयों के पराक्रम और कृष्ण के बुद्धि-बल व कौशल पर। यह होते हुए भी युद्ध में एक-दो बार भाइयों से कहा-सुनी होने का अवसर आ ही गया। अन्त में जो भी हाथ लगा उसकी इतनी भारी कीमत चुकानी पड़ी कि मुख विजय से उज्ज्वल हो जाने के बजाय विषाद की राख से पुता हुआ लगता था। धर्मराज युधिष्ठिर का जीवन भी शुरू से आखिर तक विषादपूर्ण रहा है। इस विषय में वह विदुर के निकट मालूम होता है। उपलब्धि का पात्र होते हुए भी कुछ मिला नहीं, यह विदुर की विष्णता, और अधिकार-प्राप्त वस्तु भी दुष्प्राप्य होकर मिली, सो भी भारी कीमत देकर, यह धर्मराज की विफलता। विदुर की विफलता का ढिंढोरा महाभारत में नहीं पीटा गया। परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर की विफलता बार-बार उसके मुँह से कहलाई गई है। युधिष्ठिर बड़ा विवेकवान था, फिर भी अन्त के समय जब द्रौपदी नीचे गिरकर मर गई, तब भी उसने मानो हतप्रभ होकर यह कहकर कि द्रौपदी का प्रेम अर्जुन से विशेष था, अपने हृदय का कथन ही मानो प्रकट किया था। कभी-कभी यह प्रतीत होता है कि जुआ खेलने के लिए जब युधिष्ठिर बुलाया गया तो उसमें अपना राज्य, पुत्रादि, अपनी पत्नी तक को मानो उन्माद में होकर दांव पर लगाने से जो मनो-वेदना उसे हुई, वह उसने प्रकट कर दी। जो चीज उसे स्वश्रम से प्राप्त नहीं हुई थी,

उसे यों ही गंवाकर क्या धर्मराज ने कोई बड़ा पुरुषार्थ किया, या उसने यह दिखाया कि मेरे लिए सब तुच्छ है, मुझे इनकी परवाह नहीं ?

धर्मराज सभी बड़े-बुजुर्गों का मान रखता था, परन्तु विदुर के प्रति उसे हार्दिक प्रेम था, ऐसा मालूम होता है। इनसब बातों पर ध्यान देने से मन में ऐसी शंका पैदा होती है कि विदुर का और धर्मराज का संबंध कहीं पिता-पुत्र का तो नहीं था ? महाभारत में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनसे इस शंका को पुष्टि मिलती है। महाभारत में कैसी और किसीकी भी कोई बात छिपाकर नहीं रक्खी है। कुन्ती को कुमारावस्था में हुए पुत्र तक का जिक्र उसमें है। फिर यदि कुन्ती को विदुर से पुत्र उत्पन्न हुआ होता, तो उसे छिपाने की क्या जरूरत थी ? हमारा ख्याल है कि यह बात हुई ही न होगी। सब कुन्ती-पुत्रों का जन्म विभिन्न देवताओं द्वारा हुआ दिखलाया गया है। पांडु के जीवित रहते ये सब पुत्र हुए और पाण्डु ने भी उन्हें अपना पुत्र माना—अतः बीज-क्षेत्र-न्याय से वे उसीके होते हैं। उनमें यदि कोई पुत्र विदुर से हुआ होता, तो उसमें कोई हलकापन आने की बात नहीं थी। परन्तु एक शंका जरूर मन में आती है कि धृतराष्ट्र का पुत्र क्षत्रिय-राजकन्या से हुआ था और खुद धृतराष्ट्र भी एक राजवंशीय और ज्येष्ठ पुत्र था। इसके विपरीत कुन्ती यद्यपि राजकन्या थी, तो भी विदुर सूत था। सूत से उत्पन्न पुत्र होने के कारण ज्येष्ठ होने पर भी युधिष्ठिर का अधिकार (हक) दुर्योधन के मुकाबले में क्या कम साबित होता ? यह एक प्रश्न उठता है। इसका महाभारत में कोई उत्तर नहीं है। आदि-पर्व में जिस समय किसी एक देवता को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कराने का निश्चय होता है, तब सहसा यम—धर्मराज की ही याद होना, आश्चर्वजनक जरूर है।

इस पहले पुत्र का नाम युधिष्ठिर; उसका नाम 'धर्म' पड़ने के अनेक कारण हैं। यम-धर्म का पुत्र होने से धर्म, अत्यन्त धार्मिक होने के कारण भी धर्म, इसके अलावा विदुर का होने के कारण भी धर्म नाम पड़ने की काफी संभावना थी। विदुर एक शापित यम-धर्म ही था। यहां माण्डव्य

ऋषि की कथा देखने योग्य है। विदुर कुन्ती का छोटा देवर था। इस न्याय से वह नियोग के लिए बिलकुल योग्य था। धर्म की आज्ञा के अनुसार होने के कारण भी युधिष्ठिर का नाम धर्म होने की संभावना थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म विदुर का पुत्र होना चाहिए।

दूसरे भी एक-दो प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे यह तर्क पुष्ट होता है। धृतराष्ट्र गान्धारी, कुन्ती और विदुर ये सब अरण्यवास में थे। धर्म तथा दूसरे पाण्डव उनसे मिलने के लिए वन में जाया करते थे। ऐसे एक समय विदुर दिखाई नहीं दिया, तो युधिष्ठिर ने उसकी पूछताछ की। तब धृतराष्ट्र ने कहा, "विदुर घोर तप कर रहा है। वह कुछ खाता-पीता नहीं है। कभी-कदास अरण्य में फिरता हुआ वह लोगों को दिखाई दे जाता है।" वह इतना कह पाया था कि एक अस्थिपंजर सर्वांग में धूलि-धूसरित, नंग-धडंग विदुर दूर जाता दिखाई देता है, ऐसा लोगों ने बताया। यह सुनकर युधिष्ठिर यह पुकारते हुए कि "विदुर ठहरिए, मैं आपका प्यारा युधिष्ठिर हूं" उसके पीछे-पीछे दौड़ा गया। इस तरह एक-दूसरे के पीछे भागते जाते हुए घने जंगल के एकान्त में विदुर एक पेड़ के सहारे खड़ा हो गया। फिर जब दुबारा युधिष्ठिर ने अपना परिचय दिया कि 'मैं युधिष्ठर हूं' तब विदुर अपनी एकटक दृष्टि राजा की दृष्टि में गड़ाकर उसके अंग-अंग में योगबल से प्रविष्ट हुआ। अपने प्राण, इन्द्रियां, तेज सब-कुछ विदुर ने राजा को दे दिया। मृत्यु के समय का यह व्यवहार पिता-पुत्र के योग्य ही है। एक उपनिषद में वर्णन आया है कि मरणासन्न व्यक्ति को क्या करना चाहिए। वह पृथ्वी पर लेट जाय, पुत्र को अपने अंग से मिलावे और कहे "मैं अपनी इन्द्रियां तुम्हें देता हूं।" तब पुत्र कहे "मैं लेता हूं।" इसी तरह शक्ति, ऐश्वर्य, बुद्धि सबकुछ पिता पुत्र को दे दे और पुत्र उसे ले। इस प्रकार की एक कर्म-विधि बताई गई है। महाभारत के विदुर और धर्मराज की अंतिम भेंट के अवसर पर यही क्रिया संक्षेप में बताई गई है। फिर आगे दो अध्यायों के बाद व्यास के सबसे मिलने के लिए आने पर विदुर के संबंध में वह कहता है—"पहले विचित्रवीर्य की दासी से मेरे द्वारा साक्षात् धर्मराज ही योगबल से जन्मा और उसने योगबल से

कुरुराज युधिष्ठिर को जन्म दिया। जो धर्मराज वही विदुर, वही पाण्डव और वही धृतराष्ट्र। जिस तरह तुम्हारा वह भाई तुम्हारी सेवा-चाकरी कर रहा था वैसा ही युधिष्ठिर व धर्म तुम्हारी कर रहा है।"

अर्थात् कुन्ती ने अपने छोटे देवर से धर्मराज को उत्पन्न किया। यह बात सारा युद्ध समाप्त होने तक गुप्त रखकर महाभारत में उसको ऐसे समय प्रकट किया है कि "अन्त में विदुर और धर्मराज की एकता पिता-पुत्र की एकता थी या दोनों ही साक्षात् यम-धर्म के पुत्र थे," यह संदेह बाकी रह ही जाता है। कुन्ती को विदुर से सिर्फ एक ही पुत्र हुआ, दूसरा क्यों नहीं ? यदि इस तरह विचार करें तो फिर ऐसा मालूम होता है कि यदि नियोग से किसी पुरुष का संग किया जाय तो वह सिर्फ एक ही पुत्र की प्राप्ति के लिए, ऐसी धारणा थी। इसलिए विदुर और कुन्ती का दुबारा संयोग न हुआ और उसे दूसरे पुरुषों को बुलाना पड़ा। अलबत्ते यह बात सही है कि इस अंतिम क्षण तक विदुर और धर्म के रिश्ते का और एक-दूसरे के प्रति होनेवाली हार्दिकता का दूसरे विषयों में महाभारत (जो कि अतिशय स्पष्ट वक्ता रहा है) में कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यदि ऐसा मान लें कि विदुर और धर्मराज का पिता-पुत्र का नाता था—होने की संभावना है, तो समस्त महाभारत की कथा को एक दूसरा ही मोड़ देना होगा। दूसरा भिन्न ही अर्थ प्राप्त होता है। यदि धर्मराज विदुर का औरस पाण्डु का क्षेत्रज पुत्र हो तो भारतीय-युद्ध केवल दो भाइयों के पुत्रों का युद्ध न होकर, तीन भाइयों के पुत्रों का युद्ध हो जायगा। परन्तु तिहेरी लड़ाई होती नहीं। क्योंकि एक व्यक्ति दोनों का लड़का हुआ न ? पाण्डु दूर हिमालय में इसलिए गया कि किसीको यह मालूम न हो कि मेरे क्षेत्रज पुत्र का पिता कौन था ? यह किसीको भी पता नहीं लगा कि उसके पुत्रों का पिता कौन था ? व्यास की तरह पाण्डवों का पितृत्व कभी स्पष्ट नहीं हुआ। विदुर पुत्र के लिए कभी किसी षड्यंत्र में नहीं पड़ा। अन्त तक उदासीन और अलिप्त ही रहा। पुत्र के राजा होने

पर भी, राजा के पिता के रूप में, धृतराष्ट्र की तरह, वह गर्वान्वित नहीं हुआ। विदुर की खिन्नता युधिष्ठिर के भी हिस्से में आई। जो हक का था वह सबकुछ मिला। परन्तु वह इतनी हानि उठाकर कि सबकुछ मिल जाने पर भी धर्मराज अन्त तक केवल उदासीन ही नहीं, अकृतार्थ भी रहा।

पांच

द्रौपदी[1]

१

द्रौपदी और सीता भारत के दो महान् काव्यों की नायिका हैं। परन्तु दो आदि ग्रन्थों की नायिका होने के साथ-साथ उनमें अन्य साम्य भी बहुत है। दोनों ही एक प्रकार से भूमि-कन्या थीं—एक यज्ञ के लिए भूमि जोतते हुए मिली और दूसरी प्रत्यक्ष यज्ञ-कुण्ड से उत्पन्न हुई। दोनों के ही विवाह स्वयंवर द्वारा हुए। एक को वनवास मिला चौदह साल का, तो दूसरी को तेरह साल का। एक या दूसरे कारण से दोनों का ही जीवन विफल सिद्ध हुआ। परन्तु इस साम्य के होते हुए भी, जितना अधिक विचार करते हैं, उतनी भिन्नता ही अधिक प्रतीत होती है। इस भिन्नता का एक कारण यह है कि वे जिन ग्रन्थों की नायिका हैं, उनके स्वरूप में जमीन आसमान का अंतर है।

आधुनिक समय में, विशेषतः अंग्रेजी साहित्य के मूल्यों के अनुसार, इन दोनों ग्रन्थों को महाकाव्य कहा जाने लगा है। हमारी परम्परा के अनुसार महाभारत काव्य नहीं, इतिहास है। जो घटनाएं घटित होती हैं, उनका उल्लेख इतिहास कहा जाता है। घटित घटनाओं का वर्णन करने के प्रसंग से महाभारत में राजधानियों, अरण्यों, नदियों आदि का वर्णन आता है। परन्तु वह उतने तक ही सीमित है। समस्त कथा की रचना जिस

१. इस लेख का प्रथम भाग महाभारत के संशोधित संस्करण पर आधारित है। उसके बाद दूसरा भाग मेरा है। —लेखक

परिमाण में की गई है उसीके अनुसार देश, काल और व्यक्ति व उन सबके संबंध आदि का वर्णन इसमें आता है। इतिवृत्त के वर्णन के प्रवाह में शूरवीर और भीरु, दुष्ट और सज्जन, जल्दबाज और धीर, सुन्दर और कुरूप ऐसे कितने ही स्त्री-पुरुषों के चित्र उसमें आये हैं। इनमें से कोई भी सोलहों आने एक रंग में रंगा हुआ नहीं। सब सद्गुण एक ओर, तथा सब दुर्गुण दूसरी ओर, ऐसा चित्रण नहीं के बराबर है। जन-समाज के सामने कोई आदर्श उपस्थित करने की दृष्टि से भी वह नहीं लिखा गया है। इसके विपरीत रामायण में एक आदर्श पुरुष का चरित्र-कथन है। वाल्मीकि ने इस काव्य की रचना इसी दृष्टि से की है कि संसार में जो कुछ अच्छा है, उसका मूर्तिमान रूप ही रामचन्द्र थे; उनके चरित्र का परिचय लोगों को होना चाहिए। जिस प्रकार राम पुरुषों का आदर्श, उसी प्रकार सीता स्त्रियों का आदर्श। समग्र रामायण, सच पूछिए तो, आदर्शों से ही परिपूर्ण है। आदर्श भाई, आदर्श सेवक, आदर्श प्रजाजन तथा खल पुरुष भी आदर्श ही। महाभारत में असामान्य व्यक्तियों का चित्रण नहीं किया गया हो, सो बात नहीं। चित्रण असामान्य व्यक्ति का होकर भी उसके सामान्यत्व को भी भुलाया नहीं गया है। रामायण में एक ही व्यक्ति—राम की कथा मुख्य रूप से कही गई है। शेष जो पात्र उसमें आये हैं, वे उस व्यक्ति की पार्श्व-भूमि के तौर पर, जिससे वह अधिक उभरकर आ जाय। राम के साथ दूसरा पात्र है सीता। सीता का मायका भी था और ससुराल भी। परन्तु मायका नाम-मात्र ही था। ससुराल के लोगों का संबंध ही अधिक दिखाया गया है। लेकिन उसमें भी ससुराल के सारे व्यक्ति पूरे-पूरे उभरकर नहीं आये हैं। सीता वनवास के लिए गई। उसे गर्भावस्था में ही राम ने त्याग दिया। उसे पृथ्वी ने अपने में समा लिया। यह सब सीता के साथ हुआ। इस सबमें मायके का कहीं नाम तक नहीं सुनाई देता; मानो सीता कहीं अनाथाश्रम से लाई गई लड़की हो। जनक की महत्ता का वर्णन है, परन्तु प्रत्यक्ष में राम अथवा सीता को उनका कोई उपयोग नहीं हुआ। इसके विपरीत द्रौपदी की कथा देखें। द्रुपद को शूरवीर पुत्र चाहिए था, इसलिए उसने यज्ञ किया और उस यज्ञ में उसे अच्छे-भले एक लड़का और एक लड़की मिले। पुत्र हुआ धृष्टद्युम्न और पुत्री द्रौपदी। वह अपने

माता-पिता की कितनी लाड़ली थी, यह उसके नाम से ही जाना जाता है। सीता का अपना नाम था सीता; जनक-कुल ने उसे अपनाया, इसलिए जानकी; विदेह की राजकन्या इसलिए वैदेही। द्रौपदी का रंग सांवला था, परन्तु जिस यज्ञकुण्ड में से वह निकली थी, उसकी ज्वाला की तरह तेजस्वी। उसका अपना नाम था कृष्णा; द्रुपद-कुल में उत्पन्न होने से द्रौपदी; पांचाल की राजकन्या थी, अतः पांचाली। यज्ञसेन द्रुपद की पुत्री अतः याज्ञसेनी। सीता के तो पिता के नाम का ही पता नहीं। द्रौपदी और द्रौपदी का भाई बड़ी अवस्था में यज्ञ से उत्पन्न हुए। इन्हें इस कारण अपने संबंध में कुछ भी मालूम न हो, इस भय से द्रुपद की रानी 'पृषती' ने अग्निदेव से प्रार्थना की—"अग्निदेव, इन दोनों को अपने वास्तविक जन्म की कथा याद न रहे और मैं ही उनकी माता हूं, ऐसा ये समझें।" इस कारण द्रौपदी का एक नाम पार्षती भी है, जो उसकी माता के नाम पर रखा गया है।[1]

द्रुपद को जिस प्रकार शूरवीर पुत्र की इच्छा थी, उसी तरह पुत्री के स्वयंवर में भी कुशल धनुर्धर दामाद चाहिए था। कृष्णा (द्रौपदी) के मायके के कारण पाण्डवों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। दुर्योधन से लड़ने के लिए सेना और धृष्टद्युम्न जैसा सेनापति भी प्राप्त हुआ।

महाभारत की कथा में एक बड़े कुटुम्ब की दीन-हीन पीढ़ियों के सगे-संबंधियों का वर्णन है। जबरदस्ती, अपनी खुशी से या मजबूर होकर अन्धापन धारण करनेवाली गान्धारी का भाई शकुनि, दुर्योधन के लिए वही प्राप्त करना चाहता था, जो धृतराष्ट्र को नहीं मिला। इधर कुन्ती, जिसने अपने पुत्रों का लड़कपन से ही बड़ी सतर्कता से ध्यान रक्खा था, उसके मायके के लोग, अर्जुन की पुत्रवधू उत्तरा और उसके पीहर के लोग, दादा की पीढ़ी के लोग, भीष्म, शन्तनु—ये सब उसमें आये हैं। सगे-सौतेले, छोटे-बड़े, बेटी-जवांई, भाई-भतीजे, बेटे-पोते-भानजे सभी

१. यज्ञसेन द्रुपद के दादा (या परदादा) का नाम पृषत था। इसलिए यह सारा वंश 'पार्षत' कहलाता था। अर्थात् द्रुपद की पत्नी उन्हींके वंश की थी। दशरथ की कौसल्या भी उसी तरह के वंश की थी।

कौटुम्बिक संबंधी तथा उनके और भी नाते-रिश्ते में गुंथे हुए लोग दिखाये गए हैं। इस कारण द्रौपदी का चित्र अधिक ठोस और बहुविध चित्रित हुआ है। कौटुम्बिक ताने-बाने के सहारे उस समय का सारा राजकीय ढांचा खड़ा किया गया है। यादव, कौरव, द्रुपद, विराट, मगध का जरासंघ, शल्य, शाल्व तथा अन्य राजवंशों के पारस्परिक रिश्ते—और उनके कारण कौटुम्बिक और वैयक्तिक संघर्षों में आनेवाली प्रखरता—इन सबका चित्रण महाभारत में है। महाभारतीय युद्ध पारिवारिक और राजकीय सत्ता-स्पर्धा का परिपाक है। इसके विपरीत रामायण में जनक का और केकयों का उल्लेख-मात्र हुआ है और जिस रावण से युद्ध हुआ वह तो राम के जगत् के बाहर का ही था, ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी। बिल्कुल आधुनिक प्रणयकथा की तरह दो व्यक्तियों और उनके अंतर्मन का चित्रण रामायण में है। जिन कौटुम्बिक और सामाजिक कारणों से उन पात्रों के अंतर्मन की रचना हुई, उस शक्ति का दर्शन उसमें नहीं के बराबर है। द्रौपदी के विवाह के दिन तक पाण्डव असहाय और अनाथ थे। एक दुष्ट षड्यंत्र से वे किसी तरह जान बचाकर बाहर निकले ही थे। शत्रुओं को किसी तरह की गंध तक न पहुंचे कि हम जीवित हैं, इस प्रकार लुक-छिपकर, आज इस गांव में तो कल उस गांव में, घूमते रहते थे। द्रौपदी-स्वयंवर में भी जब वे आये, तो ब्राह्मणों के वेश में। इस बात की उन्होंने बड़ी सावधानी रक्खी थी कि किसीको पता न लगे कि वे कौन हैं? द्रुपद के राज्य में उन्हें अकेली द्रौपदी ही नहीं मिली, बल्कि पराक्रमी और वैभवशाली मित्र और पृष्ठरक्षक भी मिले। पत्नी के मायके के द्रुपद और माता के यादव, इनके संयुक्त पृष्ठ-बल से वे प्रकट होकर बेधड़क हस्तिनापुर के राज्य का हिस्सा मांग सके। द्रौपदी से विवाह करने के कारण पाण्डवों को अकेली सुन्दर स्त्री ही नहीं मिली, प्रतिष्ठा भी मिली और राज्य भी मिला।

रामायण की कथा में भी धनुष तोड़नेवाला राजपुत्र ब्राह्मणों के बीच बैठा दिखाया गया है, परन्तु वह केवल योगायोग था। यह सारी सभा को मालूम था कि यह राजकुमार दशरथ का पुत्र राम है। इस विवाह के कारण प्रतिष्ठा मिली जानकी को, राम को नहीं। राम को एक सुन्दर

और उसपर प्राणों से अधिक प्रेम रखनेवाली सहचरी मिली। इससे अधिक कुछ नहीं। पर जिस दृष्टि से रामायण लिखी गई है, उसके अनुसार राम को अन्य किसी बात की आवश्यकता भी नहीं थी। द्रौपदी के पाण्डवों की हो जाने पर उसके पीहर में रहते ही, पाण्डवों ने राज्य-भाग की मांग की। पाण्डवों का पलड़ा इतना भारी हो गया था कि धृतराष्ट्र इस मांग को टाल नहीं सकता था। फलतः इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के साथ ही द्रौपदी का भी अभिषेक हुआ; और ऐसा कहना अत्युक्ति न होगा कि यह राज्य द्रौपदी की बदौलत ही मिला। द्रौपदी पाण्डवों की प्रतिष्ठा थी। उनके एकत्व की, अभेद्यता की वह चलती-बोलती प्रतीक थी। पाण्डव वैसे शूरवीर थे, परन्तु एक को द्यूत का व्यसन, एक बड़ा उद्दण्ड, एक योद्धा—परन्तु राज्य की ओर से उदासीन, दो छोटे भाई तथा बड़ा भाई जो कुछ कहे उसमें सब साथ देने की भावना रखनेवाले। पाण्डवों ने जो राजनीति चलाई वह स्वतन्त्र रूप से नहीं, बल्कि वह चलाई कृष्ण ने और उसकी सार-संभाल की दो स्त्रियों ने। पाण्डु मर गया, माद्री सती हो गई और इन पांच छोटे-छोटे पुत्रों को लेकर कुन्ती हस्तिनापुर आई। तबसे लेकर उनके विवाह तक कुन्ती रात-दिन अपने पुत्रों की सार-संभाल रखती थी। जब पाण्डवों को गंगा-तट पर एक दूर गांव में भेज दिया गया, तब कुन्ती राजधानी में रह सकती थी; परन्तु ऐसा न करके वह उनके साथ गई। लाक्षागृह से निकलने के बाद वह उन्हींके साथ रही। इस घटना का यह भी कारण बताया जा सकता है कि पाण्डव अपनी माता को बहुत चाहते थे। फिर भी यही कहना होगा कि कुन्ती का जाग्रत मातृत्व ही उसका मुख्य कारण था।

द्रौपदी पहली बार जब सास के पास आई उस समय का प्रसंग विचार करने योग्य है। सास ने कहा—"जो कुछ लाये हो पांचों में बांट लो।" जब देखा तो सामने एक सुन्दर लड़की खड़ी है! तो इसे पांच कैसे बांट लें? युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—"भैया, तुम इसे जीतकर लाये हो, तो तुम ही विवाह करो।" अर्जुन ने कहा—"आप और भीम बड़े हैं, उनके रहते मैं छोटा भाई विवाह करने का पाप कैसे करूं? आप बड़े हैं, आप ही इससे विवाह कीजिए।" इधर कुन्ती के मन में था कि वह

सबकी होकर रहे, पर यह उलझन छूटे कैसे? बड़े भाई के पहले छोटे भाई का विवाह करना केवल शिष्टाचार के ही विरुद्ध नहीं था, बल्कि उस समय सचमुच ही यह मान्यता थी कि ऐसा करना पाप है। वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इसका प्रमाण मिलता है। बड़े भाई की पत्नी पर छोटे भाई का अधिकार तो था, परन्तु इसका उल्टा नहीं हो सकता था। यदि छोटा भाई पहले विवाह कर लेता, तो केवल वह छोटा और बड़ा भाई ही नहीं, इस विवाह की अनुमति देनेवाले मां-बाप भी पाप के भागी समझे जाते थे। प्राचीन समय में बड़े पुत्र को वंश-परंपरागत अधिकार और धन-दौलत विरासत में मिलती थी। फिर माता-पिता का श्राद्ध और गृहस्थाश्रम के सब कर्तव्य निभाने के लिए उसका विवाह करना अनिवार्य था। छोटे भाई के विवाह करने का अर्थ था बड़े भाई के सामाजिक, कौटुम्बिक और धार्मिक अधिकारों को एक तरह से छीन लेना। इसलिए बड़े भाई से पूर्व विवाह करना पाप माना जाता था। द्रौपदी के प्रकरण में यदि अकेले अर्जुन ने उससे विवाह कर लिया होता, तो उसके दूसरे ज्येष्ठ भाइयों को इस श्रेणी के राजवंश की कन्या मिलना कठिन हो गया होता। अर्जुन द्वारा जीती गई कन्या से युधिष्ठिर का विवाह हो सकता था, क्योंकि उनके दादाओं की पीढ़ी में भीष्म अपने भाइयों के लिए एक कन्या जीतकर लाया ही था। जब द्रौपदी की बात चल रही थी तब सब भाइयों की नज़र उसपर जम गई थी। उन सबके मन में उसकी अभिलाषा भी उत्पन्न हो गई थी, ऐसा महाभारत के एक श्लोक में बताया भी गया है; और यह बात कुन्ती की निगाह से ओझल भी न रही होगी। उसकी बुद्धिमत्ता और व्यासजी की युक्ति से ये सब पेंच खुले और द्रौपदी पांचों की पत्नी हो गई। यदि वह एक की हुई होती, तो उससे कलह का जो बीजारोपण होता उसमें सभीका सर्वनाश हो सकता था। वह बच गया और पाण्डवों की एकता अभेद्य रह गई। ठीक यही बात कर्ण ने दुर्योधन से कही थी। लाक्षागृह से बचकर जब पाण्डव प्रकट होकर लौटे तो दुर्योधन इस उधेड़बुन में पड़ा कि अब क्या करें? उसने सुझाया कि कुन्ती-पुत्रों को माद्री-पुत्रों से फोड़कर अलग कर दें या द्रुपद और उसके पुत्र को द्रव्य-लोभ से पाण्डवों का पक्ष छोड़ने के लिए राज़ी

करें, अथवा उसमें भी भीम का कांटा निकाल डालें। तब कर्ण ने इन सब उपायों की व्यर्थता बताते हुए कहा था, "यहां, हमारी राजधानी में, पाण्डवों के अनाथ बालकों की तरह रहते हुए जो हम न कर पाये वह अब तो और भी असंभव है। अब उन्हें पृष्ठपोषक मित्र मिल गये हैं। वे दूसरों के देश में रहते हैं। राजा द्रुपद आर्यवृत्त राजा है। धन का लोभी नहीं है। यदि द्रुपद के पुत्र की बात कहो, तो वह पाण्डवों का भक्त है। द्रौपदी सबकी मिलकर पत्नी है। उनमें कदापि फूट नहीं डाली जा सकती। और सचमुच द्रौपदी के जीवित रहने तक उनमें कभी फूट पड़ी भी नहीं। द्रौपदी के मरने पर जो फूट पड़ी वह शरीरों की थी।

कुन्ती ने पाण्डवों की जो सार-संभाल की वह केवल उनकी प्राण-रक्षा की चिन्ता से; परन्तु द्रौपदी ने उन्हें सर्वनाश से बचाया। उसके इस कार्य की महत्ता महाभारत में कर्ण के ही मुंह से कहलाई गई है। धर्मराज ने द्यूत में सबकुछ गंवा दिया, यहांतक कि अपनी पत्नी को भी दांव पर लगा दिया। कौरवों की सभा में उसकी अनहोनी दुर्दशा की गई। उस समय जितनी दुष्टता हो चुकी, वह काफ़ी है, यही क्रम आगे जारी रहा, तो परिणाम अच्छा नहीं होगा, इस भय से धृतराष्ट्र ने द्रौपदी से तीन वर मांगने को कहा। तब द्रौपदी ने एक वर से धर्मराज को दासता से मुक्त कराया। दूसरे वर से अन्य चार भाइयों को छुड़ाया और यह कहकर कि 'मेरे पति शस्त्रास्त्रों के साथ मुक्त हों, यही मेरे लिए काफी है; उसने तीसरा वर मांगा ही नहीं। द्रौपदी का वर मांगने का ढंग, अभिषिक्त राजा धर्मराज को पहले मुक्त कराने की उसकी तत्परता, दूसरों को शस्त्रों के साथ मुक्त करने की मांग रखकर, दूसरी किसी बात का लोभ न करके, उसने केवल अपनेको ही नहीं, पाण्डवों को भी अपमान से बचाया।

इस प्रसंग की याद करके कर्ण ने जो कुछ कहा वह ध्यान देने योग्य है—"संसार में अबतक स्त्रियों की सुन्दरता के बारे में तो सुना था, परन्तु इसने (द्रौपदी ने) तो जो कुछ किया इसकी मिसाल ही नहीं। कौरव और पाण्डव क्रोध से जल रहे थे। इस अग्निकुण्ड में यही पता नहीं

था कि किसका क्या होता ? परन्तु इस कृष्णा ने शान्ति प्रस्थापित की। गहरे समुद्र में गोते खानेवाले अप्रतिष्ठा और तेजोहीनता में डूबे हुए पाण्डवों को पांचाली ने एक नाव की तरह किनारे लगा दिया। पत्नी की बदौलत उनका अपना गौरव कायम रह गया।"

ये शब्द भीम को चुभ गये। भले ही पाण्डवों को क्रोध दिलाने और उन्हें भड़काने के ही उद्देश्य से कर्ण ने ये शब्द कहे हों, तब भी उसने जो-कुछ कहा वह गलत नहीं था। पाण्डवों के बाल्य जीवन में कुन्ती ने उनकी रक्षा की थी और बड़े होने पर द्रौपदी ने। द्रौपदी जबतक खड़ी थी, तब-तक पाण्डव खड़े थे। द्रौपदी जब गिर गई, तो धर्मराज के अलावा सभी पांडव गिर पड़े।

द्रौपदी और सीता के वनवास में, नाम के अलावा, कुछ भी साम्य नहीं। द्रौपदी को वनवास भोगना पड़ा पति के द्यूत-प्रेम के कारण। शत्रु की चाल की जीत, पति की व्यसनाधीनता, इन सबका वह प्रतीक था। वनपर्व में ऐसा एक ही बार उल्लेख हुआ है कि यदि हो सके तो पंचनद-प्रदेश को द्यूत द्वारा प्राप्त कर लें, ऐसी युधिष्ठिर की योजना थी। किन्तु ऐसा कहना मानो अपने बचाव में कोई एक कारण बताना था, इससे अधिक कुछ नहीं जान पड़ता, क्योंकि जो प्रदेश—पंचनद—कुरु व पांचालों के कब्जे में ही नहीं था, उसे द्यूत के द्वारा हस्तगत कैसे कर लेते, यह समझ में नहीं आता। सीता का वनवास राम के ध्येय-जीवन का एक परमोच्च बिन्दु था। उसके वनवास के कारण अपने पुत्र को राजपद देने का कैकेयी का दांव उल्टा पड़ गया। उससे राम के राज्या-भिषेक की बात वैसी ही पक्की हो गई, जैसे खूंटे को हिलाकर और मजबूत करते हैं। भरत के राजत्याग के बाद राम को वनवास में रहने का कोई व्यावहारिक कारण ही बाकी नहीं रहा। केवल पिता-द्वारा दिये गए एक वचन का पालन करने के लिए राम ने वनवास अंगीकार किया। परन्तु पाण्डवों का वनवास तो अटल था। शत्रुओं की—कौरवों की राजधानी में बड़े-बुजुर्ग श्रेणी के व्यक्तियों के सामने खुले-रूप से यह दांव लगाया गया था। इसलिए उसे पालन किये बिना कोई गति ही नहीं थी। वनवास के आरम्भ में द्रुपद-पुत्र और कृष्ण पाण्डवों से मिलने

आये, तब भी जो-कुछ हो चुका था, उसके लिए अनुताप व्यक्त करने के अलावा कुछ किया नहीं जा सकता था। ऐसे समय युद्ध करने के लिए खड़ा होना अपनी कीर्ति पर धब्बा लगाना ही होता; और कदाचित् उसमें कोई साथी-मित्र भी उन्हें न मिले होते। ऐसी दशा में सत्य प्रतिज्ञा के अनुसार व्यवहार करना केवल ध्येयानुसार ही नहीं, सौ फीसदी व्यावहारिक भी था।

द्रौपदी जिस तरह पाण्डवों को राज्य दिलाने में थोड़ी बहुत कारणीभूत हुई इसी प्रकार उनका राज्य हाथ से चले जाने में भी उसका भाग रहा। उनका वनवास उसका भी वनवास था। ऐसा नहीं कि वह उनकी छाया की तरह केवल वन में गई। पतियों के वैभव व महत्ता भोगने के लिए अपने अधिकार की तरह उनके कष्ट और अपमान की भी वह भागीदार थी। पाण्डवों की अन्य स्त्रियां अपने पुत्रों को लेकर अपने-अपने मायके चली गईं। द्रौपदी ने केवल अपने पुत्रों को ही अपने मायके भेजा। उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा बाकी थी। उन्हें वन में भेजने से यह सब नहीं हो सकता था। उस समय वह कितनी यातना भुगत रही थी, इसका वर्णन बीच-बीच में आता है। जो कुछ हुआ उसे चुपचाप बर्दाश्त करना उसका स्वभाव-धर्म नहीं था। उसने चट्चट् उंगलियां चटकाईं, हानि पहुंचानेवालों का बुरा चाहा और उन्हें शाप भी दिया। वह संताप से जलती रही। धृष्टद्युम्न और कृष्ण जब वनवास में मिलने आये तब अविरत आंसू पोंछते-पोंछते आवेग में वह बोली, "मेरा न कोई पुत्र है, न पति, न भाई, न बाप। यदि होते तो उन्होंने मेरा यह अपमान कभी सहन न किया होता।" वह इतने ही पर नहीं रुकी। सब लोगों के चले जाने पर फिर वही विषय छेड़कर उसने कौरवों के प्रतिशोध के लिए युधिष्ठिर का मन तैयार करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह संभव न हुआ। फिर यह कहें कि वनवास में रहने के कारण उसके गृहिणी-पद की जिम्मेदारियां कुछ कम हुई हों, सो बात भी नहीं। धर्मराज का पुरोहित उनके साथ था। सैकड़ों लोग, ज्यादातर ब्राह्मण, उनके यहां अतिथि होकर आते-जाते थे। द्रौपदी सुबह से उठकर रात को सोने तक काम करती रहती। इसका वर्णन सत्यभामा और द्रौपदी के संवाद में आया ही है।

वनवास में भी उसका एक बड़े राजा की पुत्री, पुत्रवधू और पत्नी ये तीनों नाते छूट नहीं गये थे। जो अतिथि आते थे, उनकी सेवा धर्म-पूर्वक करना यह तो आदर्श-ध्येय की बात थी; परन्तु ऐसा करने में राजनीति और व्यवहार का पालन भी था। आज धार्मिक अनुष्ठान और ब्राह्मण-सेवा-सुश्रुषा हमको व्यर्थ व बेतुकी मालूम होती हों, किन्तु उस समय सबका उनपर दृढ़तम विश्वास था और ये सभी बातें द्रौपदी को संभालनी पड़ती थीं। उनमें कमी होने देने की या दैन्य दिखलाने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

इस वनवास में इतना भी एकान्त नहीं मिलता था, जितना कि राजमहलों में होता है। उतना ऐश्वर्य न होने पर भी आये-गयों की व आश्रितों की भरमार ही रहती थी। इसके अलावा आएदिन आने-जाने वाले ऋषियों की, जी उकता देनेवाली कथाएं सुननी पड़ती थीं। वह लगातार कष्ट में रहती थी, इसके प्रमाण तो जगह-जगह भरे पड़े हैं। कृष्ण ने विदा होते समय कहा था—"बहन, इस सारे अपमान का बदला अवश्य चुकाया जायगा।" सत्यभामा ने उससे गले मिलकर विदा ली—"कृष्णा, तुम रोओ नहीं, जो तुम्हें देखकर हँसती हैं, उन कौरव स्त्रियों को तुम रोता हुआ देखोगी। तुम निष्कंटक और निर्वैर-राज्य का उपभोग करोगी। थोड़ा सहन करो।" द्रौपदी को तिल-भर भी फुरसत नहीं थी, यह एक तरह से अच्छा ही था। नहीं तो वह द्यूत-प्रसंग को याद कर-करके घुलती रहती।

सीता के वनवास में किसी भी प्रकार का वैर-शल्य था ही नहीं। वह एक तप का—मानो प्रेम-वर्षा का समय था। अयोध्या में वह युवराज्ञी होनेवाली थी। दास-दासियों की भरमार थी। ससुर, तीन सासें इतने सब बड़े-बुजुर्ग थे। अनिर्बंध प्रणय के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। नगरवासियों की वन-संबंधी रम्य कल्पना का स्वप्न-सृष्टि जैसा यह वनवास था। वहां हिरनों के झुण्ड थे, हंस, हंसिनी और गोदावरी का रमणीय प्रवाह था। दूर तक फैला हुआ उसका रेतीला मैदान था। इधर-उधर बिखरे हुए ऋषियों के आश्रम थे। क्रूर पशु और राक्षस भी थे, जिन्हें देखकर शरीर पर हल्का-मधुर रोमांच हो आता था। अपमान

का कांटा नहीं चुभता था। पुत्रों का वियोग नहीं था। अतिथियों की भरमार नहीं थी। इस सुन्दर पार्श्व-भूमि में एक मुग्धा का प्रणयिनी में रूपान्तर हुआ। वाल्मीकि ने अपनी सारी काव्य-कला इस काण्ड में उंडेल डाली है। वनवास का यह समय इतना रम्य था कि बाद में, गर्भ-काल में भी, वनवास की ही अभिलाषा उसे हुई।

वनवास समाप्त होने पर द्रौपदी के लिए अज्ञातवास बहुत ही दुखमय रहा। वन में वह पाण्डवों की पत्नी, एक समय की रानी जैसी थी। परन्तु जिस दासता से उसने द्यूत-प्रसंग पर अपनेको मुक्त कर लिया था, वही दासता उसे अज्ञातवास में भुगतनी पड़ी। और लगभग वैसी ही दुर्दशा होने का अवसर भी आ गया था। सीता को भी दुःख में दिन काटने पड़े, परन्तु उसे रावण के बलात्कार का भय नहीं था। उसके पास राक्षसियां थीं। वे भयंकर रूप-धारिणी थीं। वे कहतीं—"सीता, हम तुम्हें खा डालेंगी।" रावण सम्पन्न और विद्वान राजा था। उसके पास मनुष्य-भक्षक राक्षसों का होना विचित्र मालूम होता है। राम-रावण का सारा प्रकरण ही अद्‌भुत है। वानर व भालू ये उनकी सेना। उनमें राक्षस भी। सारा कथानक ही अद्‌भुत, रम्य और लोकोत्तर। राम आदर्श पुरुष, सीता आदर्श पत्नी, राम पितृभक्त, सत्यपरायण, एक पत्नीव्रत व शूरवीर था, यह दिखाने के लिए युद्ध आवश्यक था। नायिका पर संकट लाना पड़ता है। नायक को उसमें से उसे छुड़ाना पड़ता है। धीरोदात्त नायक, प्रणय साध्वी नायिका, प्रणय के सब प्रकार, प्रारंभिक प्रणय, प्रौढ़ावस्था का प्रणय, फिर विरह और विरही प्रेम का वर्णन, ये सब बिल्कुल संस्कृत की काव्य-परम्परा के अनुकूल। युद्ध भी वैसा ही। इतना युद्ध हुआ, परन्तु अयोध्या से उसका कोई संबंध नहीं। अयोध्या बिल्कुल अलिप्त रही। राम को राजसिंहासन पर बिठाने की राह देखती रही। वह समय आते ही राज्य राम को मिल गया। भाई-भाई गले से मिले। पुत्रों ने माताओं को प्रणाम किया। वधू ने सासुओं के चरण छुए। युद्ध की लपट अयोध्या तक पहुंची ही नहीं। वह सिर्फ कथानक तक ही रही। इसके विपरीत द्रौपदी पर आये संकट मानवीय, उस जगत के मनुष्यों द्वारा लाये गए और पतियों द्वारा अपने सिर पर ओढ़ी हुई निष्क्रियता के

कारण आये हुए थे। आदिपर्व में धृतराष्ट्र का एक भाषण दिया हुआ है। उसमें और उसके बाद करीब-करीब प्रत्येक पर्व में द्रौपदी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए दो शब्द बार-बार आते हैं—"नाथवती अनाथवत्।" पांच की पत्नी होते हुए भी अनाथ-जैसी। मायका राजैश्वर्य से पूर्ण, फिर भी अनाथ जैसी; पृष्ठ-रक्षक शूरवीर होते हुए भी अनाथ-जैसी। उसके दैन्य और असहायता का असली जख्म यही है। उसकी दुर्दशा, विडम्बना, हर बार उसके पति और स्वसुर चुपचाप देखते रहे। वे कोई प्रतिकार करने की स्थिति में नहीं थे। एक दुर्दशा से वह दैवी चमत्कार से बची। दूसरी से भीम ने उसे गुप्त रूप से छुड़ाया। वन-पर्व में जयद्रथ ने उसे भगाया। यह घटना अलबत्ता थोड़ी-सी काव्यतंत्र के अनुरूप थी। धर्मराज, भीम और अर्जुन घर पर नहीं थे। ऐसे समय में वह पकड़ ली गई। उन्होंने पीछा करके उसे छुड़ाया। सीता के विषय में अलबत्ता प्रत्येक समय काव्य के आदर्श की रक्षा की गई। वन-पर्वतों पर तीनों ही साथ घूमते रहते थे। इसलिए सीता को भगा ले जाना संभव न था। अकेला राम ही नहीं, केवल लक्ष्मण ही उसकी रक्षा करने में पूरी तरह समर्थ था। दोनों नहीं थे और सीता के हठ के कारण जब दूर चले गए तभी सीता का हरण हुआ। सीता-हरण का दोष सीता का है, राम-लक्ष्मण का नहीं। सीता के दुःख का स्वरूप भिन्न प्रकार का है। उसपर आपत्तियां आती हैं, परन्तु उनका निवारण भी होता है। प्रत्येक आपत्ति से वह, राम और उनके साथी सकुशल निकल आते हैं। आपत्तियों के कारण अधिक उच्च, अधिक दिव्य होकर पार निकलते हैं। उन आपत्तियों की योजना ही महज इसलिए की गई थी।

द्रौपदी को दुःख देनेवाले, कष्ट पहुंचानेवाले जो लोग थे, वे नजदीकी थे, अपने थे। प्रत्येक प्रसंग पर दुःख और अपमान की यातना उसे दोनों ओर से मिलती थी। द्वेषाग्नि में सतत ईंधन पड़ता ही रहता था। युद्ध सचमुच ही युद्ध-जैसा हुआ। जित् और जेता दोनों ही दुःखी रहे। द्रौपदी के पुरुषार्थी पुत्र गये, मायका भी धुलकर साफ हो गया। दुर्योधन ने मरते-मरते कल्पना की थी—"धर्मराज और उसके साथ द्रौपदी ने विधवाओं पर राज्य किया।" पहले हस्तिनापुर का राज्य-परिवार,

वयोवृद्ध राजपुरुष, बिल्कुल जवान युवक राजपुत्र, छोटे-बड़े पुत्र, नाते-रिश्तेदार, नाती-पोते और दादियां, माताएं, बहुएं, बेटियां आदि भरा-पूरा रहता था। लेकिन जब धर्मराज गद्दी पर बैठे तब यह सब वीरान हो गया था। लड़कों के विवाह हुए नहीं थे। अतः सती होनेवाली वधुएं नहीं थीं। परन्तु विधवा उत्तरा और उसका इकलौता—अपने पिता के बाद उत्पन्न पुत्र, यही युवामंडली बच रही थी। परिवार वैसे निर्वैर हो गया था, परन्तु राज्य की प्राप्ति के लिए जो वैर-भाव पैदा हुआ था, वह मिटा नहीं था। महाभारत यही कहता है। इन्द्रप्रस्थ को बचाने के लिए पहले खाण्डव वन को जलाया। उस समय का पीड़ित तक्षक अर्जुन से बदला लेने के लिए तुला बैठा था। वह वैर अर्जुन से नहीं निकाल सका, तो फिर पाण्डव के बाद परीक्षित—अर्जुन के पोते पर, निकाला गया। विजय का आनंद तो एक ओर रहा, धूल अलबत्ते मुंह में पड़ी। कृष्ण जैसे युग-पुरुष का जो आधार जन्मभर मिला वह भी बड़ी दुस्सह रीति से चला गया। कृष्ण के और उसके समस्त समृद्ध कुल का हृदय-द्रावक अन्त हो गया। महाभारत का अन्त केवल द्रौपदी के जीवन का अथवा पाण्डवों के जीवन का अथवा उनके कुल का ही अन्त नहीं था। वह युगान्त था। इस युगान्त की प्रत्येक यातना द्रौपदी ने भुगती। जब उसके लड़के मारे गये तब वह अंतिम रूप से रोई। अंतिम रोना रो ली। वह उसकी अंत की छटपटाहट थी। उसके बाद उसका एक शब्द भी कहीं सुनाई नहीं देता।

युद्ध द्रौपदी के निमित्त हुआ, ऐसी एक निराधार कल्पना कितने ही लोगों के मन में है। महाभारत के बाद पुराणों में, विशेषतः जैन-महाभारत में यह कल्पना विशेष रूप से पाई जाती है। किसी अंटशंट पुराण में तो एक ऐसा श्लोक भी आता है कि "कृतयुग में रेणुका कृत्या, सत्य-युग में सीता कृत्या, द्वापर में द्रौपदी कृत्या और कलयुग के तो घर-घर में कृत्यायें है।" जिन स्त्रियों के कारण बड़े-बड़े युद्ध हुए अथवा रक्तपात हुआ उनके नाम इनमें दिये गए हैं। हैहय राजा गाय और रेणुका दोनों को भगा ले गया था। परशुराम ने हैहय से युद्ध किया, तो हैहय की उदण्डता के कारण और जो चीजें जमदग्नि के हक की थीं—

गाय व रेणुका—उन्हें छीन ले जाने के कारण किया। केवल रेणुका के कारण नहीं। रावण से जो युद्ध हुआ वह केवल सीता के लिए। सीता यदि वापस लौटा दी गई होती तो युद्ध न हुआ होता। राम-रावण युद्ध का एकमात्र कारण सीता थी। महाभारत-युद्ध का कारण द्रौपदी, कम-से-कम मुख्य कारण तो अवश्य ही नहीं थी। जिस दिन ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी अंधे धृतराष्ट्र को अलग रखकर पाण्डु को गद्दी दी गई थी, उसी दिन इस युद्ध के बीज पड़ गये। ठेठ बचपन से धृतराष्ट्र और पाण्डु के लड़कों में बैर हो गया था।

द्रौपदी का विवाह होने के पहले ही पाण्डवों को नष्ट करने के प्रयत्न शुरू हो गये थे। उद्योग-पर्व में जो योजना बनी, उससे भी यह बात प्रमुखतया साफ़ हो जाती है। पाण्डव कौरवों से अपना हिस्सा मांगते थे। उसमें द्रौपदी के अपमान की भाषा नहीं थी। पाण्डवों ने यदि अपना पूरा-पूरा हिस्सा मांगा होता, अथवा कौरवों को चिढ़ाने के लिए अवास्तविक मांग की होती, तभी यह कह सकते थे कि पाण्डव बदला लेना चाहते थे। अथवा किसी-न-किसी तरह लड़ाई ही लड़ना चाहते थे। किंतु युधिष्ठिर आदि के भाषण पढ़कर तो विश्वास होता है कि सारी भाषा युद्ध को किसी तरह टालकर अपना हिस्सा प्राप्त करने की थी। जो भीम द्रौपदी की तरह ही अपमान से जलता-कुढ़ता रहता था वह भी कहता है, "उनसे कहो कि भैया, अपना सर्वनाश न करो। युधिष्ठिर जो कुछ थोड़ा-सा मांगते हैं, उतना दे डालो।" कृष्ण तक को इस बात पर हँसी आई। उन्हें कहना पड़ा, "अरे, तुम वही भीम हो क्या?" द्रौपदी अलबत्ते बोल पड़ी—"कृष्ण, जिसने मेरे बाल खींचे, जिनके पापी हाथ मेरे बालों को लगे उनके प्रति दया मत करना"। कुन्ती ने भी ऐसा ही संदेश युधिष्ठिर को कहलाया था। परन्तु पाण्डवों ने और उनकी तरफ से कृष्ण ने भी युद्ध को टालने की पूरी-पूरी कोशिश की। जैसे कोई भीख मांगते हों वैसे सिर्फ पांच गांव मांगे। दुर्योधन ने कहा, "सुई की नोंक के बराबर भी धरती नहीं दूंगा"—तब युद्ध करना ही पड़ा। युद्ध के दौरान पुराने वैर निकाले गये। उसमें द्रौपदी का बदला लिया

सिर्फ भीम ने। कर्ण और अर्जुन का वैर और स्पर्धा तो पुरानी थी। उनके युद्ध के लिए दूसरा कोई कारण नहीं था। पूर्वार्जित संपत्ति के बंटवारे पर एकत्र कुटुम्ब में जो लड़ाई-झगड़े अति प्राचीन काल से चलते आते हैं, उन्हींमें यह भी एक भारी झगड़ा हुआ, कोई द्रौपदी के कारण नहीं। द्रौपदी भी युद्ध चाहती थी; परन्तु पाण्डव पितृ-प्रधान भारतीय संस्कृति के सच्चे वारिस थे। वे स्त्री के चलाये चलनेवाले नहीं थे।

संधि-प्रस्ताव के समय कर्ण को फोड़ने के लिए कृष्ण ने उसे राज्य और द्रौपदी तक का लालच दिया। इस हीन सौदे की खबर तक द्रौपदी को नहीं थी। महाभारत में कहीं भी किसीकी आदर्श भूमिका चित्रित नहीं की गई है। यथार्थ चित्रण में भली-बुरी बातें आई हैं। द्रौपदी के मन में यदि पाण्डवों के अलावा किसी दूसरे के लिए विचार आया होता तो वह कहीं-न-कहीं महाभारत में जरूर झलक गया होता। कर्ण की ओर उसने कभी झांककर भी नहीं देखा था, बल्कि संशोधित संस्करण से तो ऐसा दीखता है कि द्रौपदी के स्वयंवर के समय, न जाने क्यों, सम्भवतः दुर्योधन की मित्रता के कारण ही, कर्ण ने उस दांव को जीतने की कोई कोशिश ही नहीं की। कर्ण की ओर द्रौपदी का मन गया था, ऐसी कथा बहुत बाद के जैन-पुराणों में आई है; पर महाभारत में यह कहीं नहीं है। महाभारत की द्रौपदी तड़पती, जलती, भुनती रही, परंतु अंतिम क्षणों तक रही पति-परायण ही। उसके सारे जीवन में कलंक लगने जैसी परिस्थिति कभी पैदा ही नहीं हुई।

ऐसी परिस्थिति का आना और कलंक भी लगना, यह सीता का सचमुच ही बड़ा दुर्भाग्य रहा। महाभारत में जो राम-कथा कही गई है, वह तो राम के अयोध्या लौटने और सब लोगों के परस्पर मिलने-भेंटने के बाद राज्याभिषेक होकर राम के सुख में रहने और राम के द्वारा बहुत-से यज्ञादि होने तक समाप्त हो जाती है। सीता-त्याग का प्रकरण ही उसमें नहीं है। महाभारत में यह तथा नल-दमयंती आदि के आख्यान, द्रौपदी पर आई विपत्ति के प्रसंग से आये हैं। सीता पर तो वास्तविक संकट यह था कि पति ने उसका परित्याग कर दिया। असल में तो वह कथा आनी चाहिए थी, पर आई नहीं। इससे ऐसा मालूम होता है कि

मूल रामायण में यह कथा थी ही नहीं। जो हो, यदि यह मानकर चलें कि सीता-परित्याग की यह घटना सही है, तब यह कहना होगा कि सीता को वास्तविक दुःख भोगना पड़ा। इस दुःख का प्रकार भी कुछ संस्कृत काव्य-परंपरा के अनुरूप ही है। उसमें कथा-प्रसंग इस प्रकार होता है—मिथ्या आरोप लगाना, उसका परिमार्जन होना, फिर मिलन—जैसाकि शाकुन्तल में दिखाया गया है। परन्तु सीता-त्याग का अन्त सीता के आत्मनाश में हुआ। एक और अग्नि-परीक्षा देकर वह लोगों को विश्वास दिला सकती थी और आनन्द में रह सकती थी। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। क्यों? इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। उनमें पड़ने की आवश्यकता नहीं। परन्तु वह अपनी लीला समाप्त कर गई, वह नष्ट हो गई और उसके इस कृत्य का धक्का सारी भारतीय जनता को लगा। इस आपत्ति को लाने में ग्रन्थकार का एक हेतु मालूम होता है। रामायण की कथा का उद्देश्य ही उसके नायक के सर्वांगीण उत्तम पुरुष और उदात्त रूप का चित्रित करना था—'मर्यादा पुरुषोत्तम' के रूप में। नायक सब कठिन प्रसंगों में तप्त सुवर्ण, दूध के धोये की तरह निर्मल, निकला था, परन्तु अभी एक अग्नि-परीक्षा बाकी थी। एक ओर अपना प्रेम और और दूसरी ओर प्रजा की इच्छा। ऐसा विरोध-संघर्ष-निर्माण करके राजा को प्रजा के लिए सारा स्वार्थ त्याग—सर्वस्व त्याग करने की तैयारी रखनी चाहिए, यह दिखाना था, और यह भी कि राम इसी तरह का राजा था, यह सिद्ध किया जाय। परन्तु दुर्भाग्य से यह निरपवाद सिद्ध नहीं हुआ कि राम का अंगीकृत मार्ग उत्तम था। स्वार्थ-त्याग का क्या यह अर्थ है कि एक निरपराध प्राणी के साथ अन्याय हो? राम अपने राज्य को क्या छोड़ नहीं सकता था? कालिदास, भवभूति आदि महान कवियों को भी सीता-परित्याग की घटना कोई अच्छी नहीं लगी। कहना होगा कि इस एक घटना के कारण राम के यश को कालिमा ही लगी; और जो सीता केवल राम की छाया थी उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व, स्वतंत्र दुःख और अपमान, और उनके स्वतंत्र रूप से निराकरण करने का अवसर मिला।

द्रौपदी के जीवन में ऐसे प्रसंग की कोई तुलना नहीं। द्रौपदी के सब दुःख व अपमान वास्तविक हैं और उनके निराकरण तथा उनमें होने-वाली वृद्धि यह सब व्यवहार-कोटि के हैं—खींच-तानकर लाये हुए या काव्य में रंग लाने के लिए नहीं हैं। सीता भूमि-कन्या इसलिए थी कि पृथ्वी से निकली थी। परन्तु द्रौपदी तो सचमुच ही भूमिकन्या थी, क्योंकि उसके पैर भूमि पर और उसका हृदय संसार में, मायके में, ससुराल में, राजमहल में था। उसकी तेजस्विता, उसका स्वार्थ-त्याग, उसकी पति-परायणता सभी व्यवहार, जिस देश में उसका जन्म हुआ, जिस काल में और कुल में वह जनमी—छोटी से बड़ी हुई, उसके योग्य ही था। वह असाधारण थी, परन्तु वह असाधारणता सामान्य लोगों के मूल्यों से ही जन्मी थी।

द्रौपदी और सीता के द्वारा ऐसी बातें हुई जो होनी नहीं चाहिए थीं। और उनका प्रायश्चित्त भी दोनों को भरपूर करना पड़ा। भाई को सीता की देखरेख करने के लिए कहकर राम हरिण के पीछे दौड़ गया। राम की पुकार सुनकर सीता ने लक्ष्मण को उसकी मदद के लिए जाने को कहा। लक्ष्मण उसे अकेली छोड़कर जाता नहीं था। तब सीता ने बड़ा बुरा संदेह किया और लक्ष्मण को बुरा-भला कहा। इसका परिणाम यह हुआ कि रावण को उसे हरने का अवसर मिल गया। कांचन-मृग का सारा षड्यंत्र ही उसे हर ले जाने के लिए किया गया था। इसके पहले देखें तो शूर्पणखा का उपहास करके उसकी खिल्ली उड़ाई। सीता-हरण को इसका परिणाम भी कह सकते हैं। इधर द्रौपदी ने सब लोगों के सामने दुर्योधन की हँसी उड़ाई थी। मय दानव ने राजमहल में ऐसी अद्भुत रचना की थी कि जहां जमीन हो वहां तो पानी दिखाई देता था, और जहां पानी हो वहां सूखी जमीन। उस भ्रम में दुर्योधन की बड़ी फजीहत हुई; और फिर ऊपर से द्रौपदी का वह भद्दा कटाक्ष! इससे दुर्योधन सबसे अधिक अपमानित हुआ।

कीचक-वध के बाद द्रौपदी ने स्वयं बड़ी शेखी में आकर कीचक के वध की बात वहां के रक्षकों व पहरेदारों से कह दी। उसे तो लोगों की निगाह बचाकर चुपचाप बैठे रहना चाहिए था। ऐसा न करके वह

कीचक की शव-यात्रा देखती खड़ी रही। उसके भाइयों की निगाह उस पर पड़ी और वे उसे पकड़ और बांधकर कीचक के साथ ही जलाने के लिए श्मशान में ले चले। यह बाधा द्रौपदी ने स्वतः ही अपने सिर मोल ले ली थी, और सो भी जो नहीं कहना चाहिए वैसा कहकर—'मेरा शत्रु मर गया, उसके शव को देखकर मेरी आंखों की तृप्त होने दो'—ऐसा कहने व समझनेवाली द्रौपदी को भूमि-कन्या ही कहना होगा।

सुभद्रा और अर्जुन के प्रति ईर्ष्या रखनेवाली द्रौपदी भी बिल्कुल मानव ही है। ऐसा कष्ट सीता को तो भोगना ही नहीं पड़ा! वह उसकी असामान्यता थी। द्रौपदी का यह दुःख उस जमाने को देखते हुए बहुत ही मामूली था, परन्तु कुल मिलाकर व्यवहार में दिखाया गया द्रौपदी का संयम असमान्य था। नित्य के व्यवहार में द्रौपदी ने कभी सौतिया डाह दिखाया हो, ऐसा कहीं प्रतीत नहीं होता।

इस सारे प्रकरण में द्रौपदी ने भूल कहां की? युधिष्ठिर द्यूत में उसे हार गये, तब दुर्योधन ने उसे एक मामूली से दास के द्वारा राज-सभा में बुलवा भेजा। तब द्रौपदी ने दास के द्वारा कहलाया, "जा सभा में पूछ-कर आ कि मुझे दाव पर लगाने से पहले क्या युधिष्ठिर स्वतः अपनेको दांव पर लगाकर दास बन चुके हैं या नहीं?" इसपर दुर्योधन ने कह-लाया, "सभा में आओ, फिर तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर मिलेगा।" वह सभा में नहीं आई, तब दुःशासन उसे खींचकर ले गया। राजसभा में उसने रोते-रोते, परन्तु आवेश से वही प्रश्न पूछा। उस प्रश्न पर बहुत-कुछ चर्वित-चर्वण हुआ। भीष्म तक से उसका उत्तर नहीं बन पड़ा। संभव है, उन्होंने इसलिए उत्तर को टाला हो कि वह द्रौपदी के खिलाफ जा सकता था, क्योंकि पाण्डवों का पक्ष लेकर उन्होंने कई बार धृतराष्ट्र और दुर्योधन से झगड़ा किया था। इस बार वह जो चुप बैठे रहे, सो कापुरुष होकर नहीं, बल्कि इस बहस में पड़ने से कोई लाभ नहीं, ऐसा मानकर। द्रौपदी का कहना था कि एक बार जब युधिष्ठिर दास बन गये अथवा स्वातंत्र्य खो बैठे, तो फिर उनके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसपर वह अपना स्वामित्व चलावें, क्योंकि दास तो 'अ-स्व' अर्थात् 'अपने पास कुछ भी न रखनेवाला' कहलाता है। जो

व्यक्ति इस स्थिति को पहुंच जाता है, तब उसके पास दांव पर लगाने के लिए क्या बच सकता है ? और तब वह उसे दांव पर लगावेगा कैसे ? एक दृष्टि से यह कहना युक्ति-संगत दिखाई देता है। तो भी यह बात भी सही है कि दास की पत्नी तो होती ही है। और यदि वह दास हो गया तो पत्नी पर उसका अधिकार नष्ट नहीं होता। किसीके दास हो जाने पर भी स्वतंत्र धनार्जन करने का दास का थोड़ा-बहुत अधिकार बहुत प्राचीन काल से मान्य होता चला आया था। ऐसी दशा में—मालिक का दास पर हक और दास का अपनी पत्नी पर हक—यह प्रश्न जटिल बन जाता है।

द्रौपदी का यह प्रश्न बेतुका ही नहीं, भयानक भी था। इसका जो उत्तर आता वह उसके लिए उपकारक नहीं हो सकता था। "तुम्हारे पति का तुमपर जो हक है वह नष्ट नहीं होता। वह जब दास हो जाता है तब भी तुम उसकी पत्नी रहती ही हो; और इसलिए तुमपर उसकी सत्ता भी रहती ही है। वह तुमको दांव पर लगा सकता है।" यदि भीष्म ने यह उत्तर दिया होता तो उसका दासीपन और भी पक्का हो गया होता। और यदि भीष्म यह जवाब देता कि दासत्व अंगीकार करने के कारण तुम्हारे पति का तुमपर हक मिट जाता है, तो फिर वह न इधर की रहती, न उधर की। उसका भाव कुत्ता भी नहीं पूछता। द्रौपदी 'नाथवती अनाथवत्' थी। परन्तु तब उसकी 'नाथवत्ता' ही नष्ट हो जाती। अर्थात् वह सब तरह से अनाथ हो गई होती। पति के छोड़ देने पर दीन बनकर पितृगृह में रहनेवाली पत्नियों का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। (भार्यापत्यानुत्तेव ज्योक् पितृषु आस्ताम्)। परन्तु उस समय ऐसी किसी पत्नी का उदाहरण नहीं था कि जिसने खुद होकर अपने पति के पतित्व को चुनौती दी हो। ऐसी पत्नी को सम्मान का तो दूर, परन्तु दीनता का स्थान भी मायके में मिलना सम्भव नहीं था। अतः द्रौपदी के इस प्रश्न ने सबको बड़े पेंच डाल में दिया था। भीष्म को गर्दन नीची करनी पड़ी। युधिष्ठिर भी शर्म से गड़ गया। इस प्रश्न में पांडित्य तो था ही नहीं, परन्तु पांडित्य से भी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता व प्रज्ञा का भी नाम-निशान नहीं था। राजसभा में जो-कुछ हो रहा था वह इतना

घृणास्पद था कि श्वसुर और देवरों से भरी उस राजसभा में द्रौपदी जैसी वधू अगर चिल्लाकर रो पड़ती तो बात इस हद तक न पहुंच पाती। खुद अपनी पुत्रवधू को राजसभा में खींचकर लाये जाते हुए उसका प्रतिकार न करना, पुरुषों की सभा में अपनी ही कुलवधू का अपमान करना, यह सब कुकृत्य मानवता के और अलिखित सर्वमान्य नीति-नियमों के इतने खिलाफ थे कि उस अवसर पर नियम या कानूनबाजी छांटना बुद्धिमत्ता का अतिरेक ही कहा जाता। अन्त को दुर्योधन ने कहा—"इस प्रश्न का जवाब तुम अपने पति से ही पूछो। धर्मराज की बुद्धिमत्ता और न्याय-भावना पर हमारा इतना विश्वास है कि वह जो उत्तर देंगे या फैसला करेंगे वह हमें मान्य होगा।"

द्रौपदी के उस प्रश्न और दुर्योधन के इस दांभिक उत्तर से बेचारे युधिष्ठिर का जितना मर्मच्छेद हुआ उतना और किसी बात से नहीं हो सकता था। उस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता था। असहाय द्रौपदी का चीर खींचा जा रहा था और उसे नया चीर मिलता जाता था। महाभारत के संशोधित संस्करण में कृष्ण से द्रौपदी की पुकार का वर्णन नहीं है। जो-कुछ हो रहा था वह इतना बीभत्स था कि विश्व में व्याप्त शक्ति जागृत हुई और उसके द्वारा द्रौपदी की रक्षा हुई, यही कहना होगा। दुःशासन थककर, लजाकर एक ओर हट गया। सभा-भवन अशुभ-अपशकुनी ध्वनियों से भर गया। विदुर तिलमिला उठा। उसने अंधे धृतराष्ट्र से कहा—"इस दुष्कृत्य से भयंकर उत्पात हो रहे हैं। तुम बीच में पड़ो और इस कुल को बरबादी से बचाओ।" धृतराष्ट्र भी इस सारे काण्ड से घबरा गया था। उसने द्रौपदी को मुक्त करके तीन वर दिये। दो वरों के द्वारा द्रौपदी ने अपने पतियों को छुड़ा लिया। परन्तु बुद्धिमत्ता बघारकर उसने जो विकट प्रश्न पूछा था, वह राजसभा में किसीको भी पसन्द नहीं आया था। युधिष्ठिर के लिए तो इस कांटे को जीवनभर भूलना संभव नहीं था। अरण्यवास में द्रौपदी ने धर्मराज के सामने अपनी अक्लबन्दी छांटने का प्रयास किया था। परन्तु पांडित्य में युधिष्ठिर उससे हार नहीं खा सकता था। उसने उसे चुप कर दिया। अपने जीवन में द्रौपदी ने छोटी-बड़ी जो गलतियां की थीं, वे तो क्षम्य थीं।

परन्तु भरी सभा में पांडित्य का डोल दिखाकर धर्मराज को उसने महान् संकट में डाल दिया था—अनजान में ही अपमान कर दिया था। परन्तु चूंकि यह अनजान में हुआ था, इस कारण क्या वह क्षम्य हो सकता था ? नहीं ! प्रथम तो राजसभा में तरुण वधू को बोलना ही नहीं चाहिए, यह बात उसे समझनी चाहिए थी। तिसपर यह पंडिताई का रौब कि जो बात बुद्धिमानों को नहीं सूझी, वह मुझे सूझ गई। ये दोनों बातें युधिष्ठिर को चुभ गईं। इससे द्रौपदी की कीर्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई। अलबत्ता इस घटना से उसकी पार्थिवता का, भोलेपन का ही परिचय होता है। अरण्य-पर्व में एक जगत 'पंडित' का विशेषण लगाया गया है। परन्तु ऐसा नहीं मालूम होता कि महाभारतकालीन स्त्रियों को यह कोई बहुत अच्छा लगा हो कि स्त्रियां पंडित हों। गान्धारी और कुन्ती पाण्डवों को उपदेश करती हैं परन्तु वे वयोवृद्ध तथा अनुभवी थीं। उनसे आशा की जा सकती थी कि वे कुल के लड़कों को नसीहत की बातें बतावें। परन्तु एक युवती का वयोवृद्ध व्यक्तियों के सामने बुद्धिमत्ता बघारना बिल्कुल गलत था। और ऐसा भी नहीं मालूम होता कि द्रौपदी ने इसे अपनी भूल समझी हो, और न युधिष्ठिर ने ही अपने दिल का घाव कभी प्रकट करके दिखाया। उन्होंने झलकाया भी तो वह एक दूसरे ही घाव की बात थी। वह इतनी स्पष्ट थी कि दूसरे सबको ही नहीं पर खुद निर्मल बुद्धि द्रौपदी को ही समझनी चाहिए थी।

यादवों के, विशेषतः श्रीकृष्ण के अन्त के बाद पाण्डवों के लिए पृथ्वी पर रहना ही संभव नहीं था। सबकुछ ठीक-ठाक करके पाण्डव अंतिम यात्रा को निकले और द्रौपदी भी उनके साथ ही निकली। गंगा को पार किया। हिमालय-प्रदेश पार किया और एक निर्वृक्ष पठार पर वे जा पहुंचे। बीहड़ पथरीला मार्ग था। इधर-उधर पत्थर बिखरे हुए थे, वहां और कुछ भी नहीं था। महीनों तक वे एक के पीछे दूसरा, इस तरह छह व्यक्ति चलते रहे थे। एकाएक द्रौपदी नीचे लुढ़क पड़ी। देखते ही भीम रुक गया। उसने घबराकर पूछा—"अरे क्यों ? ऐसे कैसे गिर पड़ी ?"

इतना लम्बा रास्ता तय कर चुकने के बाद वह क्यों न गिरती ? सब लोग जहां जा रहे थे वहांतक क्या सभी लोग सही-सलामत पहुंचते? भीम क्या यही समझे बैठा था।

"अरे देखो, यह गिर गई ! यह यों क्यों गिर पड़ी होगी ?" भीम बोला !

"भीम, आगे चले चलो; रुको मत, वह तो इसलिए गिरी कि उसने अर्जुन से सबसे अधिक प्रेम किया था।" युधिष्ठिर ने चलते-चलते बिना पीछे देखे ही उत्तर दिया। यह कहकर उसने अपने जीवन-भर के घाव को प्रकट कर दिया।

० ० ०

द्रौपदी गिर पड़ी और उसके पीछे दस-पांच कदम चलकर और सब भी गिर पड़े। अकेला धर्मराज ही एक कुत्ते के साथ आगे चलता गया।

द्रौपदी गिर तो पड़ी, परन्तु गिरकर मरी नहीं। उसे भयंकर ग्लानि हो रही थी। पांव आगे पड़ नहीं रहे थे। गिर पड़ने पर भी उसने भीम और धर्मराज के प्रश्नोत्तर सुने। यह महाप्रयाण था। इस यात्रा में कोई किसीके लिए रुक नहीं सकता था। जीवन का साथ समाप्त हो चुका था। सिर पर हाथ रक्खे वह मौत की राह देख रही थी; किन्तु होश में थी। युधिष्ठिर की बात सुनकर उसके मन में विचारों का चक्र घूमने लगा। वर्षों तक जीये हुए जीवन का चित्रपट अन्त के कुछ क्षणों में उसकी आंखों के सामने खड़ा हो गया।

युधिष्ठिर के वचनों का तीर उसे चुभ गया। धिक्कार भी उसने अनुभव किया। जीवन में पहली बार उसे हृदय से युधिष्ठिर पर दया आई। अनेक बार, विशेषतः अरण्यवास में, युधिष्ठिर की दैन्यावस्था पर अपनी विकलता शब्दों द्वारा प्रकट की थी। उन व्याकुल शब्दों में किसी-न-किसी नये झगड़े की शुरुआत होती थी। दैन्य की ओर अंगुली दिखाकर युधिष्ठिर की युद्धवृत्ति को जगाने का ही उसका प्रयत्न होता था। यह एक प्रकार से उसे आरी लगाना ही था। धर्मराज ने उसके उन प्रयत्नों की कभी दाद नहीं दी थी। यथासंभव सौम्य शब्दों में वह उसकी बात का खण्डन ही किया करता था। आज अलबत्ता इस एक

ही वाक्य में उसके जीवन की सारी वेदना मानो फूट पड़ी थी। धर्मराज, जो कभी अपने वचनों से किसीका जी नहीं दुखाता था, द्रौपदी के मरने के समय उसने, अपनी समझ से, द्रौपदी के व्यवहार की कमी दिखलाई। राजा की इस विकलता का परिचय पाकर द्रौपदी को थोड़ी देर बुरा लगा—पर थोड़ी देर ही। धर्मराज ने जो कमी बतलाई उससे वह चौंक उठी—पर वह भी क्षणभर को ही। मन में ज़रा हँसी। उसे स्वयंवर के दिन की याद आई। अर्जुन स्वयंवर जीतकर आया तो अपना विवाह, एक के बाद दूसरे इस तरह से, पांच व्यक्तियों से उसने किया। तब उसके मन में कितनी वेदना हुई होगी। इसका अनुमान क्या युधिष्ठिर को नहीं हुआ होगा? उसने अपने मन को मारकर कभी पांचों में कोई भेद-भाव नहीं किया। फिर भी मन कभी पूरी तरह मारा नहीं जा सकता। अलबत्ता कृति में संतुलन रक्खा जा सकता है। परन्तु क्या मन से पांचों पर बिल्कुल नाप-तौल कर बराबर प्रेम रक्खा जा सकता है? अतः यदि अर्जुन पर अधिक प्रेम रहा हो, तो इसमें कौन आश्चर्य?

मन क्षण-भर रुक गया···"प्रेम किया इसका क्या मतलब? जीवनभर उसके लिए तरसती रही—यही न? परन्तु मेरे प्रेम का कभी प्रतिदान मिला क्या? उलूपी, चित्रांगदा, सुभद्रा—अर्जुन ने कितनी ही स्त्रियों से प्रेम किया, पर उसने किसी भी स्त्री (पत्नी) को अपना हृदय दिया? स्त्रियों ने जरूर अर्जुन को प्रेम किया था, परन्तु अर्जुन ने तो अपना हृदय कृष्ण को दे रक्खा था। बहुत पहले से ही, इन्द्रप्रस्थ की स्थापना होने के पहले से ही, वह जानती थी कि अर्जुन और कृष्ण घण्टों बात करते रहते थे। उनकी बातचीत में कभी कोई नया कल्पना-लोक बसाने की बात भी आती होगी। परन्तु बोलते-चालते थे वे मित्र के ही नाते। परस्पर का हृदय एक-दूसरे पर उडेलने के लिए, दिल की गहरी बात एक दूसरे से कहने के लिए, एक-दूसरे की बात सुनने के लिए। कोई भी स्त्री अर्जुन का मन नहीं हरण कर सकी। प्रेम क्या ऐसा ही होता है? क्या प्रेम सदा एकांगी ही होता है? प्रत्युत्तर न मिलने पर भी मैं किसीके लिए क्यों मरूं? कोई मेरे लिए मरनेवाला भी हो न!' जैसे एकदम धक्का लगा हो, उसका मन रुक गया। जिसने जन्मभर

द्रौपदी के लिए जी खपाया, उसके प्रेम की याद आने से मानो बिजली कौंध गई; अंतःकरण में दर्द की लकीर खिंच गई। इस नई चेतना से द्रौपदी ने निश्वास छोड़ा। कुछ और ही चित्र आंखों के सामने आये। स्वयंवर-मण्डप के बाहर अर्जुन के साथ शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाला भीम, राजसभा में द्रौपदी को जब घसीटकर लाया गया तब बड़े भाई का हाथ जलाने के लिए लपकनेवाला भीम, सन्ताप कम न होने की दशा में अर्जुन ने जिसका हाथ थामा वह भीम, द्रौपदी को थकते देखते ही तिल-मिला उठनेवाला भीम, द्रौपदी के लिए सुगन्धित कमल पुष्प लाने के लिए दौड़ जानेवाला भीम, दुःशासन का खून पीनेवाला भीम, दुःशासन के रक्तरंजित हाथों से द्रौपदी की चोटी गूंथनेवाला भीम। कीचक का वध अर्जुन भी कर सकता था। पर वह काम भीम ने ही किया। एक नहीं दो नहीं, कितनी ही ऐसी बातें उसे आईं। खबक्कड़ भीम, उद्दण्ड भीम, सन्तापी भीम, धृतराष्ट्र और गान्धारी को दिनभर भला-बुरा कहनेवाला भीम! द्रौपदी जिस अर्थ में पार्थिव थी, उसी अर्थ में वह भी पार्थिव था। वह भूमिकन्या थी तो भीम भूमि-पुत्र था।

तभी द्रौपदी को किसीके फड़फड़ाने की और जोर से श्वांस लेने जैसी कोई आवाज़ आई। डर से उसका सारा शरीर कांपने लगा। वह शान्ति के साथ मरने की बाट जोह रही थी। कोई भयानक जानवर तो नहीं आ रहा है? इस पठार पर इतने दिन चलते हुए हो गये कोई जानवर नहीं दिखाई दिया। शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके यह जानवर एकदम गला घोंट सके तो कितना अच्छा! इसी मारे उसने जोर से आंखें मूंद लीं। नवीन संकट आ पड़ने से एक क्षण को भी न रुकते हुए एकदम उसकी आंखों पर काली छाया फैल गई। सूर्य के और उसके बीच कोई एक परदा-सा आ गया। धीमे गहरे स्वर में किसीने पुकारा—"द्रौपदी।" वह भीम की आवाज थी। द्रौपदी ने आश्चर्य, किन्तु कष्ट से, हाथ को दूर हटाया और आंखें खोलीं। भीम उसके मुंह पर अपने शरीर की छाया किये हुए था। वही एक दौड़-धूप करके हांफता हुआ, बड़े कष्ट से दस-पांच कदम चलकर उसतक पहुंच पाया था। रास्ते में अर्जुन, नकुल, सहदेव मरे पड़े थे। जब वे मरे हुए दिखाई दिये तब उसे यह लगा कि

द्रौपदी भी उसी अवस्था में दिखाई देगी, परन्तु आंखें मूंदकर शान्त पड़ी हुई द्रौपदी उसके आने से घबरा गई। उसे कंपकंपी आ गई। अपने जीवित रहने का यह चिह्न उसने अपनी आंखों से बताया। भीम ने लड़खड़ाते हुए पूछा, "क्या करूं तुम्हारे लिए, द्रौपदी ?" वह जीवनभर यही प्रश्न पूछता रहा। परन्तु इस समय की परिस्थिति में वह बिल्कुल निरर्थक और अनुचित था। द्रौपदी कुछ हँसी। भीम के मुंह के पास अपना मुंह लाकर उसने अंतिम सांस के साथ कहा—"भीम, अगले जन्म में तुम पांचों में सबसे बड़े भाई होना। तुम्हारे आश्रय में हम सब निर्भय होकर आनन्द में रहेंगे।"

छह

मयसभा

नई इमारतों व नगरों का निर्माण व प्रारम्भ बड़े ठाट-बाट और धूम-धड़ाके से होता है। परन्तु कुछका अन्त बड़ा अपशकुनी और दुर्दैवी सिद्ध होता है। यह लिखते समय मेरी आंखों के सामने पूना का शनिवार-बाड़ा, लोकमान्य तिलक का केसरी-कार्यालय है, जो आज के समय का मूर्तिमान उदाहरण है, एक बार जो पेशवा की राजधानी था, वह आज भीतर से नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। बुर्जियां टूट-फूटकर मिट्टी के ढेर हो रही हैं। जिन व्यक्तियों ने उसका निर्माण किया अथवा जो पुरुषार्थी व्यक्ति बाद में भी वहां रहे, उन्हें उसमें कोई सुख नहीं मिला और आज वह मूल प्रसाद भी बड़ी दीन-हीन अवस्था में किसी तरह खड़ा है। फिर भी उसमें कम-से-कम पांच पीढ़ियां तो ठीक तरह गुजरीं और सुख से भी रहीं। इससे भी अधिक वैभवशाली परन्तु अपशकुनी और क्षणभंगुर जिन भवनों और जिस नगर का रूप महाभारत पढ़ते हुए आज आंखों के सामने खड़ा हो जाता है, वह है इन्द्रप्रस्थ या खाण्डवप्रस्थ नगर और वहां की 'मयसभा'। पाण्डवों ने अपनी सम्पत्ति का नेत्र-दीपक, किन्तु हृदय-दाहक प्रदर्शन इस सभा में किया था। वह प्रदर्शन भी क्षणभंगुर ही सिद्ध हुआ। सभा-भवन के बसने के बाद पाण्डव तेरह-चौदह वर्ष भी इन्द्रप्रस्थ में नहीं रह पाये। क्रूरता में से 'मयसभा' का जन्म हुआ और चौपड़ के पांसों के उन्माद में उसका अंत।

महाभारत में 'मयसभा' के जन्म की कथा इस प्रकार कही गई है—

द्रौपदी के विवाह के बाद पाण्डवों का पलड़ा एकदम भारी हो गया।

पाण्डवों को मार डालने की जो तजवीज की गई थी, वह व्यर्थ सिद्ध हुई और वे नवीन उत्साह तथा तेज से फिर प्रकट हुए। ऐसे समय में धृतराष्ट्र के लिए उन्हें राज्य का आधा भाग देना अनिवार्य हो गया। उन्होंने धर्मराज को बुलाकर राज्य का आधा भाग दिया और कहा कि तुम खाण्डव-प्रस्थ में जाकर रहो। कुरुओं की वंशपरंपरागत राजधानी, हस्तिनापुर युधिष्ठिर को नहीं मिली। राज्य की एक सीमा पर—एक कोने में अरण्य के निकट—एक गांव उन्हें हिस्से में मिला। तबतक खाण्डव-प्रस्थ का नाम महाभारत में कहीं भी नहीं आया था। खाण्डव-प्रस्थ जाने के बाद धर्मराज ने उस छोटे-से गांव का राजधानी में रूपान्तर करने का उपक्रम किया। भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे करनेवाले व्यवसायी वहां स्थायी रूप से आकर बसे। बड़े-बड़े धनाढ्य व्यापारी आये।

धर्मराज ने विभिन्न प्रकार के कलाकारों व कारीगरों को आग्रह-पूर्वक लाकर वहां बसाया। खाण्डवप्रस्थ अब अच्छी-खासी राजधानी बन गई। परन्तु फिर भी वह नई तो थी ही; और हस्तिनापुर के मुकाबले में छोटी भी थी। इसी खाण्डवप्रस्थ का दूसरा नाम 'इन्द्रप्रस्थ' भी था, जो बार-बार आता है। वहीं नारदजी के बताये नियम का भंग करने के कारण अर्जुन को वनवास भुगतना पड़ा था। वनवास के दिनों में ही सुभद्रा से अर्जुन का विवाह हुआ था। वनवास पूर्ण होने पर वह इन्द्रप्रस्थ लौट आया और पीछे-पीछे यादव सुभद्रा तथा विपुल संपत्ति, दास-दासी, रथ-घोड़े आदि दहेज का लवाजमा साथ लेकर आये। कई दिनों तक राजधानी में बड़ा उत्सव रहा। गर्मी के दिन थे। ऐसे समय अर्जुन का मन हुआ कि वन-विहार के लिए कहीं चलें। एक दिन वन-भोजन की तजबीज हुई। धर्मराज की अनुमति से, बड़े-बूढ़ों को साथ न लेकर, कृष्ण और अर्जुन वन-विहार के लिए निकले। उनकी पत्नियां और दास-दासियों के अलावा और कोई लोग साथ न थे। सब लोगों ने खूब खाया-पिया और मद्यपान भी किया। स्त्रियां कोई नाच रही थीं, कोई गा रही थीं। सघन वृक्ष-कुंजों की छाया में गर्मी बिल्कुल मालूम ही नहीं हुई। कृष्ण और अर्जुन दोनों एकसाथ बैठकर बहुत-सी गपशप

करते रहे। एक दूसरे के युद्ध और प्रेम के पराक्रम—'विक्रान्तानि रतानि च'—की बातें सुनी-सुनाई। उनके उस अवस्था में बैठे हुए एक ब्राह्मण वहां आया और उसने कहा, "मैं भूखा हूं और खाता इतना हूं कि उसका कोई हिसाब नहीं। मुझे भोजन देकर तृप्त कीजिए।" उन्होंने जब उसे भोजन परोसा तो उसने अपना अग्निरूप प्रकट किया और कहा—"मुझे यहां—खाण्डव-वन—के समस्त प्राणियों के साथ खाने दीजिए। मुझे इसे जलाने दीजिए। जब-जब मैं इसे जलाने की कोशिश करता हूं तो इन्द्र पानी बरसाकर मेरी इस कोशिश को बेकार कर देता है। कृष्ण व अर्जुन ने इस बात को पूरा करने की हामी भरी। परन्तु साथ ही ऐसी भी शर्त लगा दी कि उत्तम रथ और शस्त्र सभी अग्निदेव हमें दें। तब एक दिव्य रथ, बिल्कुल सफेद वायुवेगी घोड़े और गाण्डीव धनुष लाकर अग्नि ने अर्जुन को दिये। श्रीकृष्ण को चक्र तथा दूसरे आयुध मिले और अग्नि से जलते अरण्य का कृष्ण और अर्जुन ने दोनों रथों के द्वारा दोनों ओर से घेरकर ऐसा कड़ा प्रबन्ध किया कि आग से बचकर भागनेवाले प्राणियों को जरा भी मार्ग नहीं मिल सका। जो भीतर रह गये वे जल-भुनकर खाक हो गये और जिन्होंने बाहर आने की कोशिश की वे इन दोनों के शस्त्रों के शिकार हो गये। नागराज तक्षक कुरुक्षेत्र गया हुआ था, इससे बच गया। परन्तु उसके लड़कों को अपने प्राण देकर उसकी माता ने बड़ी तरकीब से बचा लिया। तक्षक के आश्रय में मय नामक असुर (दानव) रहता था। वह 'अर्जुन मुझे बचाओ, बचाओ', पुकारता हुआ दौड़ा आया, सो अर्जुन ने उसे जीवनदान दिया। इसी प्रकार एक ब्राह्मण के शार्ङ्गी नामक पक्षिणी से उत्पन्न बच्चों को भी अर्जुन ने बचाया। बाकी वहां के तक्षकवंशी नाग व अन्य पशु-पक्षी सब-के-सब मारे गये। इन्द्र तथा अन्य देवता अरण्य की रक्षा के लिए दौड़े आये, लेकिन कृष्ण और अर्जुन ने उन्हें युद्ध में हराकर भगा दिया।

देवताओं ने, यह कहकर कि तुम्हारा मित्र तक्षक तो बच ही गया है, इन्द्र को भी अर्जुन व कृष्ण से युद्ध करने से रोक दिया। एक सप्ताह तक अरण्य जलता रहा और अर्जुन और कृष्ण सारा समय चारों ओर चक्कर लगाकर वन से भागते हुए प्राणियों का संहार करते रहे। अरण्य के

समस्त प्राणियों का मांस और चर्बी खाकर अग्निदेव तृप्त हो गये और दोनों वीरों से विदा लेकर वहां से चले गये। अपने प्राण बचाने का बदला देने के लिए मय दानव ने नाना देशों से सामग्री जुटाकर इन्द्रप्रस्थ राजधानी में एक सभा का निर्माण किया, जो मय-सभा कहलाई। इसके निर्माण के बाद धर्मराज के भाइयों ने चारों दिशाओं में जाकर सारे राजाओं को जीत लिया। उसके बाद उन्होंने राजसूय यज्ञ किया। हस्तिनापुर के सारे सगे-संबंधियों को बड़े आग्रह के साथ यज्ञ का निमंत्रण दिया। उस समय के सारे राजाओं के सामने पाण्डवों के विपुल वैभव और विक्रम का प्रदर्शन हुआ। परन्तु सबसे अधिक दाहक प्रदर्शन हुआ उनके चचेरे भाई के सामने। मय-सभा का निर्माण कुछ इस प्रकार हुआ था कि जहां जमीन हो वहां पानी का प्रवाह दिखाई देता था और जहां पानी हो वहां सीधी-सादी जमीन। जहां दरवाजा देखकर जाने लगते, तो दीवार से सर टकरा जाता। रत्नों के पशु-पक्षी और पेड़ इतने सुन्दर बनाये गए थे कि वे सचमुच के मालूम होते थे। इससे दुर्योधन को बड़ा भ्रम हुआ। एक जगह वह पानी में भीग गया और दूसरी जगह उसका सिर दीवार से टकरा गया। उसकी यह फजीहत देखकर पाण्डव और द्रौपदी खिलखिला कर हँस पड़े। पाण्डवों ने इस प्रकार, केवल अपने वैभव का प्रदर्शन ही नहीं किया, वरन् जानबूझकर और सबके देखते हुए, दुर्योधन का अपमान भी किया।

थोड़े ही दिनों के बाद पासा पलट गया। पाण्डव जुए में सर्वस्व हार गये और तेरह वर्ष के लिए वनवास गये। फिर लौटकर युद्ध में विजय पाने के बाद वे पूर्व-पुरुषों से चली आई राजधानी हस्तिनापुर में रहे, इन्द्रप्रस्थ में नहीं। यादव-वंश का विनाश होने पर जिन बचे-खुचे लोगों को लेकर अर्जुन आया, उनमें कृष्ण का नाती वज्र भी था। जब पाण्डवों ने महाप्रस्थान किया तब उन्होंने परीक्षित को हस्तिनापुर का और वज्र को इन्द्रप्रस्थ का राज सौंपा। इसके बाद फिर कहीं इन्द्रप्रस्थ का नाम नहीं सुनाई देता। और मयसभा का वर्णन भी जो एक बार सभापर्व में आया सो फिर कहीं उसका उल्लेख नहीं आता।

यह तो हुई खाण्डव-वन को जलाने की कथा। उसमें कई बातें विचार करने योग्य हैं। इतना बड़ा वन क्यों जलाया गया और उसके निवासी सारे प्राणी, नाग-पशु-पक्षी इत्यादि को क्यों जड़मूल से नष्ट किया गया? अर्जुन ने जो अपने को बीभत्सु[1] कहा करता था, यह निर्दय कृत्य क्यों किया?

यमुना के किनारे यदि आनन्द से वन-विहार के लिए वे लोग गये थे, तो उन्हें वहां यह अरण्य जलाने का विचार क्यों और कैसे आया? महाभारत में कहा गया है कि अग्नि ब्राह्मण का रूप लेकर आया और उसने खाद्य मांगा। अब ब्राह्मणों को मांगने पर मना कैसे किया जाय? इस धर्मसंकट में इन वीरों ने खाण्डव-वन को जला दिया; और जलाया भी कैसा कि दोनों तरफ से रथ इस प्रकार दौड़ाये गये और धनुष-बाण इस तरह चलाये गए कि एक भी प्राणी बाहर न निकल सका। अरण्य के केवल पेड़ ही नहीं जलाये गए, वन के प्रत्येक प्राणी को भी अन्दर ही मारकर या उन्हें हांक और घेर-घार कर जंगल में जला दिया। घी खा-खाकर ऊबे हुए अग्निदेव ने रुचि बदलने के लिए जंगल के जानवर खाने के लिए मांगे और कृष्ण तथा अर्जुन ने इस प्रकार उन्हें वे खिलाये। इस कथा के दो अर्थ निकल सकते हैं। एक तो यह कि खाण्डववन कृष्ण-अर्जुन ने नहीं जलाया। वह अपने-आप आग लगकर जल गया, और उसका श्रेय कृष्ण-अर्जुन को दिया गया। दूसरा यह कि सचमुच ही कृष्ण-अर्जुन ने उस वन को जलाया। यदि दूसरा कारण सही मानें तो इतना बड़ा अरण्य प्राणियों सहित जलाना बड़ी बहादुरी का और प्रशंसनीय कृत्य समझा गया होना चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं। जैसाकि महाभारत में कहा गया है, सचमुच ही घनघोर वर्षा होते रहने पर भी बार-बार आग लगाकर इस वन को जलाया गया होगा, ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं। पर प्रश्न यह है कि वह जलाया ही क्यों गया?

---

१. बीभत्सु का अर्थ है अतिशय क्रूर कर्म करनेवाला। अर्जुन स्वयं कहता है कि युद्ध में मैं कभी बीभत्स कृत्य नहीं करता। इसलिए मेरा नाम बीभत्सु पड़ गया है। अर्जुन ने जो अपने छह नामों का स्पष्टीकरण किया है, उस समय का यह प्रसंग विराट पर्व में आया है। —लेखक

आर्य लोग पशु-पालक थे। हल-बैल से खेती करते थे। उनकी जमात के इतिहास में वन जलाने और काटने की घटनाएं पाई जाती हैं। सारे उत्तरी भारत में गहन अरण्य था। उसका वर्णन वेद तथा महाभारत में आता है। कुछ प्रसिद्ध वनों का वर्णन बौद्ध-साहित्य में भी आता है। यही नहीं, परन्तु इतिहास-कालीन शिलालेखों से भी प्राप्त होता है। महाभारत के राज्य बहुत छोटे-छोटे थे। वर्तमान पंजाब और दिल्ली के आसपास के प्रदेश में कुरु, दक्षिण और उत्तर में पांचाल, त्रिगर्त और मत्स्य इतने राज्य थे। फिर भी एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं थे। राजधानी के आसपास खेती की जमीनवाले गांव और उसके आसपास अरण्य इस प्रकार राज्य का रूप होता था। काम्यक वन, द्वैत वन, खांडव वन, इस प्रकार कितने ही वनों का वर्णन आता है। महाभारत के बाद बौद्ध-काल में लगभग पांच-छह सौ वर्ष बाद पश्चिम की ओर के वनों का वर्णन नहीं आता। परन्तु पूर्व की ओर वेलूवन, जेतवन इत्यादि छोटे-छोटे वनों के नाम और वर्णन आते हैं। एक-दो हजार वर्षों में वन लगभग सब नष्ट हो गये, और सिन्धु से लेकर गंगासागर तक सपाट मैदान हो गया। विलायत में भी बड़े-बड़े अरण्य थे। उनकी जगह अब खेती के मैदान हो गये। जब विलायत के लोग दक्षिण और उत्तरी अमेरिका में गये तो वहां भी उन्होंने जंगल काटे या जलाये, और सपाट मैदान करके खेती की। जब धर्मराज खांडवप्रस्थ में आये तो उन्होंने वहां अपनी नई राजधानी में व्यापारियों और उद्योग-धंधा करनेवालों को लाकर बसाया। प्रत्येक राजधानी के आसपास खेत और खेतों के आसपास जंगल फैला रहता था। पाण्डवों का राज्य भी इसी तरह का था। खांडव-वन के पड़ोस में इक्षुमती नामक छोटी नदी और बड़ी नदी यमुना थी। खांडववन नाम भी ध्यान देने योग्य है। खांडव, खंडु शब्द से बना है। और खंडु का अर्थ है, मोटी मिश्री की डली की तरह शक्कर या कोई मीठी वस्तु। पड़ौस में इक्षुमती नदी थी। इक्षु का अर्थ होता है गन्ना। इक्षुमती नाम ही सूचित करता है कि कोई मीठी वस्तु नदी-किनारे थी। श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन जहां कहीं आया है उसका नाम भी मधुवन था। वह भी यमुना किनारे ही था। इक्षुमती, खांडव-वन और मधुवन तीनों शब्दों से ऐसा

प्रतीत होता है कि इस वन में कोई-न-कोई मीठी चीज उत्पन्न होती थी। वह शहद तो नहीं ? शायद हो भी। आजकल मध्यभारत के जंगल में एक रम्य विशाल वृक्ष पाया जाता है। उसे मोह अथवा महुवा कहते हैं। उसका संस्कृत नाम मधुक है।

महुवे का पेड़ जंगली लोगों के लिए कामधेनु ही है। उसके पत्तों की पत्तल बनती हैं और मीठे, सुगंधित, मधु-रस से पूर्ण फूलों से मद्य बनता है। फूल सुखाकर खाते भी हैं। इसके भीतरी चिकने रस में बनाये लाही के लड्डू बड़े मीठे होते हैं। संभव है कि खांडव-वन में ऐसे ही वृक्षों की भरमार रही हो और उस कारण उसे यह मीठा नाम दिया गया हो। परन्तु उसकी मिठास, उसकी परख और वहां के सुन्दर, विशाल, मधुर वृक्षों का वास्तविक मूल्य अन्दर रहनेवाले आर्येतर लोग जानते थे, आर्य लोग नहीं। व्यवसायी और हुनरमंद लोग राजधानी में रहते थे और किसान व खेतिहर राजधानी से बाहर गांव में। जंगल जलाना अथवा काटना और किसानों को बसाने के लिए उन्हें देना यह राजा के कर्तव्यों में गिना जाता था। वही कृष्ण-अर्जुन ने किया। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि खांडववन को जलाने का विरोध हुआ होगा। ये विरोध करनेवाले कौन थे ? सारे वर्णन से ऐसा जान पड़ता है कि खांडव-वन निर्जन अरण्य नहीं था। वह जमीन ऐसी नहीं थी जिसका कोई मालिक ही न हो। तक्षक नाग का परिवार वहां रहता था। उसीके घर मय नामक बड़ा कारीगर था। शार्ङ्गी नामक पक्षीकुल का नाम रखनेवाली एक स्त्री, जिसने एक ब्राह्मण से विवाह किया था, भी वहां रहती थी। उसके अलावा और भी बहुत-से लोग वहां रहते थे। उनके नाम सर्प और पक्षियों के नाम पर रक्खे जाते थे। इसके अलावा पशु भी थे। ये सचमुच पशु थे या पशुकुल के नाम रखनेवाले जैसे—बाघ, मोर, सिंह, अश्व इत्यादि, पशुकुल का नाम रखनेवाले मनुष्य थे।

ऐसा मालूम होता है कि जंगल को जलाते हुए कृष्ण और अर्जुन ने इन सबको मार डाला। पूर्वोक्त कुछ अपवादों को छोड़कर किसीको जिन्दा नहीं छोड़ा। फिर प्रश्न उपस्थित होता है, यह इतना संहार भी क्यों ? इसलिए कि यदि जंगल जलाकर जमीन आबादी के लिए तैयार करनी है,

तो उसका कोई मालिक रहना ठीक नहीं, उस भूमि में वंश-परम्परा से रहनेवाले सभी लोगों का संहार करना पड़ा। अरण्य में वंश-परम्परा से दीर्घकाल तक रहनेवाले लोग मुख्य रूप से नाग-जाति के थे। महाभारत कथा में शेष, वासुकी, धृतराष्ट्र, ऐरावत, एलापत्र, तक्षक और कर्कोटक आदि विभिन्न नाग-कुलों के मुखिया थे। उन्हें 'नागराज' का विशेषण लगाया जाता था। आर्य जिस भूमि में पहले-पहल आये (पंचनद प्रदेश) वही उस नागकुल का प्रदेश था। हां, नाग अलबत्ते नदी-तट के अरण्यों में रहते थे, तो आर्य खुले मैदानों में रहना पसन्द करते थे। वासुकी, भोगावती नदी के किनारे रहता था। ऐरावत इरावती के किनारे। तक्षक यमुना-तट पर कुरुक्षेत्र के पास रहता था। 'ऐलापत्र' ऐरावत शब्द का ही प्राकृत रूप है। जिस जगह नाग रहते थे, उस स्थान के स्वामी वही थे। आर्य राजाओं को जंगल जलाकर अपनी प्रजा को खेती के लिए जमीन देनी थी। तो क्या उन्हें पुराने मालिकों को नष्ट करना ही पड़ता था? दूसरा यह विचार भी मन में आता है कि क्या जंगल के सभी निवासी मनुष्य और जानवर शिकार के योग्य थे, और ऐसा कृष्ण और अर्जुन मानते थे? कृष्ण-अर्जुन द्वारा हुए इस प्राणि-संहार का रस-भरित वर्णन क्या इस तर्क के अनुकूल है?

क्षत्रियों का विरुद शरणागत की रक्षा करना है। अपनी समानता वालों से युद्ध करना और निरूपक्रोश रहना—किसीकी हाय-हाय मोल न लेना—यह सारा सिद्धांत इस संहार के समय कहां चला गया था? शरणागत की रक्षा, बराबरीवालों से युद्ध और निरूपक्रोश ये सब नियम क्या उनके अपने समाज के लिए ही थे। अपने समाज से बाहर वालों पर यह नियम लागू नहीं थे क्या? क्या ऐसा कोई नियम इसके मूल में था? इससे फिर एक बार ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण होता है। जो अपने समाज में नहीं थे, ऐसे लोगों का क्रूर संहार क्या तैमूरलंग और चंगेजखान ने नहीं किया? और अभी बिल्कुल ताजा उदाहरण है १९ वीं शताब्दी का। टॅस्मेनिया में गोरे लोगों ने क्या वहां के वनवासी लोगों का संहार—शिकार जानवरों की तरह नहीं किया? नीति-नियम सामाजिक होते हैं, वे बहुधा अपने-अपने समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों

तक ही सीमित रहते हैं। समाज में भी फिर भिन्न-भिन्न वर्ग, जाति, कुटुम्ब, के व्यवहार के अलग-अलग नियम होते हैं। अपने-पराये, स्वकीय-परकीय का भेद, नित्य व्यवहार का अपना एक विश्व होता है। स्वकीय और अपने माने जानेवाले समूह में व्यवहार करने के नियम परकीयों पर लागू नहीं होते। विश्व-कुटुम्ब-भाव रखनेवाले लोग अपवादक होते हैं। कृष्ण तथा अर्जुन उस कोटि के नहीं थे। वे दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में तत्कालीन क्षत्रियों में प्रसिद्ध थे। एक राजनीतिज्ञ और दूसरा योद्धा के रूप में। इस भीषण संहार से उनका मन हिल गया हो, ऐसा भी दिखाई नहीं देता।

महाभारत में एक 'मृग-स्वप्न-भय' नामक प्रकरण है। पाण्डव एक वन में रहते थे। वहां भी उनका एक बड़ा परिवार था। सबका पेट पालने के लिए भी, और प्रमोद के लिए भी, पाण्डव रोज खूब शिकार किया करते थे। एक रोज सपने में जानवर (हरिण) आये और उन्होंने कहा, "राजा, तुमने पशुओं का इतना संहार शुरू किया है कि शीघ्र ही हम नष्ट हो जायंगे। तुम दूसरे वन में जाओ, हमें थोडा सांस लेने दो। फिर लौटकर आ जाना।" यह सुनकर धर्मराज अपने भाइयों को लेकर दूसरे वन में चले गये। जो पाण्डव ऐसा समझते थे कि पशु निर्वंश न हो जायं, उन्होंने खाण्डव-वन में निर्दय होकर इतना संहार कैसे किया। इसका एक उत्तर तो यह है कि खाण्डव-वन में संहार कृष्णार्जुन ने किया था, धर्मराज ने नहीं। दूसरा यह कि पशुओं को निर्वंश न करने के मूल में दयाभाव नहीं, राजनीतिज्ञता थी।

संसार के सब समाजों में पशु-पक्षियों जैसे वन्य प्राणियों के शिकार के कड़े नियम बने हुए हैं। जिस ऋतु में पशु-पक्षी पैदा होते हैं, उनमें उन्हें न मारा जाय। गर्भिणी मादा व उसके छोटे बच्चों को न मारा जाय। ऐसे एक-दो नहीं, अगणित नियम हैं। हरिणी के शिकार का मौसम एक, तो तीतर के शिकार का दूसरा। इसी प्रकार के नियम महाभारत-काल से अथवा उसके पहले से हमारे यहां बने हुए थे, ऐसा मालूम होता है। यह नियम था कि गाभिन मादा को न मारा जाय। एक ऐसे ही अवसर, पर ऋतुकाल में क्रौंच पक्षी के क्रीड़ारत रहते हुए, एक का वध करने पर

ही तो करुणार्द्र होकर वाल्मीकि के मन में काव्य प्रेरणा हुई थी। 'यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'। ये सब मृगया के नियम थे। परन्तु अपने समाज से बाहर के मनुष्यों को मारने के लिए कोई नियम नहीं था। पशुओं को भले ही हम आज जीवित छोड़ दें, परन्तु फिर भी जब मन आवे तभी मारने की छूट थी। परन्तु मनुष्यों को यदि दास के रूप में जीवित रखें, तो भी मानव-मानव के व्यवहार में, भले ही वह शूद्रतम क्यों न हो, उनके कुछ अधिकार निर्माण होते हैं। अतः जो अरण्य के मालिक हों, उन्हें तो जीवित रखना और भी खतरनाक था। इन व्यक्तियों को दास बनाकर रखना तो और भी भयावह था। अतः जब एक जमात दूसरे को जीत लेती थी तब वह जहांतक हो सके 'जित' को समूल नष्ट करने की नीति अंगीकार करती थी।

खाण्डव-वन में जिनका कत्लेआम हुआ, उनमें मुख्य वंश तक्षक नाग का था। तक्षक उस समय कुरुक्षेत्र चला गया था। इससे बच गया। परन्तु उसकी पत्नी तथा परिवार के दूसरे लोग जल गये। इस तक्षक को लेकर एक उपकथा महाभारत में मिलती है। परन्तु सचमुच ही वह उपकथा नहीं, बल्कि महाभारत की मुख्य कथाओं की तरह ही महत्वपूर्ण है। तीन पीढ़ियों के इतिहास और दो मानव-वंशों के संघर्ष की कथा कहनेवाली वह एक शृंखला की कड़ी है। यह कथा महाभारत के प्रारंभ में ही आ जाती है। कर्ण पर्व में भी यह प्रसंग आता है। परन्तु एक बार आदिपर्व में उसका सविस्तर वर्णन आने पर महाभारत के कथानक में वह फिर कहीं झांकती नहीं है।

उत्तंक की कथा में ऐसा उल्लेख आता है कि तक्षक कुरुक्षेत्र में इक्षुमती नदी के किनारे रहता था। खाण्डव-दाह-प्रकरण में कहा जाता है कि खाण्डव-वन तक्षक के रहने का अरण्य था। इक्षुमती यमुना में मिलनेवाली कोई छोटी नदी रही होगी। खाण्डव-वन में तक्षक तो मरा ही नहीं था; लेकिन वह निर्वंश भी नहीं हुआ था। परन्तु इसके कारण केवल तक्षक का ही नहीं, बल्कि समस्त नाग नामधारी लोगों का और पाण्डवों का वैर हो गया। यह वैर-भाव अर्जुन, उसका पोता परीक्षित और उसका पुत्र जनमेजय—इस प्रकार तीन पीढ़ियों तक चला।

कर्णार्जुन-युद्ध के समय तक्षक के पुत्र ने अर्जुन को मारने का प्राणपण से प्रयत्न किया था। वह सफल नहीं हुआ, यह दूसरी बात है। परन्तु अर्जुन के पोते परीक्षित को तक्षक ने मार डाला। इसका फिर बदला एक बार सर्प-सत्र के नाम पर भयंकर हत्या करके जनमेजय ने लिया।

नाग-जाति के लोग तत्कालीन क्षत्रिय-जाति की दृष्टि से पराये नहीं थे, न जंगली ही थे। कुरुओं की जो वंशावली बताई गई है, उसमें दो विभिन्न राजाओं के तक्षक की ज्वाला नामक कन्याओं से विवाह करने का उल्लेख है। और इन दो ज्वालाओं के पुत्र राजगद्दी पर भी बैठे, ऐसा भी वर्णन है। अर्थात् कुरुवंश में कम-से-कम शन्तनु तक नाग-वंश का बीज तो निःसंशय था ही। जिन नाग-वंशीय कन्याओं के साथ विवाह हुआ था वे रानियां बनीं। उनके पुत्र गद्दी पर बैठे। इससे ऐसा मालूम होता है कि क्षत्रिय लोग उन्हें अपने समान मानते थे। नाग-राजाओं की जो सूची मिलती है, उसमें तक्षक के वंश का नाम हमेशा आता है। तक्षक के पुत्र का नाम था अश्वसेन। यह भी क्षत्रियों के नाम जैसा ही है। अर्जुन ने उलूपी नामक नागकन्या से विवाह किया था। वह कौरव वंश की थी। इस कुल में ऐरावत तथा धृतराष्ट्र नाम के राजा थे। तब नाग-वंशीय एक कुल के सर्वनाश करने का क्रूर प्रयत्न कृष्ण और अर्जुन ने क्यों किया?

यह उत्तर कि ब्राह्मण ने दान मांगा और हमने दिया, संतोषजनक नहीं लगता। ब्राह्मण ने, प्रत्यक्ष द्रोण ने, द्रुपद को पराभव करने का दान मांगा था, सो अर्जुन ने उसे पकड़ कर ला दिया। परन्तु उसका नाश तो नहीं किया। अपने विजेता को अपनी पुत्री ब्याहते समय द्रुपद को दुःख भी नहीं हुआ। क्षत्रियों से युद्ध करने की एक नीति थी। परन्तु खाण्डव-दाह-प्रकरण में किसी भी तरह विधि-नियम दिखाई नहीं पड़ते। एक-मात्र उद्देश्य नागों का संहार दिखाई देता है। श्रीकृष्ण ने बचपन में यमुना के दह में रहनेवाले कालिय-नाग का पराभव करके उसे यमुना का अपना निवास छोड़ने पर मजबूर कर दिया था। इसपर कृष्ण का और उद्देश्यों के साथ, एक यह भी उद्देश्य दिखाई देता है कि यमुना-प्रदेश से

नागों को एकदम निकाल दिया जाय। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए स्थानीय नागों को निर्वंश करने की नीति क्रूर तो थी ही, परन्तु आगे की कथा से ऐसा भी मालूम होता है कि उनकी यह तजबीज चल नहीं सकी। हिटलर ने जिस प्रकार यहूदी लोगों का वंशच्छेद करने की नीति अपनाई थी, वैसी ही यह हिटलरी नीति मालूम होती है। इससे उनका हेतु तो सिद्ध हुआ ही नहीं, उल्टा तीन पीढ़ियों तक का वैरभाव और शत्रुता पल्ले पड़ी। सहस्रों नाग तथा नाग-वंशीय लोग तड़फड़ाते और तिल-मिलाते हुए आग में भस्म हो गये।

इनमें मय बच गया, जो कि असुर था। वह उत्कृष्ट कारीगर था। श्रीकृष्ण की आज्ञा से उसने पाण्डवों के लिए अनुपम सभा-भवन बना दिया था। गंगा-यमुना के तटस्थ किसी भी क्षत्रिय राजा के पास इतनी सुन्दर राजसभा नहीं थी। आर्यों के सब भवन—निवास लकड़ी के होते थे। इसके विपरीत आर्यों के पूर्व भारत-निवासियों ने पक्की ईंटों से बड़े-बड़े नगरों का निर्माण किया था। असुर नामक लोग इस भवन-निर्माण-विद्या में बड़े ही प्रवीण थे। सिर्फ सादी ईंटें ही नही थीं, कांच का स्तर बिठाई हुई भिन्न-भिन्न रंगों की ईंटें भी वे बनाते थे। ऐसी ईंटों के द्वारा मयदानव ने पाण्डवों का सभा-भवन बनाया होगा। हरी-नीली ईंटों से उसमें पानी का आभास बनाया। पानी को बहाया तो उसके नीचे भिन्न-भिन्न रंग की ईंट लगाकर, जमीन-धरती का भास हो, ऐसी रचना की थी। इस सभा में बहुतों की खूब फजीहत हुई होगी। परन्तु महाभारत में सिर्फ दुर्योधन की फजीहत का और द्रौपदी तथा भीम के खिलखिलाकर हँस पड़ने का वर्णन है। दुर्योधन पहले भी पाण्डवों के वैभव से जलता रहता था। इन दोनों का यह हँसना और भी जले पर नमक छिड़कने जैसा हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं। इधर भीम और द्रौपदी हँस रहे थे, उधर धर्मराज ने उसे हाथ पकड़कर उठाया और नये वस्त्र पहनने को दिये। यह प्रकार भी उसे सिद्ध-साधक जैसा लगा होना चाहिए। एक ने उपहास के द्वारा, तो दूसरे ने उदारता के द्वारा उसे पछाड़ा। दुर्योधन संताप और ईर्ष्या से इतना जल उठा कि यह हमेशा इसी ताक में रहता कि पाण्डवों को नीचा कैसे दिखाया जाय। 'करो या मरो' जैसा उसका मानस हो गया। अन्त

में उसके मामा ने पाण्डवों को द्यूत में हराकर उन्हें देश-निकाला दे दिया और इस प्रकार अपने भानजे का हृदय शान्त किया।

जंगल जलाकर उसमें रहनेवाले प्राणियों का इतना अमानुष संहार करके जो सभा-भवन बनाया गया उसका उपभोग कुल दस-पांच वर्षों तक भी पाण्डव नहीं कर सके।

पाण्डवों के वनवास-काल में इन्द्रप्रस्थ का अथवा मयसभा के तहस-नहस होने का कोई उल्लेख नहीं है। अलबत्ता युद्धोत्तर-काल में पाण्डवों ने जो राज्य किया, वह हस्तिनापुर में ही किया था। वज्र कितने वर्षों तक इन्द्रप्रस्थ में टिका रहा, उसके वंशज वहां रहे या नहीं, इसका भी कोई उल्लेख नहीं है। खुद पाण्डवों को भी जनमेजय के बाद शीघ्र ही हस्तिनापुर छोड़कर कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाना पड़ा। इन्द्रप्रस्थ के यादव वंश को भी ऐसा ही करना पड़ा होगा। उत्तर की ओर से नये-नये लोगों के हमले होते जा रहे थे। महाभारत-युद्ध में जो क्षत्रिय-कुल खोखले पड़ गये थे वे उनका मुकाबला नहीं कर सके। महा-भारत-कालीन कुरु-पांचाल के राजकुल, समाज-व्यवस्था, शासन-प्रबन्ध सबकुछ नष्ट हो गये। इसके बाद जो नाम सुनाई देता है, वह मगध का, कुरु-पांचाल का नहीं। इस सारे उत्पात में हस्तिनापुर नष्ट हो गया। इन्द्रप्रस्थ भी तहस-नहस हो गया। अलबत्ता हस्तिनापुर एक दीर्घकालीन परंपरा पीछे छोड़ गया। हस्तिनापुर में कुरुवंश ने कई शतकों तक राज्य किया। वहां के राजा-रानियों की अद्भुत और रम्य अथवा बिल्कुल साधारण जीवन-कथाओं से हस्तिनापुर का नाम सदा के लिए जुड़ गया है। हस्तिनापुर के राजमार्गों का वर्णन है। वहां के नागरिक भिन्न-भिन्न अवसरों पर क्या बोले, इसका उल्लेख है। कुन्ती को आश्रय देनेवाले विदुर का घर वहां था, धृतराष्ट्र की राजसभा वहां थी, द्रौपदी को जिस अन्तःपुर से खींचकर लाया गया वह भी वहां था। अन्त में शोकार्त कौरव स्त्रियां भी वहीं थीं।

किसी भी राजवंश का इन्द्रप्रस्थ से सम्बन्ध नहीं रहा। खांडव-दाह की भयानक कथा को छोड़कर संस्कृत वांग्मय में और किसी कथा-वस्तु

ने इस नगर का आसरा नहीं लिया। उसे न महत्त्व प्राप्त हुआ और न आकार ही। मयसभा का निवास केवल अमंगली—अपशकुनी ही नहीं रहा, एक आभास-मात्र होकर रह गया। मानव की तामस वृत्ति से निर्मित क्षणभंगुर, नेत्र-दीपक, परन्तु हृदय-दाहक एक 'आसुरी संपत्ति' का वह स्वप्नवत् दर्शन ही सिद्ध हुआ।

सात

'परधर्मो भयावहः'

महाभारत में ब्राह्मणों का स्थान, कुल मिलाकर, कथानक की दृष्टि से बिल्कुल केन्द्रीय न होने पर भी कथा की परिपुष्टि के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह स्थान द्रोण व अश्वत्थामा इन दोनों पिता-पुत्रों का है। दूसरे ब्राह्मण तथा उनके उल्लेख बिल्कुल निरर्थक हैं, इस कारण उन्हें छोड़ा जा सकता है। परशुराम का उल्लेख भी इसी कोटि में आता है। महाभारत में वर्णित परशुराम भीष्म से कुछ सप्ताह युद्ध करके पराभूत होता है और कर्ण को शाप देता है कि तुम अपनी विद्या को ऐन वक्त पर भूल जाओगे। परशुराम, रामवतार के भी पहले हुआ है। कथा ऐसी है कि अपनी क्षत्रिय-संहार की भयानक प्रतिज्ञा पूरी करके परशुराम तपश्चर्या के लिए चला गया। एक बार रामावतार में उसे तपश्चर्या से वापस लाया गया; किन्तु वह राम का महत्त्व दिखाने के लिए। रामायण की कथावस्तु से उसका कोई संबंध नहीं है। भीष्म कितना शूरवीर और सत्यप्रतिज्ञ था, यह दिखाने के लिए परशुराम को महाभारत-कथा के साथ जोड़ा गया है। भीष्म ने परशुराम को पूर्णरूप से पीछे हटने के लिए विवश कर दिया और एक बार फिर यह दिखा दिया कि क्षत्रिय ब्राह्मण से किस प्रकार श्रेष्ठ है!

इसी प्रकार कर्ण भी शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध था। उसकी पराजय अर्जुन के द्वारा हुई। इसके साथ किसी-न-किसी कारण को जोड़ने के लिए परशुराम को उस कथा में लाया गया है। इस कथा में कर्ण परशुराम से श्रेष्ठ मालूम होता है। गुरु द्वारा प्राप्त विद्या और उसे

व्यर्थ कर देनेवाला शाप, दोनों बातें बेचारे कर्ण को चुपचाप माननी पड़ीं। इस कथा पर भी विचार करने की जरूरत नहीं। अर्जुन ने अंतिम युद्ध के पहले, विराट् के गो-ग्रहण के समय कर्ण का पराभव करके उसे मार भगाया था। अंतिम युद्ध में उसने कर्ण को हराया। इसमें लोक-विलक्षण बात कुछ भी नहीं थी। अकेले अर्जुन के द्वारा ही नहीं, दूसरों के द्वारा भी, कर्ण की पूर्ण पराजय इसके पहले हो चुकी थी। घोष-यात्रा के समय गन्धर्व दुर्योधन को पकड़ ले गये थे। तब कर्ण पिट-पिटाकर और किसी तरह जान बचाकर भाग निकला था। वर्णन तो ऐसा भी है कि वह बिल्कुल भयभीत हो गया था। परन्तु कर्ण भारी योद्धा था। यदि परशुराम का शाप न मिला होता, तो उसका पराभव नहीं हो सकता था, यही दिखाने के लिए इस कथा की रचना की गई लगती है।

आख्यायिका ऐसी है कि व्यास के भिन्न-भिन्न शिष्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से महाभारत की कथा कही है। इस समय जो महाभारत हमारे सामने है, वह मुख्यतः वैशम्पायन द्वारा कथित है। कहते हैं कि जैमिनी ने भी ऐसी ही कथा सुनाई थी। जैमिनी को भी यह तो कहना ही पड़ा कि युद्ध कौरव-पाण्डवों के कलह के कारण हुआ। फलतः कौरव हारे, पाण्डव गद्दी पर बैठे। परन्तु उसने कथा का बड़ा भाग कौरवों के पक्ष में लिखा और पाण्डवों की कई कमियां दिखाईं। उनके पक्ष को निर्बल बतलाने का प्रयत्न भी किया। जैमिनी-कृत महाभारत में जो अश्वमेध-प्रकरण मिलता है, उसमें स्थान-स्थान पर अर्जुन का पराभव दिखाकर यह बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण तथा दूसरे लोग उसे बचाते रहे हैं। यह स्पष्ट है कि कर्ण हारा और अर्जुन के हाथों मारा गया, परन्तु इस पराभव के कारण कर्ण अर्जुन से कम साबित होगा, इसलिए परशुराम का प्रकरण गढ़ा गया मालूम होता है। यहां भी मुख्य कथा को पोषण देने वाली कोई बात उसमें कुछ नहीं कही गई है।

जो महाभारत इस समय हमारे सामने है, उसकी शुरूआत बड़ी विचित्र है। जनमेजय के सर्पयज्ञ से उसका आरम्भ होता है। ऐसा वर्णन है कि सर्पयज्ञ बंद होने पर व्यास-शिष्य वैशम्पायन जनमेजय से उसके

पूर्वजों के युद्ध की कथा कहते हैं। तक्षक के द्वारा परीक्षित का अन्त और पिता का बदला लेने के लिए जनमेजय का सर्पयज्ञ इन दो प्रकरणों में भृगुकुलोत्पन्न ब्राह्मणों की कथा का लम्बा-चौड़ा ताना-बाना बुना गया है। इस सारी कथा के समाप्त होने तक मुख्य-कुरुवंश-कथा और महाभारत-कथा का श्रीगणेश ही नहीं होता। परीक्षित ने एक ब्राह्मण का अपमान किया और उसने शाप दिया—'तक्षक द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी'—इसी प्रकरण को लेकर लम्बी-चौड़ी कथा कही गई है। वास्तव में तो पाण्डवों की तीन पीढ़ियों के वैरभाव की ही यह सीधी-सादी कथा है। परीक्षित के दादा अर्जुन ने खांडव-वन के दाह के समय अकारण ही तक्षक-नाग-कुल का भयंकर नाश किया था। उसको याद रखकर तक्षक ने परीक्षित को मार डाला और परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने सर्पयज्ञ किया। इस सरल कथा में अन्य सर्प-ब्राह्मण कथा, बाद में जोड़ी गई होनी चाहिए। यह प्रतीत होता है कि कभी-न-कभी महाभारत-कथा भृगु-कुल के हाथों में पड़ गई होगी और उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने कुल के लोगों की बातें उसमें जोड़ दी होंगी। इसे स्व० सुखटणकरजी ने अपने लेखों द्वारा उत्तम रूप में प्रतिपादित किया है। तबतक उल्लिखित सारी ब्राह्मण-कथा भृगुकुल के पुरुषों की कथाओं में से ही हैं। महाभारत की मूल-कथा से उनका कोई संबंध नहीं है। यदि उन सबको निकाल दिया जाय, तो मूल कथा के सौन्दर्य, सुसंगति अथवा प्रवाह में कमी नहीं, वृद्धि ही होती है। इसलिए उनसब कथाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

जिन व्यास ने महाभारत लिखी, अथवा शिष्यों को सुनाई, और कौरव-पाण्डव जिनके वंशज हैं, उन व्यास का भी संबंध महाभारत-कथा से बहुत ऊपरी स्तर तक ही है। वह बीच-बीच में कहीं-कहीं प्रकट हो जाते हैं। वह पाण्डवों को पांचालों के यहां जाने के लिए कहते हैं, दुर्योधन को उपदेश देते हैं, गांधारी के संताप का शमन करते हैं, अश्वत्थामा की भर्त्सना करते हैं और यादव-क्षय के बाद अर्जुन को सांत्वना देते हैं। किन्तु एक बार सत्यवती की बहुओं से पुत्रोपत्ति का कारण बनने के बाद व्यास का महाभारत में कहीं कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। केवल

दो ही ब्राह्मण ऐसे हैं—द्रोण और उसका पुत्र अश्वत्थामा—जिनका संबंध महाभारत-कथा से आता है; और जिनकी बदौलत कथाभाग परिपुष्ट हुआ है। महाभारत-कथा में पाण्डव और कौरवों के बचपन में द्रोण का प्रवेश होता है। उत्तम अस्त्र-विद्या में निपुण यह ब्राह्मण, कौरवों के कुल-परंपरागत गुरु कृपाचार्य का बहनोई था। वह निराश्रित और इसलिए दारिद्र्य से पीड़ित था। इतना ही नहीं, एक अपमान की आग से वह जल भी रहा था। द्रोण पांचाल के राजा का सहाध्यायी मित्र था। अतः मित्रता के नाते वह द्रुपद के दरबार में गया, तो द्रुपद ने उसका अपमान कर दिया। द्रुपद ने अपने दरबार में, अपने आश्रय में उसे रख भी लिया होता; परन्तु वह तो सहाध्यायी होने के कारण बराबरी की मित्रता का नाता बताने लगा। यह बात द्रुपद को सहन नहीं हुई। इस अपमान से क्रोधित होकर द्रोण पांचाल के दरबार से कृपाचार्य के पास चला आया। वहाँ अपने सौतेले भाइयों के पोतों को अस्त्र-विद्या सिखाने के लिए भीष्म ने उसे अपने यहां नियुक्त कर लिया। उनके विद्या-संपन्न होने पर गुरु-दक्षिणा के रूप में अर्जुन से द्रुपद का पराभव कराया और द्रुपद के बराबर होने के लिए उसका आधा राज्य मुआवजे के तौर पर ले लिया, तब कहीं उसे जीवित छोड़ा। ब्राह्मण का किसीको जीतकर, उसका प्रदेश छीनकर, उस प्रदेश का राजा होना उस समय की परिपाटी के विपरीत था। द्रुपद पराजित हो गया था। अर्जुन जब उसे पकड़कर ले आया तो पुरानी मित्रता का स्मरण करके द्रोण उसे छोड़ भी देता तो भी उस अपमान का बदला चुक गया होता। साथ ही, द्रोण की शांतिनिष्ठा तथा बड़प्पन भी सिद्ध हो गया होता। पर ऐसा न करके उत्तर-पांचाल अर्थात् अहिच्छत्र का राज्य द्रोण ने अपने कब्जे में ही रक्खा। दक्षिण पांचाल द्रुपद के पास रहा। उत्तर पांचाल का राज्य पाकर भी द्रोण कौरवों की राजसभा में ही रहता हुआ दिखाई देता है, क्योंकि राजसभा में समय-समय पर भीष्म के बाद द्रोण के भाषण हुए हैं। उसके भाषणों से, भीष्म जो कुछ कहता उसका समर्थन होता था। परन्तु भीष्म जिस तिलमिलाहट से कौरव और पाण्डवों का कलह मिटाकर कुरुवंश की रक्षा करना चाहता था, वह बेचैनी द्रोण के मन में नहीं

दिखाई देती थी। इसके विपरीत युद्ध के समय तो वह प्रत्यक्ष सब तरह कौरवों के ही पक्ष में रहा, ऐसा प्रतीत होता है।

द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा भी शास्त्र में पारंगत न होते हुए शस्त्र-विद्या में पारंगत हुआ। अर्जुन के मन में एक बार ऐसा संदेह हुआ था कि गुरुजी कुछ उत्तम विद्या हमसे चुरा-छिपाकर अश्वत्थामा को सिखाते हैं। इस संदेह के कारण, अथवा और किसी वजह से, अर्जुन और अश्वत्थामा में प्रकट रूप से तो नहीं, पर प्रच्छन्न रूप से स्पर्धा ही बनी रहती थी; हालांकि द्रोण अर्जुन से बराबर यह कहते रहते थे कि मैंने अपनी विद्या सबसे अधिक तुम्हें ही सिखाई है। यह तो नहीं कह सकते कि इससे अर्जुन का समाधान हुआ या नहीं, परन्तु यह निर्विवाद है कि दोनों पिता-पुत्र पांडवों के विपक्ष में ही लड़े।

अर्जुन जो यह सोचता था कि युद्ध नहीं होना चाहिए, उसका कारण यह था कि वह भीष्म और द्रोण से युद्ध-प्रसंग को टालना चाहता था। भीष्म की आयु भारतीय युद्ध के समय ९० से १०० वर्ष के बीच होनी चाहिए; और द्रोण की आयु द्रुपद के बराबर समझनी चाहिए। दूसरे अर्थों में स्वतः अर्जुन के पिता के बराबरी का होगा, ऐसा मानें तो अनुचित नहीं। स्वयं अर्जुन युद्ध के समय ३५ वर्ष का था। उसकी अपेक्षा उसके गुरु कम-से-कम बीस साल तो बड़े अर्थात् काफी वृद्ध थे। विराट-गो-ग्रहण के समय अर्जुन के द्वारा भीष्म और द्रोण पराजित हो चुके थे। वैसे ये दोनों योद्धा अर्जुन के लिए कुछ भारी नहीं थे, परन्तु अवध्य थे—एक परदादा और दूसरा गुरु होने के कारण।

भीष्म-पर्व में दस दिन तक युद्ध चला, परन्तु कोई विशेष व्यक्ति नहीं मारा गया। युद्ध यों ही ढीला-ढाला चल रहा था। भीष्म की मंशा यह थी कि ढील देकर कौरव-पाण्डवों का मन युद्ध से हटा दिया जाय। इसके विपरीत द्रोण के सेनापतित्व के तीन दिन भारी और घमासान लड़ाई में गये। द्रोण को सेनापति-पद किस तरह मिला, यह प्रसंग भी कुछ सोचने पर विवश करता है। भीष्म के धराशायी होने पर दुर्योधन की सेना में हा-हाकार मच गया ओर सब-ओर से यही पुकार आने लगी कि कर्ण को सेनापति बनाइये। हमें कर्ण चाहिए। अब तक

कर्ण जो एक ओर बैठा हुआ था वह भी बड़े तपाक से अपने रथ में बैठ कर जल्दी से आ गया। यह सब वर्णन पढ़ते हुए मन में शंका ही बाकी नहीं रहती कि अवश्य ही कर्ण सेनापति बनेगा। परन्तु एकाएक सब रंग बदल गया। कर्ण ने खुद आगे होकर ही दुर्योधन से कहा—"ऐसे व्यक्ति को ही सेनापति बनाया जाय, जो सबको भा जाय और किसीका भी मन न दुखे। अतः अच्छा हो कि द्रोण को ही सेनापति बनाओ।" दुर्योधन ने द्रोण को सेनापति बना दिया। कर्ण ने जो कारण बताया वह बहुत ही विचार करने योग्य है। उससे ऐसा लगता है कि संभव है, कर्ण के सेनापति होने में कुछ लोगों का विरोध रहा हो। युद्ध के आरंभ से ही दुर्योधन के सामने यह गुत्थी थी, जिससे वह बड़ा परेशान रहता था। पांडवों की ओर कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन क्षत्रिय, ये सब बखेड़े नहीं थे। शुरू दिन से लेकर आखिर के दिन तक उनका एक ही सेनापति रहा—धृष्टद्युम्न। दुर्योधन को भीष्म के सेनापतित्व के दस दिन व्यर्थ ही खोने पड़े। फिर भी बाद में कर्ण को सेनापति-पद न देते हुए द्रोण को देना पड़ा। द्रोण के वध के बाद कर्ण को सेनापति बनाया गया; परन्तु ऐसा लगता है कि उस समय भी शल्य को यह अच्छा नहीं लगा होगा। अर्थात् दल का भार बहुत बड़ा था, समान टक्कर के बड़े-बड़े राजा लोग, और अपने कुल के बड़े-बूढ़े, इन सबके मानापमान के खयाल से दुर्योधन तंग जरूर आ गया था। इस संकट से छुटकारा मिला भीष्म के बाद द्रोण को सेनापति बना देने से।

भीष्म के जीतेजी द्रोण भीष्म की हां-में-हां मिलाता था। किन्तु युद्ध के समय वहां बिल्कुल ही दूसरा व्यक्ति मालूम होता है। भीष्म के साथ उसका रिश्ता अन्नदाता का था, जबकि दुर्योधन उसका शिष्य और अन्नदाता दोनों ही था। इस नये अन्नदाता के प्रति अपनी स्वामिभक्ति दिखाना द्रोण ने अपना कर्तव्य समझा। फिर जिस प्रकार वह सेनापति बनाया गया उसमें उसे दुर्योधन को यह भी दिखाना था कि यह नियुक्ति योग्य व उचित ही हुई है। द्रोण ने उससे कहा, "तुम सिर्फ अर्जुन को दूर रखो। फिर पाण्डवों का तो सफाया मैं कर ही दूंगा। और इसी तरह द्रोण ने युद्ध किया भी। तीन दिनों के सेनापतित्व में भारी युद्ध हुआ।

प्रमुख और प्रभावशाली योद्धा मारे भी गये। उनमें मुख्य था अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, और धृतराष्ट्र के जामाता जयद्रथ। तीनों दिन कर्ण ने भी युद्ध किया था। इसमें अर्जुन और द्रोण का सामना कहीं नहीं हुआ—संभवतः इसी योजना के परिणामस्वरूप कि अर्जुन को दूसरी ओर उलझा कर रखा जाय। अर्जुन के सामने न रहने से ही अभिमन्यु का वध संभव हो सका। द्रोण ने अभिमन्यु को मारते समय कोई दया-माया दिखाई हो, ऐसी भी छाप मन पर नहीं पड़ती। हमारा मन कहता है कि भीष्म होता तो उससे अपने पड़-पोते को इस तरह नहीं मारा जा सकता था।

द्रोण जिस तरह मारा गया, वह प्रसंग भी ध्यान देने योग्य है। भीष्म ने अश्वत्थामा नामक एक बड़े हाथी को मार डाला और यह अफवाह फैला दी कि अश्वत्थामा मारा गया। द्रोण को यह बात सच न लगी, तो उसने युधिष्ठिर से पूछा। उसने धीमे से कह दिया—'कौन जाने मनुष्य था कि हाथी था'—'नरो वा कुंजरो वा।' द्रोणाचार्य यह कुछ नहीं सुन पाया, और उसे यही विश्वास हो गया कि उसका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। बाद के तथ्यों से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसे अश्वत्थामा के मारे जाने का विश्वास हो गया हो। विश्वास न होने का कारण यह बताया जा सकता है कि उस समय मित्र या प्रिय के विषय में ऐसी झूठी अफवाहें फैला कर शत्रुओं को हतबल करने के दावपेंच खूब प्रचलित थे। जरासंध का सेनापति हंस और डिंभक दोनों परस्पर बड़े मित्र थे। उनमें एक मर गया, ऐसी अफवाह फैलने के कारण, दूसरे ने अपने प्राण दे दिये, और दूसरे ने प्राण दे दिये, यह देखकर पहले ने सचमुच ही अपने को मार डाला। यह वृत्तान्त सभा-पर्व में आया है। आगे शिशुपाल की उक्ति से भी ऐसा मालूम होता है कि यह बात उस समय के सब लोगों को मालूम थी।

उसके बाद ऐसा वर्णन है कि द्रोण बड़े जोश-खरोश के साथ लड़ता रहा; अर्थात् युधिष्ठिर के वचन सुनकर द्रोण हथियार डालकर बैठ गया हो, ऐसी हकीकत नहीं मालूम होती। धृष्टद्युम्न द्रोण पर प्रहार करने के लिए बड़े आवेश में दौड़ा और द्रोण के बाणों से बुरी तरह घायल हो गया। इस समय भीम धृष्टद्युम्न की सहायता के लिए दौड़ा। उसने द्रोण

के रथ को एक ओर से पकड़ लिया (द्रोणस्याश्लिष्यते रथम् ७-१६५-२७) और उन्हें ललकारा—

"अपने जाति-धर्म को छोड़कर तुम ब्राह्मणों ने शस्त्र-ग्रहण न किये होते, तो क्षत्रियों को भली-भांति जीने की आशा होती। ब्राह्मणों का धर्म तो है सबके-साथ अहिंसापूर्वक रहना। फिर आप तो ब्राह्मण-श्रेष्ठ ठहरे। एक पुत्र के लिए आपने म्लेच्छ आदि कई लोगों को मार डाला। वे तो अपने धर्म पर चल रहे थे। आपने अलबत्ते स्वधर्म छोड़कर उनका संहार किया। इसमें आपको लज्जा नहीं आई? अरे जिस पुत्र के लिए आपने इतना किया, वह तो मर ही गया। क्या धर्मराज के कहने पर भी आपको विश्वास नहीं होता?"

ये शब्द सुनकर द्रोण उद्विग्न हो गया और उसका धैर्य जाता रहा। इस बीच घायल धृष्टद्युम्न को थोड़ी सांस लेने का अवकाश मिल गया। थोड़ा दम लेकर फिर उसने नई शक्ति के साथ द्रोण के रथ से अपना रथ भिड़ा दिया और द्रोण के रथ पर कूदकर चढ़ गया और उसके सिर के बाल पकड़ लिये। यह सारा दृश्य पाण्डव-सेना में दिखाई दे रहा था। अर्जुन वहीं से जोर से चिल्लाया—"अरे गुरुजी को मत मारो। उनका रथ हांककर इधर ले आओ।" यदि अर्जुन के ये शब्द सुनकर धृष्टद्युम्न उस समय द्रोण को नहीं मारता, तो भी द्रोण भीम और धृष्टद्युम्न की पकड़ में इस तरह आ गया था कि उसे बन्दी बनाकर पाण्डवों के सामने लाया जाता, इसमें कोई शंका नहीं थी। इस तरह द्रोण असहाय अवस्था में और क्रोधावेश में मारा गया। मरते-मरते वह जोर से चिल्ला उठा—"कर्ण, कृप, दुर्योधन, प्राणपण से लड़ो, मैं तो चला।" मरण के समय का उसका यह व्यवहार इस रूढ़ धारणा से विसंगत है कि पुत्र के मरने के समाचार से वह दुःखी व विषण्ण होकर चुप बैठ गया और इसीलिए मारा गया।

जब द्रुपद का आधा राज्य द्रोण ने लिया तो अपनी इस हार का बदला लेने के निमित्त द्रुपद ने एक यज्ञ किया। परम्परागत राज्य का तीसरे व्यक्ति के द्वारा अपहरण करनेवाले अपने शत्रु से धृष्टद्युम्न ने—उस यज्ञ द्वारा प्राप्त पुत्र ने—द्रोण से, बदला ले लिया।

भगवद्गीता में क्षमा, शान्ति आदि जो लक्षण ब्राह्मण के बताये हैं, उनमें से द्रोण में एक भी कहीं दिखाई नहीं देता। तो भी महाभारत में द्रोण की भूमिका कहीं भी निन्द्य अथवा गर्ह्य नहीं दिखाई गई। इसके विपरीत उसके पुत्र की स्थिति वैसी रही। अश्वत्थामा में ब्राह्मणत्व का कोई भी गुण फटकने नहीं पाया था। इतना ही नहीं उसका सब तरह का अधःपात हो गया था और वैर-प्रतिवैर की इस अनन्त मालिका में उसके कृत्यों की भयंकरता और निर्दयता का कहीं कोई मुकाबला नहीं था।

महाभारत-कथा में अश्वत्थामा पहली बार आता है दरिद्रय-पीड़ित एक ब्राह्मण-पुत्र के रूप में। भीष्म के द्वारा द्रोण को आश्रय मिलने पर शेष बालकों के साथ वह भी अपने पिता से अस्त्र-विद्या सीखा। अस्त्र-विद्या में उसकी और अर्जुन की बराबरी रहती थी। इस प्रकार के उल्लेख महाभारत में जगह-जगह आते हैं। द्रोण की सिखाई विद्या पर ही संतोष न मानकर युधिष्ठिर ने अर्जुन को और भी विद्याएं सीखने के लिए भेजा था। परन्तु अश्वत्थामा को यह अवसर नहीं मिला। इसके अतिरिक्त उस समय के तरुण योद्धाओं को अर्जुन एक युद्धत्व का प्रतीक मालूम होता था। ऐसी कीर्ति अश्वत्थामा की कहीं भी नहीं थी। कौरवों की सभा में वह थोड़ी-बहुत उद्दण्डता का ही बर्ताव करता था। दुर्योधन ने अश्वत्थामा को कोई बड़ा योद्धा समझा हो ऐसा भी नहीं था। सेनापति-पद के लिए अश्वत्थामा का नाम न तो किसी ने सुझाया, न किसी को सूझा ही।

शल्य और शकुनि के मर जाने के बाद पाण्डवों ने कौरव-सेना का सफाया करना शुरू कर दिया था। भयभीत होकर इधर-उधर जान लेकर भागनेवाली सेना को संभाल कर रखना दुर्योधन के लिए भी संभव न हुआ। तब वह भी रणांगण से खिसक गया। आते-जाते उसने संजय के द्वारा अपने पिता को कहलवाया कि "मैं एक दह में जाकर छिप रहा हूं। सब मर गये, अकेला मैं ही बचा हूं।" यह कहकर वह अपने छिपने की जगह चला गया। और उस दह में, एक पत्थर की गुफा में, थका-मांदा पड़ रहा। हस्तिनापुर के रास्ते में संजय को कृपाचार्य, कृतवर्मा और

अश्वत्थामा मिले। वे भी रणांगण से भाग छूटे थे। उन्होंने दुर्योधन के हाल-चाल पूछे, तो संजय ने उन्हें सबकुछ बता दिया।

भागती हुई कौरव-सेना की ओर ध्यान न देकर पाण्डव और पांचाल दुर्योधन को खोजकर उसे खत्म करने का निश्चय करके निकले। सब जगह खोज कर डाली, पर उसका पता नहीं चला। निराश होकर वे शिविर की ओर लौट पड़े। तब उन्होंने सोचा कि आज नहीं तो कल तक उसका पता लगा ही लेना चाहिए, क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि जब तक दुर्योधन मारा नहीं जाता, तब तक यह नहीं मान सकते थे कि युद्ध समाप्त हो गया।

पाण्डवों का रथ दुर्योधन की खोज में दौड़ रहा था। इधर अश्वत्थामा और उसके दोनों साथी भी एक जगह जा कर छिपे बैठे थे। पाण्डव अपने शिविर की ओर लौट पड़े। सब जगह शान्ति है, यह देख कर यह त्रिकूट (तिलंगे) बाहर निकला और जहां दुर्योधन छिपा बैठा था, उसकी ओर चला। अश्वत्थामा ने दुर्योधन को पुकारा। दह के किनारे उनकी बाचतीत चल रही थी। कृतवर्मा और कृपाचार्य सिर्फ सुनने का ही काम कर रहे थे। अश्वत्थामा अलबत्ता उसे बार-बार ललकार रहा था कि दोनों ओर के बहुत-से लोग तो मारे गये हैं, अब थोड़े ही बाकी बचे हैं, और युद्ध बहुत आसान हो गया है और हम तो तुम्हारी मदद पर हैं ही। परन्तु इस बार-बार की ललकार से मानो तंग आ गया हो, और सम्भवतः इसी भाव से कि अब बात बन्द करो, दुर्योधन अन्त में बोला—"आज तो मुझे आराम करने दो, कल तय करेंगे कि अब क्या करना है।"

युद्ध के अन्तिम दिन का यह वृत्तांत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। दुर्योधन की गतिविधि से ऐसा प्रतीत होता है कि वह जान बचाने का आखिरी प्रयत्न कर रहा था। वह दूर जंगल में पानी के अन्दर छिपा बैठा था। जो कुछ हुआ, उसका समाचार उसने संजय के द्वारा अपने पिता को भिजवा दिया था। सारी सेना नष्ट हो गई थी और भदगड़ मच गई थी। यदि धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को, खासकर धर्मराज को, बुलाकर कह दिया होता—"यह राज्य संभालो, बचे-खुचे एक लड़के को तो मत मारो।"

तो धर्मराज इस अनुरोध-को टाल नहीं सकता था। उसे यह मानना ही पड़ता। कदाचित् राज्य का एक छोटा-सा भाग भी उसे मिल सकता था। परन्तु जब तक बाप-बेटे दोनों में से कोई एक भी जीवित रहता है तब तक पाण्डव निष्कंटक राज्य भी कभी नहीं कर सकते थे। इधर दुर्योधन मौके को टालना और कुछ समय लेना चाहता था, तो उधर धृतराष्ट्र की ओर से कोई संदेश आने से पहले ही दुर्योधन को खोज निकाल कर खत्म कर डालने को पाण्डव तुले बैठे थे।

राजा दुर्योधन से इस प्रकार अश्वत्थामा की बात हो ही रही थी कि शिकार के लिए कुछ व्याध उधर से निकले। ये लोग भीम के कृपा-पात्रों में से थे। भीम को मांस अच्छा लगता था और वह पैसे भी खूब देगा, इस लालच से शिकारी लोग रोज शिकार लाकर पाण्डवों के शिविर में पहुंचाते थे। थोड़े समय पहले ही दुर्योधन की खोज में रथ को लौटाते हुए उन्होंने पाण्डवों और पांचालों को देखा था। वे आपस में चर्चा करते जा रहे थे कि दुर्योधन कहां छिपा होगा। यह बात भी उन शिकारियों ने सुनी थी। दह के किनारे जोरे-जोर से जो बातें हो रही थीं, वे भी शिकारियों ने सुनीं और वे समझ गये कि दुर्योधन यहीं कहीं छिपकर बैठा है। तब उन्होंने सोचा कि यदि हम दुर्योधन का पता भीम को बता दें, तो शिकार के मांस से कई गुना ज्यादा पैसा पाण्डवों से मिल जायगा। अतः चलो यह खबर उनको दे दें। वे दौड़ते हुए गये और पाण्डवों को बता दिया कि दुर्योधन कहां छिपा हुआ है। तुरन्त ही सब पाण्डव वापस रथ में बैठकर, जोर से जयघोष करते हुए दह की तरफ चले। पाण्डवों का जयघोष सुनकर और उनके रथ की आवाज सुनकर दुर्योधन फिर भीतर घुसकर छिप गया और कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा जान बचाकर दूर जंगल में भाग निकले।

अश्वत्थामा जो थोड़ी देर पहले ही पाण्डवों को मार डालने की डींग हांकता था, वही उनके रथ की आवाज सुनते ही भाग खड़ा हुआ। द्रोण के मारे जाने के बाद से वह बदला लेने की बातें किया करता था और संताप से जलता रहता था। द्रोण के बाद तीन दिन तक लड़ाई चली, पर वह धृष्टद्युम्न को मार नहीं सका। यह स्पष्ट था कि आमने-सामने

की लड़ाई में वह धृष्टद्युम्न के सामने टिक नहीं सकता था। जिस दुर्योधन के प्रति वह इतनी हार्दिक चिन्ता दिखाता था वही उसके नाश का कारण बना। अपनी जल्दबाजी और अविवेक के कारण संजय से खबर मिलते ही वह दुर्योधन के पास पहुंचा और स्थान व समय का विचार न करके दिन-दहाड़े जोर-जोर से बोलने लगा। उसीसे दुर्योधन के छिपने की जगह पाण्डवों को ज्ञात हो गई। जब पाण्डव आये तो वह अपने राजा की बगल में खड़ा रहकर उसकी ओर से अन्त तक लड़ने के बजाय डरकर भाग निकला।

तब इच्छा न रहते हुए भी दुर्योधन को दह से बाहर आना पड़ा। पाण्डवों ने बुरा-भला कहकर और चिढ़ा-चिढ़ाकर, जैसे सपेरा सांप को बिल से बहार निकालता है उसी तरह, दुर्योधन को दह से बाहर निकाला गया और गदा-युद्ध में उसकी जांघ पर प्रहार करके भीम ने उसे धराशायी कर दिया। उसके सिर पर ठोकर भी मारी, परन्तु युधिष्ठिर बीच में पड़ा और उसने दुर्योधन को और अधिक अपमान से बचा लिया। दुर्योधन के मारे जाने के बाद धर्मराज ने शीघ्रता से कृष्ण को धृतराष्ट्र और गांधारी के पास सांत्वना देने भेजा और कहलाया कि "क्रोध न करें, हम भी आपके ही हैं।" इधर कृष्ण हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और गांधारी दोनों से बात करते हैं, इतने में कुछ और जासूस आ गये। उनकी बात से कृष्ण को ऐसा संशय हुआ कि कोई छल होने वाला है और वह उस बात को वहीं छोड़कर जल्दी से लौटे। फिर पांचों पाण्डवों, द्रौपदी और सात्यकी इन सबको लेकर, पाण्डवों के चहल-पहल से भरे शिविर को छोड़ कर, कौरवों के उजाड़ शिविर में उन्हें ले गये। इतने में सूर्य अस्त हो गया।

कुछ छल होगा, यह तो कृष्ण ने ताड़ लिया था, परन्तु वह किस तरह का होगा, इसका अन्दाज न लग सका। वह अश्वत्थामा की ओर से होनेवाला था। दुर्योधन को छोड़कर भाग जानेवाले ये तीनों वीर आहट ले रहे थे। पाण्डव और पांचालों के चले जाने के बाद, यह देखकर कि उनके शिविर में जयघोष हो रहा है, तीनों फिर उसी जगह आये जहां दुर्योधन छिपा हुआ था। दह के किनारे मृतप्राय अवस्था में दुर्योधन धूल

में पड़ा हुआ था। इतना बड़ा ऐश्वर्य-संपन्न राजा आज इस तरह धूल में पड़ा हुआ है, यह देखकर और यह सुन कर कि भीम ने उसे कपट से मारा, तीनों बहुत तिलमिला उठे। उसी समय अश्वत्थामा ने प्रतिज्ञा की कि मैं इसका और अपने बाप के मारने का बदला लेकर ही छोड़ूँगा। और उसने उसी अवस्था में राजा दुर्योधन के द्वारा अपने सेनापति-पद का अभिषेक भी करा लिया। दूसरे सेनापति जिस वैभव और सम्मान के साथ सेनापति बने थे, उसको देखकर तो इस अंतिम प्रसंग के लिए मन में अरुचि ही पैदा होती है। ऐसा मालूम होता है कि अश्वत्थामा ने इसके लिए इतना ज्यादा जोर डाला था कि 'हटाओ यह झंझट', ऐसा सोच कर दुर्योधन ने उसका अभिषेक कर दिया। कौरवों का यह अंतिम, सेना-विहीन सेनापति अभिषेक होने के बाद राजा को वहीं छोड़कर चला गया।

दुर्योधन के पास से चलकर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीनों दूर जाकर पाण्डवों की सेना के हाथ न पड़ जाय, इस इरादे से विश्राम के लिए कहीं छिप गये। कृपाचार्य और कृतवर्मा को तो नींद आ गई, परन्तु अश्वत्थामा करवटें बदलता रहा। उसे किसी तरह नींद नहीं आई। द्रोणाचार्य की मृत्यु के द्वारा अश्वत्थामा का केवल पिता ही नहीं गया था, बल्कि आधा राज्य भी चला गया था। वह अकेला दुर्योधन के विषय में ही दुःख से पीड़ित नहीं था, अपने इस निजी दुःख और हानि से भी उसके मन में आग सुलग रही थी। ऐसे समय उसे एक दृश्य दिखाई दिया। उस अंधेरी रात में कौवे सो रहे थे और एक उल्लू ने उनपर झपट्टा मारकर सबको मार डाला। यह देखकर अश्वत्थामा के मन में विचार आया कि इसी तरह रात में पाण्डवों पर चुपचाप जब वे नींद में गाफिल पड़े हों, एकाएक हमला कर दिया जाय। उसने अपना यह विचार कृपाचार्य और कृतवर्मा को जगाकर बतलाया। तब कृपाचार्य ने उसे चेताया कि ऐसा जघन्य कार्य न करो। इस सिलसिले में अश्वत्थामा का एक वाक्य ध्यान देने योग्य है। वह अपने मामा से कहता है, "आप मुझे उपदेश देते हैं कि ब्राह्मण-धर्म के अनुसार चलो, परन्तु यह मैंने कभी सीखा ही नहीं। बचपन से ही सारा जीवन मेरा अस्त्रविद्या सीखने में गया। श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी मैं मन्दभागी क्षात्रधर्म में पला। अब मुझे

उसके अनुसार करने की सीख मत दो।" (१०-३-२१-२२) कृपाचार्य की बात न मानकर उसने अपने रथ में घोड़े जोड़े और अकेला ही रथ में बैठकर वह पाण्डवों के शिविर की ओर वेग से चल पड़ा। इधर यह शंका करके कि अपना भानजा जाने क्या कर डालेगा कृपाचार्य और कृतवर्मा भी अश्वत्थामा के पीछे दौड़े। उन्होंने अश्वत्थामा को पाण्डवों के शिविर में घुसते देखा। वे बाहर ही खड़े रहे। अश्वत्थामा ने अन्दर जाकर पहले तो सोते हुए धृष्टद्युम्न को मार डाला, फिर द्रौपदी के पांचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। रात के समय कितने लोग आये हैं और कौन हल्ला मचाते हैं यह समझ में नहीं आ रहा था। इससे इधर-उधर भगदड़ मच गई। इसी बीच कृपाचार्य और कृतवर्मा ने शिविर में आग लगा दी, जिससे यह गोलमाल और बढ़ गया।

जितनों को मार सकता था, उतनों को मारकर अश्वत्थामा बाहर आया और जो कुछ हुआ या किया उसका समाचार उसने मृतप्राय दुर्योधन को जा सुनाया और उससे शाबाशी प्राप्त की। परन्तु वह जानता था कि उसने जो कुछ-किया है उसका बदला लेने के लिए पाण्डव और कृष्ण उसका पीछा जरूर करेंगे। अतः वह वहां से भागा और गंगा-किनारे व्यास के सामने जाकर खड़ा हो गया। पाण्डव उसका पीछा करते-करते वहां आ ही गये। तब अश्वत्थामा ने अर्जुन को मारने के लिए एक अमोघ अस्त्र छोड़ा। अर्जुन ने भी उसको विफल करने के लिए एक अमोघ अस्त्र छोड़ा। दोनों अस्त्र एक दूसरे से टकराये। व्यास ने देखा कि अब संसार का संहार हो जायगा, वह बीच में पड़े और उन्होंने अर्जुन से अनुरोध किया कि वह अपना अस्त्र वापस ले ले। अर्जुन ने तो अपना अस्त्र वापस ले लिया, परन्तु अश्वत्थामा अपना अस्त्र वापस न ले सका। इससे उस अस्त्र के द्वारा पाण्डव तो नाश से बच गये, परन्तु उत्तरा के पेट में उस समय जो गर्भ था, उसपर जाकर वह अस्त्र गिरा, ऐसा वृतान्त है। पाडवों ने अश्वत्थामा को जीवित छोड़ दिया इधर कृष्ण ने कहा कि मैं उत्तरा के पुत्र को जीवित कर दूंगा। साथ ही अश्वत्थामा को एक भयंकर शाप भी दिया कि तुम हजारों वर्षों तक जियोगे, पृथ्वी पर, जंगलों में, मरूस्थल में, तुम मारे-मारे

फिरोगे परन्तु कोई जीवित मनुष्य तुम्हें पनाह नहीं देगा।" शेष अन्य सेनापति तो वीरों की तरह मरे, परन्तु अश्वत्थामा जीवित रहते हुए भी मरण से भी बुरी दशा में जीया।

हमारे भारतीय तत्वज्ञान में स्मृति और मोह का एक विशेष प्रयोजन और महत्व है। मनुष्य का नाश किन-किन मंजिलों से गुजरकर होता है इसकी एक कार्य-कारण-परम्परा गीता में दी है, जो सुपरिचित है—

क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

उपनिषद में भी स्मृति पर जोर दिया है। बौद्ध वाङ्मय में भी स्मृति पर ऐसा ही बल दिया है। बचपन से लेकर मृत्यु तक नित्य बदलते जाने वाले जीवन में यदि एकत्व का कोई धागा है तो वह स्मृति ही है। मैं कौन हूं? इसका नित्य मान अथवा "मैं वही हूं" यह ज्ञान देने वाली शक्ति स्मृति ही है। 'मैं कौन? मेरे कर्तव्य क्या? मैं कहां जा रहा हूं?' यह जो बोध रहता है, वह स्मृति के कारण ही। "मैं कौन हूं" इसका उत्तर महाभारत की दृष्टि से 'जीवन में मेरा क्या स्थान है?' इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है। और "मेरा कर्तव्य क्या है" यह उस स्थान पर अवलम्बित है। मनुष्य का जो जन्म होता है, वह पूर्व-जन्म के संस्कारों को लेकर। परन्तु उसे यह स्मृति नहीं रहती कि वे संस्कार-चिह्न क्या हैं? असाधारण मनुष्य उदाहरणार्थ कृष्ण-जैसे उस स्मृति को लेकर आते हैं। (बहूनिमे व्यतीतानिजन्मानि) वे जातिस्मर होते हैं। परन्तु औरों को तो इस जन्म की स्मृति को अखण्ड रखने की चिन्ता रखनी चाहिए। मृत्यु के क्षण तक पूर्ण होश में रहें, बिलकुल दुरुस्त रहें ऐसी जो इच्छा हमें पहले जीवन में दिखाई देती है, वह भी इसी निष्ठा पर आधारित थी। उत्तरायण में, शुक्लपक्ष में, दिन के प्रकाश में, होश-हवास में, दिन निकलने पर, मृत्यु का आना अच्छा है, ऐसा कथन गीता में इसीलिए मिलता है। उनका जोर और आग्रह इसी बात पर था कि हमारी स्मृति नष्ट न हो। भीष्म भी स्मृतिभ्रंशक नहीं हुआ। अर्जुन को सम्मोह हुआ था,

परन्तु श्रीकृष्ण ने उसको उसका स्मरण करा दिया और अर्जुन भी स्वकर्तव्य के निष्ठुर स्मरण से पूर्ण जाग्रत होकर कहता है—

"नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा"।

कहना पड़ता है कि स्वधर्म का इस प्रकार का प्रखर बोध द्रोण को नहीं था। और अश्वत्थामा तो सोलहों आने आत्म-विस्मृत हो गया था। उसकी स्थिति ऐसी दुविधाजनक हो गई कि एक ओर 'स्वधर्म' टूट गया और दूसरी ओर 'परधर्म' भी न सधा। ब्राह्मण के रूप में उसका जन्म हुआ था और पिता के द्वारा प्राप्त राज्य के कारण वह भी राजा—अलबत्ता अंकित राजा—हो सकता था। उसने शस्त्रास्त्र विद्या सीखी थी, भयंकर शस्त्रों का प्रयोग भी किया, परन्तु यह सब दुर्योधन को विजय प्राप्त कराने के लिए नहीं बल्कि सर्वनाश हो जाने पर महज अपना प्रतिशोध लेने और अपनी रक्षा के लिए। ब्राह्मणत्व तो उसने खो ही दिया था, और क्षत्रियत्व उसके पल्ले कभी नहीं पड़ पाया। इधर मरण की अपेक्षा भी भयंकर चिर-जीवन उसे जीना पड़ा। आत्म-विस्मृति का इतना अविस्मरणीय उदाहरण दूसरा कहीं नहीं मिलेगा।

आठ

'मैं कौन ?'

मनुष्य जब किसी-न-किसी लक्ष्य की प्राप्ति की इच्छा रखता है और बड़े प्रयत्न से उसे प्राप्त भी कर लेता है, तो उस सिद्धि के साथ उसे कई बातें खोनी भी पड़ती हैं। मनुष्य को सौ फीसदी सफलता तो मिलती ही नहीं, पचास फीसदी भी मिलना मुश्किल होता है। स्वयं युधिष्ठिर भी यही कहता है। 'जिसे जय कहते हैं, वह मुझे पराजय जैसा मालूम होती है।' ['जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे'।(१२-१-१५)]इस सत्य का ही दूसरा पक्ष महाभारत में बड़ी विदारक रीति से बताया गया है। वह यह कि विफलता मानव-जीवन का स्थायी भाव ही है। महाभारत का प्रत्येक पात्र पराजित और निराश है, परन्तु पराजय के साथ ही कुछ देर के लिए तो जय उनके हिस्से में आता है। अलबत्ता एक पात्र बिल्कुल पराजित, असफल और अकृतार्थ है। भवभूति ने सीता को मूर्तिमान विरह कहा है। ठीक इसी तरह कर्ण को भी मानव शरीरधारी विफलता ही कहना होगा। कर्ण का समदुःखी व समदैवी एकमात्र विदुर था। परन्तु इन दोनों के जीवन में जहां कुछ घटनाएं एक-सी हैं वहां कुछ इतनी भिन्न भी हैं कि उनसे दोनों के जीवन-मार्ग बिल्कुल जुदा हो गये।

धृतराष्ट्र और पाण्डु के पिता व्यास थे तो विदुर के भी पिता वह थे; परन्तु प्रथम दो की माताएं राजकन्याएं थीं, इसलिए उन्हें राजपद मिला। दोनों के शरीर विकृत थे, तो भी वे राजभोग कर सके। पाण्डु के बाद राज्याभिषेक न होते हुए भी, धृतराष्ट्र ने पन्द्रह-बीस वर्षों तक राज्य

किया। बेचारा विदुर शरीर से स्वस्थ तथा बुद्धिमान होने पर भी माता के कुल के कारण सूत कहलाया, राज्य से विहीन रहा। विदुर के जीवन की विफलता स्थान-स्थान पर दिखाई देती है। परन्तु इसके साथ ही अध्ययन और चिन्तन के बल पर, विफलता को मात देने के उसके प्रयत्न भी दिखाई देते हैं। जन्मतः ही समाज में उसका स्थान निश्चित हो जाने के कारण और 'मैं कौन हूं' इसका बोध होने के कारण उस 'मैं' की मर्यादा वह निश्चित कर सका। यही नहीं, बल्कि महाप्रयास से वह लौकिक 'मैं' की सीमा भी लांघ सका था।

परन्तु कर्ण के जीवन और अन्तःकरण को जिस विफलता ने ग्रस लिया था, वह यही कि "मैं कौन हूं ?" इसका उत्तर प्रथम तो उसे मिला ही नहीं, और जब मिला भी तो वह बेकार ही साबित हुआ।

साधारणतः मानव-जीवन में, "मैं कौन हूं" इसका उत्तर जीवन के आरम्भ से ही मिलता रहता है। अलबत्ता जीवन के किसी भी काल में या अवस्था में, वह पूर्ण नहीं होता। इस 'मैं' का परिमाण सतत बढ़ता रहता है। परन्तु उसीके साथ 'मैं' की मर्यादा भी स्पष्ट होती जाती है। जन्म होने के बाद कुछ बरसों तक बच्चों को 'मैं' का भान नहीं होता। वे उसका उल्लेख बहुधा तृतीय पुरुष में ही करते हैं। मैं का भाव 'मेरेपन' में रहता है। यह मेरी मां, ये मेरे पिता, या ये मेरे खिलौने, यह मेरा घर, मेरे भाई-बहन; और जिसके पास ये सब चीजें एकत्र होती हैं वह केन्द्र, मैं हूं। यह चेतना कौटुम्बिक और बाद में सामाजिक संबंधों के कारण दृढ़ होने लगती है। 'यह मेरी मां है', इस भावना के साथ ही 'मैं इसका बेटा' यह भावना उत्पन्न होती है। 'मैं' का विस्तार कुटुम्ब के बाहर होता रहता है। और जिन-जिन सम्बन्धों में 'मैं' का बोध होता है उन-उनमें, उस 'मैं' के विपरीत, 'मैं' से अलग 'तू' अथवा 'वह' का बोध भी होता है। और उस दूसरे की 'मैं' के प्रति अपेक्षाओं का भी मान होता रहता है। वह अपेक्षाएं क्या हैं, मानो मनुष्य 'मैं-पन' के ही विभिन्न आविष्कार होते हैं। 'मैं' जैसे बेटा होता है, बाप होता है, पति होता है, उसी तरह किसी नगर का निवासी होता है, किसी जाति का या कुल का होता है। उसके जैसे अधिकार होते हैं— वैसे ही कर्तव्य भी होते हैं। और एक

तरह को 'मैं' का अंतर दूसरी प्रकार के 'मैं' से भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रसंगों पर और बहुत-से धार्मिक संस्कारों से स्पष्ट होता है। विदुर सूत था। इसलिए उसपर सूत के संस्कार किये गए थे। उसका सामाजिक-दर्जा बिल्कुल दृढ़ हो गया था। भाई कहकर धृतराष्ट्र ने उसे प्रेम से अपनी गोद में लिया और उसका सिर भी चूमा। (सोऽङ्कमादाय विदुरं मूर्ध्न्युपाघ्राय चैव ह। क्षम्यतामिति चोवाच ३-७२०। इस संबंध में ३-७४ व ३-८४ ये दोनों अध्याय पढ़ने चाहिएं।) परन्तु किसी राजकन्या से उसका विवाह न हो सका तथा क्षत्रिय के रूप में उसका सम्मान भी नहीं हो सका। उपेक्षित जीवन जीकर भी 'मैं कौन ?' यह प्रश्न विदुर के सामने खड़ा नहीं हुआ। परन्तु कर्ण इस प्रश्न के दुश्चक्र में फंस गया था। समाज में उसका निश्चित स्थान नहीं था। उसका मन उसका स्थान निश्चित नहीं कर सकता था। जिस स्थान को वह अपना समझता था और जिसे प्राप्त करने के लिए उसका सारा उद्योग था वह उसे मिलता नहीं था। इसलिए वह जीवन-भर मन में जलता व कुढ़ता ही रहा।

अधिरथ नामक सूत के आश्रय में कर्ण लगभग जन्म से ही, छोटे-से बड़ा हुआ। अधिरथ की पत्नी राधा ने अपने पुत्र की तरह उसका लालन-पालन किया। परन्तु वह उसके पेट से जन्मा पुत्र नहीं है, यह बात छिपाई नहीं गई थी। जन्म के साथ ही कर्ण के पास कवच-कुण्डल थे। उसके साथ बहुत-सा धन भी आया था। उसका नाम भी अधिरथ ने क्षत्रिय जैसा वसुषेण रक्खा। वह मिला कैसे ? उसके साथ क्या-क्या था ? ये सब बातें उसे बचपन से ही मालूम थीं। मैं क्षत्रिय हूं, और आज नहीं तो कल मेरे क्षत्रिय मां या पिता मुझे स्वीकार कर लेंगे, ऐसी आशा उसे थी। अधिरथ और राधा के प्रति उसके मन में प्रेम और कृतज्ञता होकर भी वह उन्हींमें से एक अर्थात् सूत होकर रहने को तैयार नहीं था। राजपुत्र न होने के कारण वह विख्यात गुरु से खुल्लम-खुल्ला शस्त्र विद्या न सीख पाया। लुक-छिपकर, अपना नाम छिपा कर विद्या सीखी, और वह उसमें अतिशय निष्णात भी हुआ। बाद में उसने अपना असामान्य

कौशल दिखाने का भी अवसर प्राप्त किया। परन्तु उसके परिणाम अलबत्ता बहुत भयंकर हुए। वह प्रसंग इस प्रकार है—

युधिष्ठिर आदि पाण्डव और दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र शस्त्र-विद्या सीख चुके थे। द्रोणाचार्य ने सब कौरव-प्रमुखों को यह दिखाने के लिए कि मेरे शिष्य शस्त्रविद्या में कितने पारंगत हुए हैं, एक बड़ा सभारंभ किया। एक बड़ा मैदान बीच में छोड़कर आसपास लोगों के बैठने के लिए मण्डप बनाया। धृतराष्ट्र, गान्धारी, भीष्म, विदुर, कुन्ती तथा कौरव-सभा के अन्य बहुत-से लोग जमा हुए थे। सब लोग इन लड़कों के खेल देख रहे थे। सबमें कमाल कर दिखाया अर्जुन ने। धनुर्विद्या पर उसका असाधारण प्रभुत्व देखकर सब लोग दंग रह गये। इतने ही में रंगशाला के द्वार पर हलचल मच गई। एक महाकाय तेजस्वी पुरुष ने भीतर प्रवेश किया और बोला, "इस अर्जुन ने जो कुछ कर दिखाया वह सब मैं कर दिखाता हूं" और बाद में अर्जुन ने जो-जो करामातें दिखाई थीं, वे सब करके दिखा भी दीं। उसके बाद उसने अर्जुन को द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारा।

रंगशाला में दाखिल होनेवाला वह पुरुष कर्ण था। तब तक उसे किसी ने देखा नहीं था।

महाभारत के अन्य महत्वपूर्ण प्रसंगों की तरह यह भी एक छोटी-सी ही घटना थी। परन्तु थी बड़ी गतिवान और नाटकीय। क्या हो रहा है, इसका पूर्वबोध होने से पहले ही वह प्रसंग समाप्त हो जाता है। जो कुछ हो रहा है अन्त तक वह वैसा ही होगा, ऐसा उस प्रसंग में रमे हुए व्यक्तियों ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। जो घटना घटी वह, अलबत्ता, महाभारत के कथानक की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण और उसे निखार देनेवाली तथा उसमें कुछ निराला ही अर्थ डालने वाली थी।

द्रोण अपने शिष्यों की करामात दिखा रहे थे। बाहर के राजपुत्रों को निमंत्रण नहीं दिया गया था। ऐसे समय कर्ण अपने-आप अन्दर कैसे आ गया? अधिरथ के मन में यह कल्पना तक नहीं थी कि अपना कौशल दिखाने के लिए कर्ण रंग-स्थली में चला जायगा। कर्ण को संभवतः यह आशा थी कि क्षत्रिय-सभा में जाकर अपना कौशल दिखाने पर उसके

क्षत्रिय माता या पिता उसे अंगीकार कर लेंगे। वैसे अपना कौशल दिखाकर, "मैं अर्जुन से भी श्रेष्ठ हूं" ऐसी प्रशंसा प्राप्त करके, वह वहीं रुक सकता था; इतने में ही उसका काम बन सकता था। फिर भी, कुछ कारण न होते हुए भी, उसने अर्जुन को द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारा।

इस प्रसंग में फिर एक बार आयु का प्रश्न उपस्थित होता है। इस अवसर पर धर्मराज सोलह-सत्रह साल का होगा। तो अर्जुन को चौदह-पंद्रह साल का समझना चाहिए। धर्मराज को अठारह साल का मान लें, तो भी अर्जुन पंद्रह-सोलह का होगा। कर्ण कुन्ती की कुमारावस्था में पैदा हुआ, तो युधिष्ठिर से कम-से-कम दो-तीन साल तो बड़ा होगा ही। तदनुसार अर्जुन से कम-से-कम चार वर्ष बड़ा यानी बीस-बाईस साल का होना चाहिए। इस वय में पन्द्रह और बीस साल का अन्तर, शरीर की वृद्धि की दृष्टि से, बहुत महत्वपूर्ण है। पन्द्रह वर्ष का लड़का कुमार और बीस वर्ष का तरुण होता है। ऊंचाई, चौड़ाई, बल सभी शारीरिक दृष्टियों से कर्ण अधिक था। अपनी कला दिखाने की बात तो ठीक, परन्तु एक लड़के-जैसे अर्जुन को द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारना आयु में इतने बड़े वीर के लिए शोभास्पद नहीं मालूम होता। कर्ण के जीवन में यही स्वभाव-दोष खटकता है। दो-तीन बार ऐसा ही हुआ है। आवेश में, क्षणिक क्रोध का शिकार होकर, जो न करना चाहिए, वह कर बैठता था। यों जल्द-बाजी एक प्रकार से क्षत्रियों का धर्म ही होता है। परन्तु इस जल्दबाजी में भी क्षुद्रता नहीं दिखाई देनी चाहिए, ऐसा एक अलिखित नियम था। कर्ण उसका पालन न कर सका। उसका कारण है कर्ण का विफल जीवन। क्षत्रियों का कौशल तो कुछ मात्रा में वह साध सका, परन्तु क्षत्रियों के आचार-[illegible] की अन्य भूमिका वह साध नहीं सका। उसके मन में कुण्ठा भरी हुई थी कि वह क्षत्रियों की अनौरस संतान है। समय-समय पर उसका रोष उफन आता दीखता है। क्षत्रियों की अनौरस संतति होने पर भी, कुछ परिस्थितियों में, उसे क्षत्रियत्व प्राप्त करने की संभावना थी। किन्तु वह उसे मिल नहीं रहा था। सूतवर्ण को या तो मान्यता मिले या पौरुष के आधार पर क्षत्रियत्व का निर्णय हो, इस तरह की तात्त्विक भूमिका कर्ण ने नहीं अपनाई। "दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु

पौरुषम्", इस भूमिका पर कर्ण अपना दावा पेश नहीं कर रहा था। आधुनिक वर्ग-कलह का बीज इस दावे में नहीं था। पर कर्ण तो अपने निज के, अकेले के स्थान के या दर्जे के लिए लड़ रहा था। रंगशाला में दिखाये गए उस समय के उस साहस का कोई फल नहीं निकला। उसके जन्म का रहस्य एक रहस्य ही बना रहा और अपना क्षत्रियत्व सिद्ध करने की पराकाष्ठा करने पर भी वह उसे मिला नहीं। इस कारण उसका संताप और बढ़ गया।

उसने अर्जुन को जो द्वंद्व के लिए ललकारा तो रंगशाला में दो पक्ष हो गये; अर्जुन के पक्ष में युधिष्ठिर, भीमादि खड़े हुए तथा कर्ण की पीठ पर दुर्योधन और उसके भाई हो गये। कृपाचार्य, जो अस्त्र-विद्या और युद्धनीति को जानता था, (द्वंद्व युद्ध समाचारे कुशलः सर्वधर्मवित्) बीच में खड़ा हो गया। उसने प्रथा के अनुसार कहा, "पाण्डु का पुत्र अर्जुन युद्ध के लिए तैयार है। हे वीर ! तुम अपना भी नाम और कुल बताओ।" कर्ण अपना कुल न बता सका। उसकी आंखों में आंसू आ गये।

दुर्योधन तुरन्त आगे बढ़ा। उसने प्रश्न किया—"योद्धा से कुल की अपेक्षा क्यों की जाय ? अर्जुन यदि अ-राजा से युद्ध करने को तैयार न हो, तो मैं कर्ण को अंगदेश का राजा बनाता हूं।" यह कहकर उसने उसी समय कर्ण का राज्याभिषेक कर दिया। यह सारा ही भाग प्रक्षिप्त मालूम होता है। दुर्योधन उस समय एक कुमार था, धृतराष्ट्र राजगद्दी पर था। राज्य भीष्म की देखरेख में चल रहा था। लड़कों का शिक्षण पूर्ण हो गया था। युधिष्ठिर को राज्य मिलने की संभावना पैदा हो गई थी। यह इसके आगे के ही अध्याय से मालूम हो जाता है। ऐसी स्थिति में दुर्योधन कर्ण को कहीं का भी राज्य देने की स्थिति में था कहां ? उसका राज्य देना और तुरन्त वहीं-का-वहीं राज्याभिषेक करना दोनों बातें अशक्य, अतएव प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। इस भाग को छोड़कर आगे जो कुछ हुआ, वह अलबत्ते क्रम-प्राप्त और अपरिहार्य मालूम पड़ता है। कृप ने कर्ण से नाम और कुल पूछा, परन्तु वह कुछ बता न सका। (बीच में पूर्वोक्त प्रक्षिप्त भाग आ गया।) वह झेंप गया। इतने में ही मण्डप के दरवाजे

पर कुछ हलचल दिखाई दी। जल्दी-जल्दी में घबराता-घबराता और अपना दुपट्टा (उत्तरीय), जो उसके पांव में उलझ रहा था, समेटता हुआ अधिरथ अन्दर आया। उसे देखकर कर्ण आदर के साथ आगे बढ़ा और 'पिता' कहकर उसे प्रणाम किया। 'पुत्र' कहकर अधिरथ ने उसे गले से लगा लिया। इससे, वह किस कुल का है, इस प्रश्न का उत्तर, अपने-आप उसी समय मिल गया। कर्ण को इच्छित क्षत्रियत्व तो नहीं मिला, परन्तु सूत-पुत्रत्व अवश्य जग-जाहिर हो गया। इसपर भीम ने जले पर नमक छिड़का, "जाओ, जाओ, तुम सूत हो, अपना काम करो; चाबुक हाथ में लो, शस्त्र क्यों ले रहे हो ?" कर्ण के लिए ये शब्द भयंकर थे। दुर्योधन ने कर्ण को गले से लगा लिया। अपनी मित्रता उसे दी और कर्ण ने उपकृत होकर उसे सहर्ष स्वीकार किया।

सूर्यास्त हुआ। बोलचाल और वाग्युद्ध बन्द हुआ। शस्त्रविद्या के प्रदर्शन का रंग भी समाप्त हो गया।

"मैं कौन ?" इस प्रश्न का उत्तर तो दूर, परन्तु एक नवीन समस्या—उलझन अलबत्ते खड़ी हो गई। उस समय तो नहीं, पर बाद में किसी समय कर्ण को अंगदेश का राज्य भी मिला। पर राज्य मिलने पर भी कर्ण सदा के लिए कौरवों का दरबारी ही रहा। दुर्योधन ने कर्ण को अपना मित्र कहा, परन्तु उस मित्रता का रूप ऐसा था कि जिससे कर्ण का यह प्रश्न कि "मैं कौन" लटकता ही रहा। दुर्योधन की मित्रता के कारण भी वह क्षत्रिय न हो सका। दुर्योधन ने अपनी बहन अथवा कौरव राजवंश की किसी कन्या से उसका विवाह नहीं किया। इसके विपरीत, जैसाकि उद्योगपर्व में कर्ण ने स्वयं ही कहा है, एक सूत-कुलोत्पन्न कन्या से उसका विवाह हुआ और आगे भी उसके लड़के-बच्चों के विवाह सूत-कुल में ही हुए। जिस समय और जिस प्रसंग में दुर्योधन ने कर्ण को अपने निकट लिया, वह कुछ इस तरह का था कि कर्ण व दुर्योधन बिल्कुल समान मित्रों जैसे मालूम नहीं पड़ते। वह दुर्योधन के बहुत निकट था, फिर भी रहा एक स्वामिभक्त नौकर की तरह ही; समान मित्र की तरह नहीं। दुर्योधन के प्रेम की अपेक्षा उसके उपकार में ही कर्ण सदा दबा रहा। इससे दुनिया में कर्ण का सूतत्व अटल हो गया। यह भावना मात्र कि वह

वास्तव में सूत नहीं है, दृढ़ ज़रूर रही, पर ऊपरी व्यवहार में, 'सूतत्व' पूरी तरह उसके पल्ले बंध गया। इस भयंकर परिस्थिति में उसका मन भीतर-ही-भीतर कुढ़ता रहता था। उसे इस समय तक यह पता नहीं था कि पाण्डवों से उसका कोई रिश्ता है भी। ऐसा होते हुए भी पाण्डवों से उसने वैर क्यों बांधा ? इसके तीन कारण हो सकते हैं : (१) रंगशाला में भीम ने उसका अपमान किया था; (२) अर्जुन उस समय एक बड़े योद्धा के रूप में प्रसिद्ध था, इसलिए कर्ण उससे ईर्ष्या करता था; (३) पाण्डवों के कट्टर वैरी दुर्योधन का वह मित्र हो गया था। स्पर्धा के इस प्रसंग पर, दुर्दैव से, वह हलका साबित हुआ और उसकी यह हृदय-व्यथा बढ़ती ही चली गई।

पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाने के षड्यंत्र में कर्ण का भाग नहीं था, ऐसा लगता है। उसमें मुख्य मंत्रणा धृतराष्ट्र और दुर्योधन, इन्हीं दोनों बाप-बेटों की ही थी। इस षड्यंत्र के विफल होने पर, अलबत्ता, आगे के सभी अवसरों पर, कर्ण दुर्योधन की मंत्रणा में शामिल रहता था। महाभारत के एक संस्करण के अनुसार द्रौपदी-स्वयंवर के समय पण—दांव जीतने का प्रयत्न कर्ण ने किया था। इस प्रकरण को प्रक्षिप्त मानकर नये संस्करणों में छोड़ दिया गया है। कदाचित् कर्ण का धनु-विद्या का कौशल पण जीतने लायक नहीं था, अथवा दुर्योधन के वहां रहने के कारण, दुर्योधन का प्रतिस्पर्धी न होने के इरादे से भी, उसने पण जीतने का विचार न किया हो। जो कुछ हो, दूसरे जो न कर सके वह अर्जुन ने कर दिखाया और युद्ध में भी उसने कर्ण को अपने हाथ दिखाये। इस अवसर पर अर्जुन ब्राह्मण वेश में था। कहा गया है कि अर्जुन को ब्राह्मण समझकर कर्ण उससे ज्यादा नहीं लड़ा। परन्तु इसमें इतना तथ्य नहीं दिखाई देता। एक ब्राह्मण ने क्षत्रिय-कन्या को जीत लिया, इसलिए सभी राजा लोग क्रुद्ध होकर लड़ाई के लिए तत्पर हो गये थे। कर्ण भी लड़ा और फिर यह सोचकर कि अर्जुन ब्राह्मण है, कर्ण ने बीच में लड़ाई छोड़ दी, यह बात विचित्र मालूम होती है। सब लोग यही समझ रहे थे कि इस ब्राह्मण को ठोक-पीटकर निकाल बाहर करने में कुछ समय नहीं लगेगा। परन्तु जब अर्जुन और उसकी सहायता में भीम ने अपना पराक्रम

दिखाया, तब बीच में ही "तुम ब्राह्मण हो या और कोई हो ?" यह प्रश्न पूछकर लड़ाई से हट जाना कुछ अप्रस्तुत मालूम होता है।

द्यूत-पर्व में एक तरह से सभीकी परीक्षा हो गई। 'अब क्या हुआ ?' 'अब क्या हुआ ?' ऐसा पूछनेवाले उत्सुक अन्धे धृतराष्ट्र की परीक्षा हो गई; पाण्डव जब सबकुछ हार चुके तब, "गौ, गौ, गौ, गौ" चिल्लाने-वाले दुःशासन की परीक्षा हो गई; द्रौपदी के चीर-हरण के समय उस घृणित कार्य की रोकथाम करने के लिए बेचैन विदुर की परीक्षा हो गई और उनके साथ ही इनसब लोगों से जिसका कुछ भी नाता-रिश्ता नहीं था, उस कर्ण की भी परीक्षा हो गई। वह सब तरह हीन साबित हुआ। द्रौपदी को राजसभा में खींचकर लाया गया था। वह दासी हो गई है या नहीं, इस प्रश्न का ऊहापोह चल रहा था। दुर्योधन के छोटे भाई विकर्ण ने उठकर कहा था, "इस तरह एक सती को खींचकर लाना उचित नहीं है। वह दासी नहीं हुई है।" इस समय कर्ण गुस्से में आकर खड़ा हुआ और उसने विकर्ण की भर्त्सना की और कहा, "पांच पुरुषों की पत्नी ! यह कैसी पतिव्रता ? वह तो स्वैरिणी है। उसे सभा में खींचकर लाने में कुछ भी अनुचित नहीं हुआ। इन सबोंने अपना सर्वस्व गंवा दिया है, ये दास हो गये हैं। अपने कपड़ों तक पर इनका कोई हक नहीं रहा। निकाल लो इनके कपड़े।" कर्ण के ये शब्द सुनते ही पाण्डवों ने अपने पहने हुए कपड़े उतारकर सभा में रख दिये और दुःशासन कर्ण के कहने से द्रौपदी का चीर खींचने लगा। कर्ण के खड़े होकर बोलने तक तो केवल चर्चा ही चल रही थी, परन्तु उसने द्रौपदी की विडम्बना—दुर्दशा करने को खुला प्रोत्साहन दिया। संपत्ति के सम्बन्ध में अथवा राज्य के बंटवारे के विषय में पुरुषों-पुरुषों में कोई झगड़ा हो, तो उसे या तो युद्ध के द्वारा तय किया जाय, अथवा चौपड़ खेलकर हल किया जाय, इस झगड़े में पराभूतों की पत्नी की भरी सभा में फजीहत करने का कोई कारण नहीं था। कर्ण सूत है या क्षत्रिय है, यह प्रश्न भी वहां नहीं था। साधारण मानव-धर्म का प्रश्न था। प्रश्न विधि-विधान या कानून का भी नहीं था। एक कुल-वधू की आबरू ली जाय या नहीं, यही सीधा-सादा प्रश्न था। भाई-भाइयों के इस झगड़े में कर्ण को इस तरह पड़ने का कोई कारण नहीं

था। परन्तु कर्ण उसमें पड़ा और बदला लेने की धुन में वह अपना विवेक बिल्कुल खो बैठा, यही इससे साबित हुआ।

घोष-यात्रा के समय फिर एक बार कर्ण को नीचा देखना पड़ा। उस समय प्रत्येक राजा के पास बड़े-बड़े गायों के झुंड रहते थे। ये झुंड राज्य की सीमा से लगे हुए अरण्य के पास होते थे। इन झुंडों की रखवाली के लिए अधिकारी रहते थे। बीच-बीच में खुद राजा भी इनकी देखभाल के लिए जाया करता था। पुराने झुंडों में जब नये बछड़ों को दाखिल किया जाता था, तो उनके अंगों पर मालिक के चिह्न लगा दिये जाते थे। ये बहुधा तपाई हुई मुद्रा से दागे जाते थे। पाण्डव वनवास-काल में हस्तिनापुर के निकट ही अरण्य में रहते थे। घोष-यात्रा का अर्थ है इन गायों के झुंडों की जांच के लिए की गई यात्रा। इस निमित्त स्त्रियां, बच्चे, पुरुष सब बड़े लवाज़मे के साथ अरण्य जाते थे। पर इस यात्रा का उद्देश्य कौरवों द्वारा अपने वैभव का प्रदर्शन करके निर्वासित पाण्डवों को चिढ़ाना था। इस समय एक गन्धर्व से कुछ छेड़-छाड़ होकर झगड़ा शुरू हो गया। उसमें गन्धर्वों ने कौरवों को मार भगाया और दुर्योधन को कैद कर लिया। इस मार-पीट में कर्ण भाग निकला और पड़ोस के एक गांव में जाकर उसने आश्रय लिया। अन्त में पाण्डवों ने दुर्योधनादि कौरवों को गन्धर्वों से छुड़वाया और उन्हें वापस हस्तिनापुर रवाना कर दिया। पाण्डवों द्वारा कौरवों को छुड़ाये जाने के पहले ही राजा को कैद करने की खबर हस्तिनापुर पहुंच गई थी और भीष्म सेना लेकर राजा को छुड़ाने के लिए चल पड़ा था। इतने में ही उन्हें उसके छूट जाने का भी समाचार मिला। रास्ते में कर्ण मिला। उसने, "राजा कहां है? कैसा है?" आदि पूछताछ की। भीष्म ने फटकारा और कहा कि राजा जीवित है या नहीं यह पूछने के लिए सच्चे स्वामिभक्त जीवित नहीं रहते। राजा को संकट में डालकर तुम यहां भागकर कैसे आये? राजा के प्रति तुम्हारा प्रेम एक दिखावा-मात्र मालूम होता है।" कर्ण ने दुर्योधन के मित्र की भूमिका ग्रहण की थी। "मैं कौन" इसका उत्तर उसके मन में "मैं दुर्योधन का मित्र हूं," यह था, परन्तु इस प्रसंग पर और भीष्म के धिक्कारने से उसकी एक बार फिर जान-लेवा परीक्षा हुई, परन्तु उसमें वह उत्तीर्ण नहीं हुआ।

इसके बाद का प्रसंग है गो-ग्रहण का। उस समय तो अर्जुन अकेला ही था और कौरवों के पक्ष में छोटे-बड़े सारे वीर योद्धा वहां थे। उस समय भी अर्जुन के सामने कर्ण की कुछ नहीं चली। अर्जुन ने सभीको हरा दिया। यही नहीं, बल्कि उनके सुन्दर वस्त्र छीनकर उसने उत्तरा को गुड़िया बनाने के लिए दे दिये। इस प्रसंग को भी छोड़ दें तो भी उसने कौरवों को लड़ाई में मारकर भगा दिया और विराट की गायें उनसे छुड़ा लीं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। "अब युद्ध बन्द करो और राजा को बीच में रखकर पीछे हट जाओ;" भीष्म का यह संकेत सबने मान लिया। यह भी इस अवसर पर मुंह छिपाने का एक रास्ता कर्ण के लिए था। परन्तु उसमें कोई अर्थ नहीं था।

कौरव विराट के राज्य में घुस आये थे, गायें भगा ले जाना उनका उद्देश्य था। उसके सफल न होने पर विदेशी राज्य में, दूसरों के देश में, उनपर कठिनाई आ सकती थी। इस तरह की लूट-मार बहुत जल्दी से करनी पड़ती है। बड़ी लड़ाई के लिए वहां समय नहीं रहता। देर होने से शत्रु और भी सेना बुला सकता था। अतः वहां से निकल भागना ही उचित था। तर्कों का विचार किया जाय, तो भी इसमें संदेह नहीं कि अर्जुन ने अपने युद्ध-कौशल से कौरव-सेना से घिरी गायों को छुड़ा लिया। गायों को भगा ले जाने पर कौरवों से भी दो-दो हाथ किये और ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि उनकी पीछे लौटने के सिवा कोई गति नहीं रही। भयभीत सारथी मिलने पर भी रथ के द्वारा लड़ने का महारथित्व का कौशल अर्जुन ने दिखाया। यहां भी कर्ण युद्ध-विद्या में अर्जुन से घटिया ही साबित हुआ।

कर्ण की कथा में सूर्य की निरर्थक घुसपैठ व जोड़-तोड़ यहां-वहां दिखाई देती है। कहते हैं कि सूर्य ने कर्ण से कहा था कि यदि इन्द्र तुझसे कवच-कुण्डल मांगने के लिए आवे, तो तू उसे मत देना। उसी प्रकार जब कुन्ती ने कहा कि तू मेरा पुत्र है, तब भी सूर्य ने कर्ण से कहा था कि कुन्ती का कहना यथार्थ है, तू मां का कहना मान लेना। कर्ण ने दोनों

बार सूर्य का कहना नहीं माना। कथा की परिपुष्टि की दृष्टि से सूर्य के ये दोनों कथन बिल्कुल निरुपयोगी और अवास्तविक तथा अनावश्यक लगते हैं। सूर्य को यदि अपने पुत्र की इतनी चिन्ता थी तो रंगशाला के समय ऐसा क्यों नहीं कहा कि यह मेरा पुत्र है। इस आकाशवाणी से चाहे कर्ण का क्षत्रियत्व सिद्ध न भी हुआ होता, तो भी देव-पुत्रत्व तो उसे प्राप्त हो ही सकता था।

कर्ण सूर्य-पूजा क्यों करता था, इसका भी मर्म समझ में नहीं आता। कुण्डल तो ऐसी वस्तु है, जो कान फाड़कर दी जा सकती है, परन्तु उसने कवच शरीर पर से छीलकर व खून से लथपथ होकर दिये, इसका क्या अर्थ ? कवच दान दे देने पर भी कर्ण युद्ध में बिना कवच के नहीं लड़ा। अर्जुन के बाणों ने उसका कवच भेद दिया, ऐसा वर्णन आया है। जो औरों के पास नहीं, वह कर्ण के पास था। इसलिए उसे सच्चे मन से विश्वास हो गया था कि मैं वास्तव में सूतपुत्र नहीं हूं। कवच-कुण्डलों के कारण क्या वह वास्तव में अजेय था ? क्या यह कहना होगा कि कवच-कुण्डल देकर कर्ण ने वास्तव में मरण को खींचकर बुला लिया ? कवच-कुण्डलों के रहते हुए भी द्रौपदी-स्वयंवर में, घोष-यात्रा में, और गौ-ग्रहण के समय वह पराजित हुआ ही था। तब फिर यह आत्यन्तिक दान-शूरता का ढिंढोरा क्यों ? 'मैं कौन' इसकी खोज में ही तो यह पैदा न हुआ हो ? अपनी छाप दूसरों पर डालने की आवश्यकता उसे अनुभव होती थी। समाज में उसका स्थान निश्चित न होने के कारण वह हीनता का अनुभव कर रहा था। क्या यही तो उसके मानसिक क्षोभ का कारण नहीं था ? कर्ण के प्रत्येक कृत्य में अपेक्षित मर्यादा का उल्लंघन दिखाई देता है। रंगशाला में उसने जो अपना नैपुण्य दिखाया, वह तो उचित था। परन्तु अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध करने की मांग करना प्रसंगोचित न था। द्रौपदी वस्त्र-हरण के समय की बात भी समझनी चाहिए। यों भी पाण्डवों की मान-हानि तो हो ही रही थी। कर्ण को बीच में उछल-कूद करने की क्या आवश्यकता थी, परन्तु उससे रहा नहीं गया। दुष्कृत्य में भी वह फौरन ही साधारण मनुष्यों की मर्यादा छोड़कर कुछ-न-कुछ विशेष करवाने के मोह में पड़ जाता था।

कर्ण के जीवन में अलबत्ता कुछ क्षण सुनहरे भी आ जाते हैं। बहुत सुख या बड़ा सम्मान मिल जाने की दृष्टि से नहीं, जैसी उसकी कीर्ति थी वैसा ही वह रहा, परन्तु उसके मन की व्यथा नष्ट हो गई। ऐसे वे क्षण थे। "मैं कौन", उसे इसका उत्तर मिला, परन्तु उसी क्षण उस उत्तर से उत्पन्न पेंच से बड़ी उदारता के साथ उसने अपनेको बचा लिया। कर्ण के पूर्व और उत्तरकालीन जीवन में उसके मन में बड़ी अस्पष्टता दिखाई देती है। परन्तु इन दो प्रसंगों में उसके कथन और कृति में, कथनी व करनी में, विचारों की विलक्षण स्पष्टता दिखाई देती है। न कहीं शंका, न अस्पष्टता। सारा मनोमालिन्य निकलकर मन दर्पण की तरह स्वच्छ दिखाई देता है। ये दोनों अवसर मानवीय धरातल के हैं और उनमें कर्ण की और एक परीक्षा—अतिशय कठिन परीक्षा—हुई है। कर्ण इस परीक्षा में बिल्कुल मानवीय धरातल पर पूर्णरूप से उत्तीर्ण हुआ है। कुछ दैवी, या अति-मानुष या अति-उदात्त-जैसा कुछ नहीं दिखाई दिया। उस समय भी उसकी निराशा, उसका संताप सबकुछ व्यक्त होता है। लेकिन उस अभिव्यक्ति के समय उसमें दीनता नहीं दिखाई देती। इन दो में से एक प्रसंग वह है जब कृष्ण ने उससे यह आग्रह किया था कि वह पाण्डवों के पक्ष में हो जाय और दूसरा प्रसंग तबका है जब कुन्ती ने उसे अपनी पहचान बताई। कृष्ण ने जाने क्या-क्या लालच उसे दिखाये। जिस बात के लिए वह जीवन-भर झगड़ता रहा, वह सब और कर्ण ने जीवन में कभी कल्पना भी न की होगी, ऐसा व उससे कहीं अधिक उसे देना कृष्ण ने मंजूर किया। वह क्षत्रिय सिद्ध हो सकता था। तत्कालीन उच्चतम कुल का गौरव उसे मिल सकता था। राज्य मिलता था। जीवन-भर जिनका मुकाबला किया, जिनसे वैर माना, उनके हाथ जोड़कर चाकर की तरह खड़े रहने की संभावना हो रही थी, परन्तु कर्ण ने उन सबको तिलांजलि दे दी। सो भी सहज ही। आगापीछा न सोचते हुए, गाली न देते हुए। उसने कहा, "कृष्ण, जो तुम कहते हो वह संभव नहीं। मेरा जीवन सूतों के बीच गया। मेरे और मेरे लड़कों के नाते-रिश्ते सूतों में हुए। अब उनसे जुदा होना मेरे लिए संभव नहीं। यदि राज्य मिल भी जाय तो मैं उसे

दुर्योधन के चरणों में चढ़ा दूंगा। जाओ मेरा मन बदलने की झंझट में न पड़ो।"

इस बातचीत के बाद ईश्वर के रूप में कृष्ण की स्तुति, पाण्डव कैसे अजेय हुए, कौरवों का वध होना पहले से कैसे निश्चित है, इस अर्थ का एक लम्बा-चौड़ा वाक्य जो कर्ण के मुख में डाला गया है, वह वहां बिलकुल अप्रस्तुत और बाद में प्रविष्ट किया गया लगता है। "तुम्हारा भाग्य", यह कहकर कृष्ण चले गये। इस अवसर पर कर्ण एक असामान्य पुरुष, सच्चा मित्र, दत्तक कुटुम्ब के प्रति निष्ठा और प्रेम-बन्धन से बन्धा हुआ, किसी भी लोभ-लालच का शिकार न होनेवाला सेवक—इस प्रकार अनेक गुणों से युक्त उभरा हुआ दिखता है। दूसरे अवसरों पर प्रतीत होनेवाली जल्दबाजी, निन्दा व दोष निकालने की लालसा का उसमें कहीं नाम-निशान भी इस अवसर पर नहीं है।

दूसरा प्रसंग वह है जबकि कुन्ती से उसकी बातचीत हुई है। उसमें रोष है, विफलता की प्रखरता है, परन्तु उसमें भी क्षुद्रता नहीं। बातचीत लम्बी की जा सकती थी। कुन्ती के कारण कर्ण को कितने कष्ट भोगने पड़े, इसका लम्बा-चौड़ा वर्णन किया जा सकता था, परन्तु सारा प्रसंग बहुत थोड़े में आया है। उसमें कर्ण ही मुख्यतया बोलता रहा है। कुन्ती उत्तर दे ही नहीं सकती थी। कुन्ती उससे गंगा के तट पर जाकर मिली। कर्ण ने अपनी सूर्य-उपासना समाप्त कर कुन्ती को नमस्कार किया और आने का कारण पूछा। कुन्ती ने उसके जन्म का वृत्तान्त बताया और कहा, 'अब तुम पाण्डवों के पक्ष में आ जाओ। वे तुम्हारे भाई हैं। कर्ण-अर्जुन का प्रताप संसार को देखने दो। तुम सूत-पुत्र नहीं हो। अपना प्रताप दिखाओ।" यहां भी तीन श्लोक बाद में डाले हुए हैं। वे हैं आकाश से कर्ण को कहे गये सूर्य के वचन।

कर्ण ने जो उत्तर दिया वह संक्षेप में और बिल्कुल निश्चित और अंतिम था। उस उत्तर की एक पंक्ति का अर्थ ठीक समझ में नहीं आता। वह यह है—'धर्मद्वारं ममैतत्स्यान्नियोग करणं तव।' इसका अर्थ होगा नियोग की वार्ता से मेरे लिए धर्मद्वार मुक्त हो गया। 'नियोग' शब्द का अर्थ यहां साधारण से भिन्न है। कर्ण ने कहा, "देवी, नियोग की जो

वार्ता तुमने बताई, उसके कारण यदि तुम समझती हो कि मेरे लिए धर्म का द्वार खुल गया, तो यह भूल है। इस घटना से मुझे क्षत्रियत्व तो प्राप्त हो गया, परन्तु मुझपर क्षत्रियों के कोई संस्कार तो हुए ही नहीं। इसलिए यह क्षत्रियत्व मेरे लिए किसी काम का नहीं। जन्म के समय जब संस्कार किये जानेवाले थे तब तुमने मुझे निर्दय होकर फेंक दिया। अब आज अपना स्वार्थ साधने के लिए मेरे पास आई हो। कृष्ण जिसकी पीठ पर है, उस धनञ्जय का भय किसको न होगा? यदि मैंने आज दुर्योधन का साथ छोड़ दिया, तो दूसरे क्षत्रिय कहेंगे कि मैं भयभीत होकर पाण्डवों से मिल गया। मेरे बल पर दुर्योधन ने इस युद्ध की रचना की है। जाओ, तुमने जो चाहा है वह कदापि नहीं हो सकता। हां, मैं सिर्फ अर्जुन को मारूंगा। दूसरे पाण्डवों को छोड़ दूंगा। यदि मुझे अर्जुन ने मार डाला, तो भी तुम्हारे पांच ही पुत्र रहेंगे और यदि मैंने अर्जुन को मार डाला, तो मेरे सहित तेरे पांच-के-पांच ही पुत्र रहेंगे।" इसपर कुन्ती क्या बोलती? इतना ही कहा कि अपने वचन का पालन करना, और यह कहकर वह चली गई। पहले जैसा कृष्ण को उसने उत्तर दिया था वैसा ही यह उत्तर भी है। इसमें कुन्ती को धिक्कारा गया है। यह भी कहा है कि तुम्हारे इस कार्य से मेरा जीवन इस प्रकार नष्ट हो गया। किसी भी मोह का शिकार न होते हुए दुर्योधन को न छोड़ने का निश्चय कर्ण की महानता दिखलाता है। फिर भी आखिर में यह एक बात खटकती ही है कि मारूंगा तो अकेले अर्जुन को, दूसरों को नहीं। कुन्ती को दिया हुआ यह वचन मानो औदार्य की परिसीमा है। फिर इसमें खटकनेवाली बात क्या है? इसे पागलपनभरी उदारता कह सकते हैं। फिर भी यह औदार्य मन की महानता थी। इसे कैसे इन्कार करेंगे। इन्कार करने के दो कारण हैं। ऊपर जो यह कहा गया है कि कर्ण के आचरण में जो बहुत बार अतिरेक हो जाता था उसीका यह नमूना मालूम होता है। कुन्ती के प्रति स्नेह-उसमें नहीं पाया जाता। दया-माया भी नहीं। उन तथा-कथित भाइयों के प्रति लगाव भी उसके मन में नहीं था। औरों को छोड़ दूंगा, यह एक प्रकार की वलगना ही थी। 'छोड़ दूंगा' यह जिनके लिए कहा गया है, उनके प्रति तुच्छता ही थी।

इसका यह अर्थ है कि जो मेरी टक्कर का है, उसका वध करूंगा; बाकी के से मुझे मतलब नहीं। ऐसी वल्गना और दूसरों के प्रति तुच्छता यह गुण क्षत्रिय को शोभा देने जैसा ही था। परन्तु जिस प्रसंग पर उसने यह वचन दिया, वह उसके योग्य नहीं था। युद्ध वास्तव में होने ही वाला था। वह कोई रंगशाला का खेल नहीं था। अपनी शेखी बघारने की अपेक्षा दुर्योधन को जय प्राप्त कराना उसका कर्तव्य था। दूसरे भाइयों को, विशेषतः धर्मराज को न मारने में दुर्योधन का अहित था। धर्मराज यदि मर जाता अथवा कैद भी हो जाता तो युद्ध का फैसला दुर्योधन के पक्ष में होने की बहुत संभावना थी। यहां अपनी महत्ता के प्रभाव में कर्ण दुर्योधन का हित भूल गया, यही कहना पड़ेगा। यह वचन उदारता से नहीं बल्कि उद्धता में दिया गया था।

इस अवसर पर कर्ण जान गया कि 'मैं कौन हूं?' 'मैं' के योग्य भूमिका प्रकट रूप से स्वीकार करना संभव नहीं था। यही समझकर कर्ण ने उस 'मैं' को समाज में स्वीकार नहीं कराया। परन्तु मन में तो उसे जन्म-भर के बन्धन टूटकर मुक्त हो जाने का अनुभव हो जाना चाहिए था। जिसके लिए उसने आकाश-पाताल एक किया, वह क्षत्रियत्व मिल गया और मित्र के लिए सहज भाव से उसने उसको भी छोड़ दिया। जिस एक क्षण में कर्ण को असामान्यता मिली उस क्षण तो उसका जीवन सफल हुआ, ऐसा माना जा सकता था। परन्तु उसके बाद उसके जीवन में जो कुछ समय मिला, उसमें वह फिर उसी पुराने ढर्रे पर चल पड़ा। कर्ण को दूसरों ने नीचे खींचा और वह खुद ही अपनी करनी से और भी नीचे चला गया।

भीष्म ने जब यह सूची बनाई कि कौन-कौन रथी और कौन अर्धरथी हैं, तब कर्ण को 'अर्धरथी' की सूची में रखा। कर्ण की जल्दबाजी का उल्लेख करके भीष्म ने कहा कि इस कारण वह 'अर्धरथी' है। भीष्म का यह मत क्षत्रियत्व या सूतत्व के किसी सामाजिक मूल्य पर आधारित नहीं था। वह कर्ण का अपना एक अवगुण दिखा रहा था। कर्ण को गुस्सा आ गया, परन्तु सारे महाभारत के सब प्रसंगों का विचार करते हुए भीष्म का मूल्यांकन ठीक प्रतीत होता है। रथ में खड़े होकर युद्ध करने-

वाले को रथी कहते थे। किन्तु रथ हांकनेवाले को भी रथी कहते थे। कृष्ण ये दोनों विद्याएं जानते थे। इसी तरह अर्जुन व भीष्म भी। कर्ण सूत-परिवार में छोटे से बड़ा हुआ था, परन्तु रथ हांकने का उसका उल्लेख कहीं नहीं आता। रथ में बैठकर वह लड़ता था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रथ चलाने की विद्या युद्ध करने में उपयोगी होती होगी। चलते रथ में निशाना साधना पड़ता था। इसमें कर्ण कच्चा था, यह आगे के वर्णन से दिखाई देगा। परन्तु उपर्युक्त विवाद का वृत्तान्त सुसंबद्ध नहीं है। एक जगह कहा गया है कि भीष्म ने यह शर्त रक्खी थी कि 'जबतक मैं सेना-पति रहूंगा, तबतक कर्ण युद्ध नहीं करने पायेगा।' जैसा पहले ही कहा जा चुका है, भीष्म का सेनापतित्व युद्ध के लिए नहीं बल्कि युद्ध रोकने के अंतिम प्रयत्न के रूप में था। यदि ऐसा हो, तो भीष्म की दृष्टि से यह शर्त सुसंगत थी। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि दुर्योधन ने चुपचाप यह शर्त कैसे मंजूर कर ली? दूसरी जगह कहा है कि कर्ण ने रोष में आकर कहा, 'जबतक भीष्म खड़े हैं, मैं युद्ध नहीं करूंगा।' कर्ण का ऐसा कहना उसके स्वभाव के अनुरूप ही है।

इस प्रसंग में भीष्म के कथन की पुष्टि द्रोण ने भी की है। वह कहता है, प्रत्येक लड़ाई में कर्ण हठी, भगोड़ा, दया दिखानेवाला और भूलें करनेवाला है। इसलिए मेरी राय में भी वह अर्धरथी है। (रणे रणेऽतिमानी च विमुखश्चैव दृश्यते। घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः॥) द्रोण शस्त्रविद्या के गुरु थे—आचार्य थे। भीष्म की नहीं, पर द्रोण की राय पर विचार करके आत्मशोधन करने का अवसर कर्ण के लिए था। कर्ण को यह समझ जाना चाहिए था कि उसके पास शरीर-बल या बुद्धिबल रहते हुए भी वह परिस्थिति के कारण रथविद्या और शस्त्रविद्या प्राप्त नहीं कर सका था। साथ ही, अपने कार्यक्षेत्र की मर्यादा भी वह स्वीकार कर सकता था। परन्तु कर्ण में आत्मशोधन की प्रवृत्ति थी नहीं। 'मैं कौन?' इस प्रश्न का गहरा विचार करने की भी प्रवृत्ति उसमें नहीं थी।

भीष्म का रणांगण में पतन हो जाने के बाद कर्ण मैदान में आया। ऐसा लगने लगा कि अब कर्ण सेनापति बनेगा। सेना में यह नारा बुलन्द

हो रहा था 'हम कर्ण को सेनापति चाहते हैं। कर्ण को सेनापति बनाओ।' इधर कर्ण भी रथ पर सवार होकर बड़े ठाट-बाट से रणभूमि में आया। परन्तु खुद उसीने दुर्योधन को सलाह दी कि जिसे सब चाहते हों, उसे अर्थात् द्रोण को सेनापति बनाओ। द्रोण के सेनापतित्व में घमासान युद्ध हुआ और दोनों पक्ष के बड़े-बड़े वीर काम आये। इन तीन दिनों में अर्जुन को मारने का मौका कर्ण को नहीं मिला। यही नहीं, बल्कि इन्द्र द्वारा प्राप्त अमोघ शक्ति उसे घटोत्कच पर चलानी पड़ी। तीन दिन के इस युद्ध में ही पांच-छह कौरव वीरों ने मिलकर अभिमन्यु—अर्जुन के पुत्र को विरथ करके मार डाला।

द्रोण के मरने पर युद्ध के सोलहवें दिन कर्ण सेनापति बना। दोनों पक्षों की बहुत हानि हुई थी। फिर भी जय का पलड़ा पाण्डवों के पक्ष में था। अश्वत्थामा दुर्योधन से कह रहा था, "लड़ाई रोक दो और संधि कर लो।" दुर्योधन का विश्वास कर्ण पर था। उसे निश्चय था कि जो काम अन्य नहीं कर सके, उसे कर्ण करेगा। इस समय कर्ण के मन में होता, तो भी वह युद्ध से पीछे नहीं हट सकता था। पीछे हटने का विचार भी कर्ण को नहीं सूझा। कर्ण के सेनापतित्व के पहले दिन कुछ नहीं हुआ। दूसरे दिन शल्य को सारथी बनाने की बात उसे सूझी, परन्तु इस मांग के सिलसिले में उसे बहुत अपमान सहन करना पड़ा।

कर्ण-पर्व में ऐसी बहुत-सी घटनाएं हैं, जिनपर विचार करना आवश्यक है। उन्हींमें एक यह तेजोभंग का प्रकरण भी है। शल्य माद्री का भाई था और नकुल-सहदेव का एवं पर्याय से पाण्डवों का मामा होता था। दुर्योधन उससे पहले मिल लिया था, इसलिए शल्य ने उसके पक्ष में मिलना और लड़ना स्वीकार कर लिया। बाद में धर्मराज उससे मिला तो उसने कहा—"क्या करूं ? दुर्योधन पहले मिल लिया, मैं उसे 'ना' नहीं कर सका। परन्तु कर्ण का सारथी बनकर मैं उसका तेजोभंग करूंगा और इस तरह भीतर से आपकी मदद करूंगा।" यह सारा ही प्रसंग और सम्भाषण असंभव मालूम होता है। शल्य को क्या ऐसा सपना आया था कि कर्ण उसे सारथी बनावेगा ? भीतर से शल्य पाण्डवों के पक्ष में था, इस दिखावे में भी कोई तथ्य नहीं, क्योंकि पाण्डवों ने कर्ण के बाद लगे हाथ शल्य को भी मारा ही।

महाभारत में मध्य प्रदेश को बाल्हीक कहा है। हस्तिनापुर तथा बाल्हीक का सम्बन्ध बहुत प्राचीन था। शन्तनु के पिता प्रतीप की एक रानी मद्रों की, यानी बाल्हीकों के मौसेरे मायके की था। शन्तनु का एक भाई मामा की गोद गया था। उसका लड़का या पोता सौमदत्ति दुर्योधन की तरफ से लड़ा और मारा गया। शल्य की सगी बहन या चचेरी बहन पाण्डु से ब्याही थी। अर्थात् इन घरानों का बड़ा पुराना सम्बन्ध चालू था। जिस प्रकार बाल्हीक दुर्योधन की अर्थात् बड़े घराने की ओर से लड़े वैसे ही शल्य भी लड़ा। सम्भव है, उसे यह ख्याल न हो कि लड़ाई इतनी घमासान होगी। अलबत्ता इतना सच है कि वह पाण्डवों के विरोध में था। और इसलिए जिस घटना की उसे कल्पना भी नहीं थी, उसके विषय में वह धर्मराज को वचन दे सकेगा, यह अशक्य मालूम होता है।

इसी प्रकार तेजोभंग का भी प्रकरण गले नहीं उतरता। एक ओर कर्ण और दूसरी ओर अर्जुन—ये दो पात्र इस पर्व में मुख्य हैं। अर्जुन प्रतिदिन (एक-दो दिन को छोड़कर) संशप्तकों से लड़ रहा था। इस दिन भी आधा दिन लड़कर वह मुख्य सेना में लौट आया। धर्मराज कहीं दिखाई नहीं दिये, तब उसने भीम से पूछा कि राजा कहां है ? भीम बोला, "मुझे कुछ पता नहीं। सुना है, बहुत घायल होकर वह शिविर में गया है—मर गया या जीता है, यह भी मैं कुछ नहीं कह सकता।" भीम एक बड़े भीषण युद्ध में फंसा हुआ था। उसे सचमुच यह पता नहीं था कि राजा (धर्मराज) का क्या हुआ ? या अर्जुन को जोश दिलाने के लिए उसने ऐसा कहा हो ! अर्जुन तुरन्त शिविर में गया और धर्मराज ने "कर्ण को मारकर आये हो न ? शाबाश।" इन शब्दों से उसका स्वागत किया। अर्जुन से यह सुनकर कि मैं तो तुम्हारा हाल पूछने आया हूं, युधिष्ठिर भड़क उठा और अर्जुन को इतने दुर्वचन कहे कि अर्जुन उसे मारने के लिए खड़ा हुआ। अन्त में कृष्ण ने इस प्रकरण को मज़ाक में लेकर भाइयों की दिलजमई करा दी, और यह कहकर कि 'चलो अब कर्ण पर टूट पड़ो' रथ हांक दिया। इस प्रकरण को तेजोभंग कहें या जोश दिलाना कहें ? शल्य से कर्ण की बातचीत भी कुछ इसी प्रकार की थी। शल्य बड़ी मिन्नतें कराने के बाद कर्ण का सारथी हुआ था। शल्य

ने कहा—"मैं मूर्धाभिषक्त राजा हूं, कर्ण का सारथी कैसे बनूंगा ?" इससे तो फिर यह शंका खड़ी हो जाती है कि कर्ण को अंगदेश का राज्याभिषेक हुआ भी था या नहीं ? शल्य के सारथी होने पर अर्जुन की तरह सफेद घोड़े जोतकर जयघोष करता हुआ वह रवाना हुआ। उसके साथ ही बाणों से भरा हुआ दूसरा रथ भी था। "अर्जुन कहां है ? मुझे बताओ; अभी मैं उनको मारे डालता हूं। वह कहीं दिखाई नहीं देता। किसीने देखा है उसे ? कहां गया है वह ?" इस प्रकार शोर मचाता हुआ कर्ण रवाना हुआ। यह सुनकर शल्य ने कर्ण की चुटकी ली, "भैया, व्यर्थ की बड़बड़ न करो; अबतक तो अर्जुन ने ही तुम्हें मात दी है। घोष-यात्रा में क्या किया ? विराट-गो-ग्रहण के समय क्या किया ? तुम तो अर्जुन के दिखाई देते ही हथियार रख दोगे।" धर्मराज ने अर्जुन को जो कहा था, उससे यह कुछ भिन्न नहीं था। इसी पर्व में अश्वत्थामा से युद्ध करते हुए अर्जुन थकने लगा था। तब कृष्ण ने भी उसे बड़ी तुच्छता से झिड़का था और उन शब्दों को सुनकर अर्जुन जोश में आकर लड़ा था। क्या यह परस्पर रथी-सारथी के सम्बन्ध का द्योतक नहीं है ? ये वचन तेजोभंग करनेवाले नहीं, बल्कि योद्धाओं को क्रोध व जोश दिलानेवाले मालूम होते हैं।

इसके बाद जो शल्य और कर्ण का संवाद है, वह अप्रासांगिक, महाभारत के कथानक से बिल्कुल विसंगत और बाद की पुराणों की रूढ़ कल्पनाओं से पूर्ण और इसलिए प्रक्षिप्त है—बाद में जोड़ा गया मालूम होता है। कर्ण ने शल्य को उसीके शब्दों में उत्तर न देकर, मद्र और बाल्हीक देश की स्त्रियां कैसी अनाचारी हैं, इसीका वर्णन किया है। उसने गांधारी को भी नहीं छोड़ा। उसकी भी निन्दा की। यह भी कहा कि सारा देश आचार-भ्रष्ट है। और अन्त में तो उसने यहांतक कह दिया—"शल्य, तुम कुलीन नहीं हो, मैं तुम्हारा सिर उड़ा दूंगा।" कर्ण चाहे कितना भी जल्दबाज व अधीर हुआ हो, वह इस तरह नहीं बोल सकता था। उसका जीवन कौरवों के बीच गया था। कौरवों के और मद्रों के सम्बन्ध उसे अच्छी तरह मालूम थे; दूसरे यह कि मद्र, बाल्हीक पश्चिम दिशा के राष्ट्र और अंग, बंग, कलिंग ये पूर्व दिशा के राष्ट्र

अनाचारी, अनार्य हैं, यह कल्पना पुराणों से ली गई है। पुराण-काल में कुरु-पांचाल देश को कुछ विशिष्ट धार्मिक महात्म्य प्राप्त हो गया था। इसी प्रदेश को बाद में 'ब्रह्मावर्त' नाम दिया गया। परन्तु महाभारत में इस प्रकार का ज़रा भी खयाल नज़र नहीं आता। सब कौरवों ने पश्चिम की लड़कियों से शादी की थी और अपनी लड़कियां पश्चिम देश में दी थीं। इसीलिए यह संभाषण बिल्कुल असंगत अतएव प्रक्षिप्त मालूम देता है। इस कहा-सुनी और झगड़े में कर्ण बहुत संतप्त हो उठा, यह देखकर शल्य ने बात वहीं रोक दी और उसे युद्धभूमि में ले आया। यहां भी सारथी और रथी के सम्बन्ध कर्ण ठीक तरह से नहीं जानता था, यही कहना पड़ेगा। नये और सफेद घोड़े लानेवाली बात भी प्रक्षिप्त हो, तो भी पागलों-जैसी लगती है। अपने घोड़े, अपना रथ और अपने सारथी ये सब अपने सुपरिचित, रोज काम आनेवाले होते हैं। सबको मिलाकर युद्ध करना होता है। यह बात क्या कर्ण भूल गया था ? जो हो, सेनापति के रूप में कर्ण जो युद्ध में पराजित हुआ, उसका कारण यही मालूम होता है कि पहला ही कदम उसने गलत उठाया। आगे की घटनाओं से भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि शल्य कर्ण के विरुद्ध शत्रुभाव से ही चला था।

खूब शोर-गुल मचाकर भी कर्ण उसी समय अर्जुन के सामने नहीं गया। भीम, धृष्टद्युम्न और अर्जुन ये मिलकर रण में हाहाकार मचा रहे थे। कर्ण भी युद्ध में उतर पड़ा। थोड़े समय में शल्य ने उसे दूर से अर्जुन का रथ दिखाया, यह कहकर कि 'दुर्योधन ने जीवन-भर तुझपर जो उपकार किये हैं, उनका बदला चुकाने का अवसर आज आया है;' शल्य ने उधर रथ हांक दिया। इस समय कर्ण का पुत्र वृषसेन बड़े वेग से अर्जुन पर झपटा और अर्जुन ने थोड़ी ही देर में कर्ण के सामने उसे मार गिराया। इस समय तक कर्ण का युद्ध-घोष रुक गया था और अर्जुन युद्ध-घोष करने लगा था। पुत्र को मरा देखकर कर्ण की आंखों में आंसू आ गये, परन्तु उन्हें पोंछकर वह अर्जुन के सामने जा खड़ा हुआ। दोनों का युद्ध जमा। परन्तु धीरे-धीरे अर्जुन की जीत होती जा रही थी। कर्ण खून से लथपथ हो गया। उसका कवच टूट-फूट गया,

और उसने अर्जुन को मार डालने के लिए एक अमोघ बाण निकाला। उस बाण के अग्रभाग पर नाग बैठा हुआ था। (नाग का विष लगाया हुआ होने के कारण वह बाण शरीर में थोड़ा-सा भी घुस जाय, तो मनुष्य मर सकता था)। कर्ण ने शर-संधान किया। शल्य ने कहा, "भैया, निशाना ठीक नहीं है। यह बाण अर्जुन की गर्दन नहीं काट सकता।" परन्तु कर्ण ने शल्य की एक न सुनी और तीर छोड़ दिया। निशाना चार अंगुल दूर रह गया और बाण अर्जुन के किरीट पर जाकर लगा।

यहां परस्पर विरोधी वर्णन हैं। एक बार कहा है कि निशाना चार अंगुल चूका। शल्य के इशारे को यदि ठीक मान लें, तो यह कहना होगा कि शल्य इस बात को जान गया था कि इतने थोड़े में ही निशाना चूकनेवाला है। और यह सिद्ध होता है कि कर्ण की निशानेबाजी ठीक नहीं थी। इसके विपरीत कर्ण के अमोघ बाण को देखकर कृष्ण ने रथ को दबाया और तुरन्त घोड़ों ने घुटने टेक दिये और बाण चौबीस अंगुल चूक गया, ऐसा भी वर्णन उसके बाद ही आया है। इस पर्व के सम्पादक कहते हैं कि यह वर्णन मात्र कृष्ण की स्तुति के निमित्त लिखा गया है। यह ठीक भी मालूम होता है, क्योंकि कर्ण ने गर्दन पर निशाना लगाया था। यदि चौबीस अंगुल निशाना चूका, तो उससे किरीट पड़ ही नहीं सकता था। अतः अर्जुन जो बच गया, वह कृष्ण के कौशल से नहीं, बल्कि कर्ण का निशाना चूक जाने से, ऐसी स्थिति मालूम होती है। पुत्र के मरने से कर्ण की हिम्मत टूट गई होगी। और फिर निशाना चूक गया, तो वह अधिक ही चक्कर में पड़ गया। इतने ही में रथ का चक्का घूमा, रथ फिसला और उसके चक्के ज़मीन में धंस गये।

युद्ध का यह सत्रहवां दिन था। हाथी, घोड़े, मानव-शव और टूटे रथ रणभूमि में पड़े हुए थे। इस कारण रणभूमि नरम हो गई थी और कहीं-कहीं गीली भी हो गई होगी। गंगा-यमुना के मैदान—दोआब—में पत्थर कहीं भी नहीं मिलते। हजार फुट तक नीचे मिट्टी-ही-मिट्टी है और पानी भी इतना नीचे नहीं गया होगा। ऐसी स्थिति में यदि चक्का फिसल गया और रथ धरती में धंस गया, तो इसमें कोई आश्चर्य की

बात नहीं। युद्ध के दो सप्ताह तक, एक या दूसरे कारण से, रथ बेकार हो जाते थे। खुद योद्धा तक एक रथ को छोड़कर दूसरे रथ में बैठ जाते थे। कर्ण के पीछे भी रथ थे, परन्तु कर्ण रथ से बाहर आकर मिट्टी में फंसे चक्के को बाहर निकालने लगा। भारी रथ के फंसे पहिये को बाहर निकालना, विशेषतः इक्के-दुक्के व्यक्ति के लिए, समय और श्रम-साध्य काम था। कर्ण दूसरे रथ पर क्यों नहीं बैठ गया ? संध्या होने आई थी। इस युक्ति से समय बिताने और एक रात विश्राम लेने की तो कहीं उसकी तजवीज़ नहीं थी ? यह बात निश्चित थी कि कर्ण चक्कर में पड़ गया था। उसने अर्जुन से कहा, "मैं पहिया निकालने के लिए भूमि पर खड़ा हूं और तुम रथ में हो। तुम युद्ध-नीति जानते हो। रथ में बैठकर मुझसे मत लड़ो। मुझे पहिया निकाल लेने दो। धर्म से युद्ध करो।"

परन्तु कृष्ण उसे अवकाश देने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। 'धर्म से युद्ध करो', इस आह्वान में ही कर्ण को बिल्कुल खत्म कर डालने का पूरा साधन कृष्ण को मिल गया। 'मैं कौन ?' यह प्रश्न कर्ण अब नहीं पूछ रहा था। परन्तु कृष्ण ने जो प्रश्न पूछे, उनका मतलब 'तुम कौन ?' यही था। "भरी सभा में द्रौपदी का चीर-हरण करते समय तुम्हारा धर्म कहां गया था ? विरथ अभिमन्यु को तुम सबने मिलकर मारा था, तब तुम्हारा धर्म कहां गया था ?"

कृष्ण ने अर्जुन का मोह नष्ट करके और उसे स्वत्व का ज्ञान करा-कर कर्त्तव्य-पालन में लगाया। उसी कृष्ण ने मृत्यु की घड़ी में कर्ण के स्वत्व का सब तरह से हरण कर लिया। "द्रौपदी के प्रति तुमने मामूली मानवता भी नहीं दिखाई, तो तुम्हें अब क्यों दिखाई जाय ? सौभद्र के समय तुमने क्षत्रिय-धर्म का कहां पालन किया था ? तब धर्म की तुम कैसे अपेक्षा रखते हो ? तुमने ऐसा व्यवहार किया भी है, जो तुम ऐसी अपेक्षा रखने की आशा करो।" ये विदारक प्रश्न थे। कृष्ण ने उससे दो ही प्रश्न पूछे थे। दूसरे व्यर्थ के प्रश्न संशोधित संस्करण में से निकाल दिये गए हैं।

एक ओर कर्ण के द्वारा धर्म की याचना करने का अधिकार इन प्रश्नों ने नष्ट कर दिया तो दूसरी ओर कर्ण के जिन दो कृत्यों से अर्जुन के

हृदय में गहरी चोट लगी थी, उन्हें भी स्पष्ट कर दिया। "इसी मनुष्य ने भरी सभा में मेरी पत्नी की फजीहत की थी; इसीने मेरे पुत्र को निर्दयतापूर्वक मारा था", यह याद अर्जुन को आई। वह जोश से उठा, धनुष पर बाण चढ़ाया और गरजकर कहा—"यदि मैं सच्चा क्षत्रिय हूं, तो यह बाण कर्ण का प्राण लेकर छोड़ेगा।" अर्जुन का निशाना अचूक होता था, यह प्रसिद्ध ही था। इस समय भी उसका निशाना नहीं चूका।

महाभारत में कर्ण रंगशाला में शस्त्र-प्रतियोगिता के समय आता है। उस समय होनेवाली घटनाओं की मानो इस अन्तिम अवसर पर पुनरावृत्ति ही हो गई। रंगशाला में कर्ण के द्वारा द्वंद्व-युद्ध की मांग किये जाने पर कृपाचार्य ने उससे पूछा था—'तू कौन ?' और कर्ण को सिर नीचा करना पड़ा था। यह अन्तिम प्रसंग रंगशाला का नहीं, सचमुच ही युद्ध का था। जो द्वंद्व-युद्ध उसने अर्जुन से मांगा था, वह उसे अपने-आप मिल गया। यह कोई खेल नहीं था। जीवन-भर जिससे घोर वैर किया, स्पर्धा की, वह प्रतिस्पर्द्धी के रूप में सामने था। उसके सामने किसी प्रकार की याचना करने की आवश्यकता नहीं थी। क्षत्रियोचित ढंग से मरना ही एकमात्र मार्ग था। दुबारा फिर कर्ण उस मार्ग से टल गया। उसने धर्म-युद्ध की अपेक्षा की और इस समय कृपाचार्य ने नहीं, परन्तु कृष्ण ने "तू कौन ?", जो धर्म की अपेक्षा करता है, यह पूछा। 'मैं कौन ?' इस प्रश्न का स्वतः अपने मन में भी उत्तर न पाकर कर्ण चला गया।

नौ

कृष्ण-वासुदेव

कृष्ण महाभारत में आदि-पर्व के समाप्त होते-होते आते हैं, द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर। इससे पहले कृष्ण का पाण्डवों अथवा कौरवों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। वासुदेव की बहन कुन्ती (कृष्ण की बुआ) का विवाह पाण्डु से हुआ, एक जगह इतना ही उल्लेख आता है। इसके अलावा यादवों से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया। पाण्डु की मृत्यु तक पाण्डव हिमालय की तराई के अरण्य में रहते थे। पाण्डु के मरने और माद्री के सती हो जाने पर, विधवा कुन्ती, अपने छोटे-छोटे लड़कों को लेकर हस्तिनापुर आई और वहीं रहने लगी। भीष्म की देखभाल में बालकों की शिक्षा-दीक्षा हुई। कुन्ती और विदुर की दक्षता के कारण कौरव-दरबार में उनका संरक्षण हुआ। आगे चलकर कौरवों ने उन्हें गंगा के किनारे बसे एक गांव में भेजकर मार डालने की तजबीज की थी। पर जलते हुए घर—लाक्षागृह से बड़ी तरकीब से बाहर निकलकर कुन्ती और पांचों पाण्डव, द्रुपद की राजधानी में जा पहुंचने तक, एक वर्ष लुक-छिपकर रहे। पाण्डवों ने द्रौपदी को भी प्राप्त किया था, सो भी, 'वे कौन हैं', इसका ज़रा भी सुराग न लगने देते हुए ही। बचपन में पाण्डवों पर नाना प्रकार की आपत्तियों के मंडराते हुए भी और बड़ी सावधानी की आवश्यकता होते हुए भी, कुन्ती ने अपने मायकेवालों की कोई मदद ली हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। हो सकता है, जान-बूझकर कुन्ती ने ऐसा रवैया रक्खा हो। गान्धारी का भाई

(शकुनि) उसके विवाह के दिन से ही कौरवों के दरबार में आ डटा था और प्रतिष्ठित हो चुका था।

कुन्ती और माद्री के साथ उनके मायके से कोई भी नहीं आये थे और यदि कोई आये भी होंगे तो प्रथा के अनुसार, कुछ रस्म आदि अदा करके लौट भी गये होंगे। पति की मृत्यु के बाद मायके के लोगों को अधिकार-पूर्वक बुलाना शायद संभव भी नहीं था। कुन्ती स्वयं इतनी असहाय थी कि उसके मायके के लोगों को कौरवों के दरबार में स्थान मिलना सम्भव भी नहीं था। बहुत होता, तो उसे तथा उसके पुत्रों को उसके मायके में आश्रय मिल जाता। परन्तु ऐसा करने पर शायद हस्तिनापुर के राज्य पर से उसके पुत्र का अधिकार सदा के लिए चला गया होता। जिस तरह पूर्वजों द्वारा अर्जित संपत्ति पर अपने पुत्रों का हक नष्ट न हो, इसलिए कोई विधवा भौजाई नीचा सिर करके बुद्धिमानी से, अपने देवर-जेठ के बड़े परिवार में रहती है, उसी तरह कुन्ती भी वहां रही थी। इसीलिए, सम्भव है, द्रौपदी-स्वयंवर तक यादवों का नाम भारत में कहीं भी सुनाई नहीं पड़ता। पाण्डवों के बचपन से लेकर द्रौपदी-स्वयंवर तक यादवों का काल बहुत उत्कर्ष का—शानबान का—रहा था। कंस-वध, जरासंध-युद्ध और उससे डरकर यमुना-तट के प्रदेश छोड़कर उनका दक्षिण की ओर जाना, द्वारका की स्थापना और वहां स्थिर होना ये सब घटनाएं इसी काल में हुई थीं।

स्वयंवर-मण्डप में यादवों की टोली भी आई थी, परन्तु वह द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए नहीं। सारा समारम्भ देखकर स्वयंवर में क्या कुछ होता है, शायद यही देखने के लिए वे आये होंगे। अर्जुन के पण (बाजी) जीतते ही कृष्ण की नजर ब्राह्मण-वेश में बैठे पांचों पाण्डवों की ओर गई और पास ही बैठे बलराम को नाम लेकर बताया कि वहां कौन-कौन कहां-कहां के हैं। यह बताते हुए वह यह भी कहते हैं कि मेरे गुप्त-चरों ने यह खबर दी थी कि पाण्डव वारणावत के लक्षागृह में जले नहीं, बल्कि निकल भागे होंगे, ऐसा अनुमान है। ये वही मालूम होते हैं। उन्होंने तथा बलराम ने, अपना लवाजमा साथ न लेते हुए, अकेले लुक-छिपकर युद्धिष्ठिर के पीछे-पीछे जाकर, पाण्डवों के रहने का स्थान भी खोज

निकाला। वहां जाकर वे दोनों कुन्ती और पाण्डवों से मिले और इस खयाल से कि इनके स्थान का पता दूसरों को न लग जाय, वहां थोड़ी ही देर ठहरकर, चुपचाप वापस लौट आये।

इस मुलाकात के बाद, महाभारत में, 'महाप्रस्थान-पर्व' को छोड़कर, एक भी ऐसा पर्व नहीं है, जिसमें कृष्ण कहीं न आते हों। युधिष्ठिर के द्यूत खेलकर राज्य गंवा देने की घटना उस समय की है जबकि कृष्ण वहां नहीं थे। बारह वर्ष के वनवास में भी पाण्डवों और कृष्ण का बहुत ज्यादा सम्पर्क नहीं रहा। हां, कृष्ण उनकी पीठ पर ज़रूर रहे थे। विराट-पर्व में गो-ग्रहण के समय पाण्डवों द्वारा कौरवों को मार भगाये जाने के प्रसंग को छोड़ दें, तो पाण्डवों के द्वारा ऐसा कोई महान् कार्य नहीं हुआ,जिसमें कृष्ण की सहायता न रही हो। द्रौपदी के स्वयंवर के समय यादव बड़ी भेंट व सौगातें लेकर बड़े ठाट-बाट व लवाजमे के साथ द्रुपद की राजधानी में पहुंचे थे। द्रुपद और यादवों के सबल योग के कारण पाण्डवों के लिए धृतराष्ट्र को आधा राज्य देना पड़ा। कृष्ण ने यदि स्पष्टतः समर्थन न दिया होता, तो अकेले द्रुपद के बल पर सहज ही पाण्डवों को राज्य नहीं मिल सकता था। महाभारत में लिखा है कि धृतराष्ट्र ने खाण्डव-वन और उसके अन्दर खाण्डवप्रस्थ गांव युधिष्ठिर को दिया और कृष्ण को आगे करके पाण्डवों ने खाण्डव के अरण्य में प्रवेश किया था। वहां उन्होंने कृष्ण की सहायता से खाण्डवप्रस्थ जैसे छोटे-से गांव को बड़ी राजधानी में बदल दिया। यही नहीं, खाण्डव-वन को जलाकर कृष्ण और अर्जुन ने एक बड़ा प्रदेश अपने प्रजा-जनों के लिए तैयार कर दिया। इसके बाद मय के द्वारा बड़ा राजप्रासाद बनवाने की व्यवस्था करके कृष्ण द्वारका चले गये।

कृष्ण के चले जाने के बाद विभिन्न प्रकार के लोग युधिष्ठिर से मिलने आये। उनकी बातचीत के फलस्वरूप धर्मराज के मन में आया कि मैं राजसूय-यज्ञ करूं। तब श्रीकृष्ण को बुलाकर धर्मराज ने अपना मन्तव्य उन्हें बताया। उस समय कृष्ण ने उसे विभिन्न राज्यों के राजाओं की जानकारी देकर बताया था कि कौन अनुकूल हैं और कौन प्रतिकूल होंगे; कौन आसानी से जीते जा सकेंगे, और यह भी समझाया

कि मगधाधिपति जरासंध का वध किये बिना राजसूय-यज्ञ करना सम्भव न होगा। जरासंध के सम्बन्ध में बताते हुए, बात-बात में श्रीकृष्ण ने अपने पूर्व-जीवन का उल्लेख करके तथा यादवों के मथुरा से द्वारका जाने की बात अपने ही शब्दों में उसे बता दी थी।

महाभारत में जिस कृष्ण का दर्शन होता है, वह हरिवंश पुराण या या भागवत के कृष्ण से बिलकुल जुदा है। महाभारत में कृष्ण, बड़ी उम्र में, द्वारकावासी होने पर, आते हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ बातें खुद उन्हींके मुख से मालूम होती हैं। उन्होंने तथा बलराम ने कंस और सुनाम को मारा था। कंस की रानियां जरासंध की लड़कियां थीं। उन्होंने कंस-वध का बदला लेने का तकाजा अपने पिता के पीछे लगाया और जरासंध ने यादवों पर चढ़ाई कर दी। जरासंध के सामने यादवों के पैर उखड़ गये और वे यमुना-तट का प्रदेश छोड़कर पश्चिम की ओर भाग चले और रैवतक पर्वत के आसपास 'कुशस्थली' नामक स्थान में रहने लगे। वहांपर द्वारका नामक एक ऐसी नगरी बसाई, जहां सहसा कोई शत्रु धावा नहीं बोल सकता था। इस नये नगर में तथा इसके आस-पास के प्रदेश में वृष्णी, अंधक, भोज इत्यादि यादवों के विभिन्न कुल बलराम के आधिपत्य में रहने लगे। कृष्ण के पिता वसुदेव के अनेक रानियां—पत्नियां थीं। बलराम उनमें रोहिणी का पुत्र था। सुभद्रा और सारण ये दो बहन-भाई वसुदेव की एक तीसरी ही रानी के थे। अर्थात् बलराम, श्रीकृष्ण और सुभद्रा तीनों आपस में सौतेले भाई-बहन थे। कृष्ण ने अपने शौर्य और बुद्धिमत्ता से यादवों की स्वतंत्रता कायम रक्खी थी। यादवों की इन विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन महाभारत में कहीं-कहीं आता है। सभा-पर्व में बड़े-बड़े यादव-वीरों के नाम तक दिये हुए हैं। फिर भी, महाभारत में स्थान-स्थान पर बिखरी जानकारी एकत्र करके भी, यादव-वंश का सिलसिलेवार इतिहास नहीं बताया जा सकता।

महाभारत के वर्णन से यादव बलशाली, धनसम्पन्न, बड़े उद्दण्ड, उग्र स्वभाववाले, तुरन्त शस्त्र उठानेवाले, अपनी ही ऐंठ में मस्त और रथ-विद्या में निपुण दिखाई देते हैं। उनके ऐश्वर्य का वर्णन कई जगह आता

है। यादवों में भी भीतर कई पक्ष और उप-पक्ष हो गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से एक पक्ष का मत था कि कृष्ण राजा बनें। परन्तु कृष्ण के विरोधी पक्ष में बहुत-से लोग थे। अपने कुल में झगड़ा-टंटा न होने देने के विचार से कृष्ण ने वसुदेव के सबसे बड़े पुत्र और अपने सौतेले भाई बलराम को राजा बनाया। बलराम और कृष्ण में यद्यपि प्रत्यक्ष कोई भी स्पर्धा नहीं थी, तो भी मतभेद बहुत था। बलराम बहुत करके यह बात जानता था कि वह कृष्ण के बल पर राजा बना हुआ है और बहुत बार इच्छा न रहते भी उसे कृष्ण के आगे झुकना पड़ता था। अर्जुन ने कृष्ण की सहायता और सलाह से सुभद्रा-हरण किया था। क्षत्रियों के रिवाज के अनुसार सुभद्रा-स्वयंवर हो सकता था। परन्तु कृष्ण ने ही अर्जुन से कहा कि भैया स्वयंवर में यह लड़की किसके गले में वर-माला डालेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। तुम उसको चाहते हो तो फिर मैं तुम्हें अपना रथ देता हूं, घोड़े देता हूं, उसमें उसे बैठाकर भगा ले जाओ। इस प्रकार अर्जुन उसे ले भागा। तब बलराम-सहित सभी यादव-वीर अर्जुन का पीछा करते हुए उसे पकड़ने और मारने के लिए दौड़ पड़े थे। परन्तु कृष्ण ने दो-चार समझ की बातें कहकर उन्हें पीछे लौटाया और यह अच्छी तरह जंचा दिया कि पाण्डवों का और हम यादवों का यह सम्बन्ध किस तरह लाभदायी है। कृष्ण का झुकाव पाण्डवों की ओर बहुत था। बलराम के मन में पाण्डवों के प्रति सदिच्छा तो थी, पर आकर्षण नहीं। कौरव और पाण्डव दोनों में, वह किसीका भी पक्षपाती नहीं था। जब महाभारत-युद्ध शुरू हुआ तो वह पक्षापक्ष के झंझट में न पड़ते हुए अलिप्त रहा था। गदायुद्ध के समय जब भीम ने दुर्योधन की जांघ पर—कमर के नीचे गदा मारी तो वह भीम को मारने के लिए उठ खड़ा हुआ था। परन्तु कृष्ण ने उसे संभाल लिया। किन्तु महाभारत-युद्ध के समय यादवों के पक्ष-उपपक्ष प्रकट हो गये थे। कृष्ण ने प्रत्यक्ष युद्ध में भाग नहीं लिया, तो भी कृष्ण-पक्ष के यादव पाण्डवों की तरफ से लड़ते थे। और दूसरे कितने ही यादव दुर्योधन की ओर से भी लड़ रहे थे। किन्तु बलराम, जैसाकि पहले कहा गया है, स्वयं उससे अलिप्त रहा।

कृष्ण की पत्नियों में सत्राजित की लड़की सत्यभामा, महाभारत में प्रमुख रूप से आती है। कृष्ण जब सपत्नीक पाण्डवों से मिलने के लिए आते हैं, तब सत्यभामा को अपने साथ लाये थे। वन-पर्व में सत्यभामा उनके साथ थी। उद्योग-पर्व में जहां सेना की छावनियां पड़ी थीं, वहां भी अर्जुन के शिविर में कृष्ण के साथ सत्यभामा गई थी।

रुक्मिणी का नाम सिर्फ एक-दो बार ही आता है। बाद के साहित्य में यह बताया गया है कि रुक्मिणी कृष्ण की विशेष प्रिय पटरानी थी, पर महाभारत में ऐसा उल्लेख कहीं नहीं आया है। बल्कि अमुक का पति कहकर पुरुषों का वर्णन करने की प्रथा ही महाभारत में नहीं है। इन्द्र-प्रस्थ का राज्य कृष्ण के पोते वज्र को मिला। वज्र रुक्मिणी के नाती का पुत्र था, परन्तु अर्जुन ने जो उसे राज्य दिया वह कृष्ण की प्यारी रानी का पोता होने के कारण नहीं, बल्कि कृष्ण का बचा-खुचा वंशज होने के कारण। वज्र का दादा प्रद्युम्न व सात्यकि ये दोनों अर्जुन के मित्र थे और उसकी शूरवीरता के प्रशंसक थे--करीब-करीब भक्त ही थे, ऐसा उल्लेख महाभारत में कहीं-कहीं आया है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि अर्जुन ने जो इन दोनों के वंशजों को राज्य सौंपा इस घटना में रुक्मिणी का कृष्ण की प्रिय रानी होने के कारण उनके वंशज को राज्य मिलने की बात का तिल-मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन आता है, उसमें गोपी-वल्लभत्व का कहीं कोई नाम-निशान ही नहीं है। उस समय सभी क्षत्रिय राजाओं की संपत्ति में गो-धन का समावेश होता था। राजा के स्वयं अपनी भी गायों के ऐसे वृन्द हुआ करते थे। राजा के नियुक्त किये हुए गोप--गोपालक हुआ करते थे। राज्य की सीमा से लगी खेती की जमीन खत्म होकर जहां से अरण्य की शुरूआत होती थी, उस प्रदेश में ये गोवृन्द विचरते थे। हस्तिनापुर के राजा के पास ऐसे गोवृन्द थे, यह घोष-यात्रा से स्पष्ट होता ही है।

विराट-पर्व से भी यह मालूम होता है कि विराट राजा के भी ऐसे गोवृन्द थे। साल-दो-साल में राजा लोग खुद जाकर अपने गोवृन्द की गिनती किया करते थे। नये बछड़ों पर अपने स्वामित्व की मुद्रा छापने

की प्रणाली थी। यादव उस समय का अत्यन्त धनी क्षत्रिय-कुल था। अतः उसके पास भी पशुओं के बड़े-बड़े झुण्ड होंगे ही। द्रौपदी-स्वयंवर के समय, अथवा सुभद्रा के विवाह के समय, उन्होंने पाण्डवों को रथ, दास-दासी, घोड़े आदि के साथ बहुत-सा गोधन भी दिया था। सुभद्रा को इन्द्रप्रस्थ लाते हुए द्रौपदी को सुभद्रा पर क्रोध न आवे और वह शान्त रहे इस निमित्त अर्जुन ने एक तरकीब सोची। सुभद्रा को सुन्दर गोपालिका के वेष में लाकर उसे द्रौपदी के पास भेजा और उससे कहलाया कि "मैं तुम्हारी दासी हूं।" इस स्थान पर एक गोप-कन्या का उल्लेख हुआ है, परन्तु उसमें भी ऐसा दिखाई देता है कि पाण्डवों की पटरानियों से मिलने को जाते हुए, गर्वित होकर नहीं, बल्कि नम्रता दिखाने के लिए, एक नीचे के वर्ग की स्त्री का अर्थात् गोपालिका का वेष सुभद्रा को पहनाया था।

उस समय की प्रथा के अनुसार कृष्ण बहुत-सी स्त्रियों को जीतकर लाये थे। यमुना के किनारे अर्जुन से गपशप करते हुए दोनों मित्रों ने जो बातचीत की थी, वह परस्पर पराक्रम के बारे में और वह पराक्रम युद्ध और प्रेम-सम्बन्धी (विक्रान्तानि रतानि च) था। परन्तु जिस प्रकार अर्जुन बहुत-सी स्त्रियों को जीतकर भी स्त्री-लम्पट नहीं था, उसी तरह कृष्ण भी स्त्री-लम्पट नहीं थे, बल्कि यों कहना चाहिए कि उस समय तरह-तरह की स्त्रियों को जीतकर लाना, प्रेम की अपेक्षा राजनीति का ही एक भाग था।

कृष्ण-अर्जुन की मित्रता का आरम्भ द्रौपदी-स्वयंवर के समय से होना चाहिए। यहांपर फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जुदा-जुदा लोगों की उम्र उस समय क्या थी? द्रौपदी-स्वयंवर के समय अर्जुन की अवस्था कम-से-कम बीस वर्ष की रही होगी, ऐसा हमने पहले कहा है। वह पच्चीस तक सहज ले जाई जा सकती है। अर्जुन की अवस्था को अधिक न आंकने का मुख्य कारण यह है कि महाभारत-युद्ध में भीष्म की आयु ९० से ऊपर नहीं जानी चाहिए। महाभारत में दो व्यक्तियों के परस्पर मिलने के व्यवहार-सम्बन्धी नियम बड़े कड़े थे। छोटे बड़ों को नमस्कार करते थे। बराबरीवाले छाती से छाती लगाकर मिलते थे और

छोटों को आशीर्वाद देने का रिवाज था। कुछ बातें बराबरी के लोग एक दूसरे से कर सकते थे। बड़ों अथवा छोटों के साथ वैसी बातें करने की गुंजाइश नहीं थी। कृष्ण जब पाण्डवों से मिलने आते, तो हर समय कुन्ती, युधिष्ठिर और भीम को नमस्कार करते थे और नकुल-सहदेव उनके पैर छूते थे। अर्जुन का अलबत्ता वह आलिंगन करते थे। अतः वह अर्जुन के समान-वयी थे। खाण्डव-वन में जब वे वन-विहार के लिए गये, तो किसी बड़े बुजुर्ग को साथ नहीं ले गये। दोनों अपनी-अपनी पत्नियों और दास-दासियों को ले गये थे, क्योंकि स्त्रियों का मद्य पीना, नाचना, गाना आदि बातें बड़ों के सामने कदापि नहीं हो सकती थीं। उद्योग-पर्व में युद्ध के पहले, अर्जुन के शिविर में, कृष्ण और अर्जुन दोनों मद्य पीकर अर्जुन अपने पैर सत्यभामा की गोद में और कृष्ण द्रौपदी की गोद में रखकर बैठे हुए थे, ऐसा वर्णन संजय के मुख से कराया गया है। इस शिविर में, संजय कहता है कि अभिमन्यु आदि बच्चों को भी जाने की मनाई थी। तात्पर्य यह है कि कृष्ण और अर्जुन दोनों बिल्कुल बराबरी के, तन-प्राण से मित्र थे।

द्रौपदी-स्वयंवर के समय यादवों को द्वारका में जाकर बसते हुए अधिक समय नहीं हुआ होगा। यादव एक अग्नि-परीक्षा से पार हुए थे। पाण्डव इसी तरह कठिन अग्नि-परीक्षा से बाहर निकल रहे थे। इस समय एक दूसरे के सहारे से दोनों का हित होनेवाला था। श्रीकृष्ण के नीतिज्ञ मन में यह विचार न आया हो, ऐसा नहीं कह सकते। पाण्डवों के सम्बन्ध में कृष्ण ने बड़ी नीतिज्ञता बरती थी, यह दिखाई देता है। परन्तु कृष्ण और अर्जुन की व्यक्तिगत मित्रता में नीतिज्ञता की अपेक्षा निर्व्याज प्रेम ही अधिक दिखाई देता है।

कृष्ण का पाण्डवों से जो सम्बन्ध था, उसका विचार करते हुए कृष्ण के समग्र जीवन का विचार करने की आवश्यकता है। भगवद्गीता में 'नमे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन'—ऐसा कहनेवाले श्रीकृष्ण के जीवन में बहुत-से कार्य हुए और नीतिमत्ता भी रही—कुछ कुल-सम्बन्धी, कुछ तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग-विषयक और कुछ बिल्कुल निजी

थी। कंस-वध कुछ अंशों में निजी कर्तव्य था और कुछ अंश तक सारे कुल की मुक्ति से सम्बन्ध रखता था। कंस-वध के कारण कंस के श्वसुर का अर्थात् जरासंध का यादवों के मन में जो भय उत्पन्न हो गया था, उससे यादवों को मुक्त करना तथा प्रतिक्षण जागरूक रहकर झगड़ालू और उद्दण्ड यादव-वंश को एकत्र रखना भी एक कर्तव्य था। तत्कालीन क्षत्रिय-परम्परा को धता बताकर क्षत्रियों का बलिदान करने के लिए तत्पर जरासंध-रूपी कांटा निकालना भी उनका एक कर्तव्य था। यह कार्य जितना अपने कुल के लिए था उतना ही सब राजवंशों की एक विशिष्ट शृंखला बनाने के उनके प्रयत्न का भी निदर्शक था।

महाभारत की एक बात मन में छा जाती है, वह है क्षत्रिय-वंशों के एक दूसरे से सम्बन्ध और उनके परस्पर व्यवहार के नियम। भिन्न-भिन्न राज्य-वंशों के परम्परागत राज्य और राजधानियां थीं। सिन्धु, सौवीर, मद्र, गान्धार, मत्स्य, पांचाल, हस्तिनापुर और स्वयं मगध, चेदि, विदर्भ इनसब देशों के राजा वंश-परम्परागत राज-गद्दियों पर बैठे थे। यादवों को मथुरा से भाग जाना पड़ा था। उन्होंने नई राजधानी—द्वारका बसाई। उन्होंने किसी दूसरे राजा का राज्य छीनकर उसे बसाया हो, ऐसा नहीं लगता। युद्ध के भी वर्णन हैं, परन्तु किसी एक राज्य को जीत-कर छीनने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

जरासंध को मारकर व उसके बेटे को अभयदान देकर राजगद्दी पर बैठाया था। जरासंध ने जिन राजाओं को पकड़ रक्खा था, उन सबको अपने छोटे-छोटे राज्यों में जाने की सुविधा दी गई थी। शिशुपाल को मारने के बाद उसका लड़का गद्दी पर बैठा। महाभारत-युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा। तब व्यास ने जो पहला कर्तव्य धर्मराज को बताया, वह इस प्रकार है—"जो-जो राजा युद्ध में मारे गये हैं, उन सबकी राजधानियों में दूत भेजकर उनकी रानियों को सांत्वना दो, उनको अभय दो। मृत राजा का कोई पुत्र हो, तो उसे अभि-षिक्त करो और उसकी रक्षा की चिन्ता रक्खो। कोई रानी यदि गर्भवती हो और कोई दूसरा वंशज न हो तो अच्छे लोगों की नियुक्ति करके

उसकी रक्षा करो और उसके लड़का उत्पन्न हो, तो उसके नाम की दुहाई फेरो।"[१]

इनसब उदाहरणों से ऐसा दिखाई देता है कि उस समय युद्ध के कुछ खास नियम होते थे। क्षत्रिय लोग एक दूसरे के राज्य को छीन लें, ऐसा रिवाज उस समय की रीति-नीति के अनुकूल नहीं था। धर्मराज के राजसूय-यज्ञ के समय कृष्ण का पाण्डवों से जो विचार-विनिमय हुआ, उसमें भी यह बात दिखाई देती है। वह विचार यही था कि कहां-कहां के राजा आसानी से जीते जा सकते हैं, अपने आप्त-जैसे किन-किन राजाओं से सहायता मिलेगी, किनको मारने की आवश्यकता होगी, आदि। फिर पाण्डवों के चार भाई जब प्रत्यक्ष दिग्विजय के लिए निकले तब वे राजाओं को पराजित करके उनसे कर-भार लेकर और यज्ञ के लिए उनको निमंत्रण देकर आये। शिशुपाल अग्रपूजा के समय युधिष्ठिर को यही चेतावनी देता है कि तुम जो राजसूय-यज्ञ कर रहे हो, वह इस कारण कि हम सबने तुमको मान्य किया। उसके कहने का सारांश यही था। कृष्ण ने जरासंध के सम्बन्ध में बात करते हुए भी यही कहा था कि "राजा लोगों को तुमने पकड़कर रक्खा है और अब उनकी बलि देनेवाले हो, यह कार्य राजनीति के विरुद्ध है। तुम उन्हें छोड़ दो, तो हमें कुछ नहीं कहना है।" इस बात के लिए जरासंध राजी नहीं हुआ, तब उसे मार डालना पड़ा। जो राजा राजसूय-यज्ञ करना चाहता हो, वह केवल शूर-वीर ही नहीं, धर्मज्ञ भी होना चाहिए, ऐसा विचार उस समय था। कृष्ण ने युधिष्ठिर से यही कहा था कि "सम्राट् के तौर पर तुमको सब लोग पसन्द करेंगे, परन्तु जबतक जरासंध जीवित है, तुमको यह पद नहीं मिल सकता।" जो राजा राजसूय-यज्ञ करता हो, उसे यदि दस राजाओं को जीतना पड़ता हो तो दूसरे दस राजा उसके बराबरी के मित्र भी होने चाहिए। राजसूय-यज्ञ जिस प्रकार दिग्विजय का प्रतीक था वैसा ही मान्यता का भी प्रतीक था। करीब-करीब तुल्य-बल राजा, एक दूसरे के पड़ोस में राज्य करते थे। कोई राजसूय-यज्ञ करता हो या अश्वमेध,

१. शान्ति-पर्व अध्याय ३४, श्लोक ३१-३२।

उसकी वजह से यह संतुलन बिगड़ता नहीं था। भय-भीति का आतंक जमाकर जरासंध ने इस व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया था। बराबरी के राजाओं को कैद कर देना अथवा अपनी सेना के बल पर उनपर रौब जमाकर साम्राज्य प्राप्त करना, कम-से-कम कृष्ण के मत में, तत्कालीन क्षत्रिय-नीति के अनुकूल नहीं था।

महाभारतकाल के बाद हमें बौद्धकालीन साहित्य मिलता है। उसमें काशी-कोसल-साम्राज्य का वर्णन है। उस समय राज्य-स्पर्धा में राजा लोग एक-दूसरे को गिराने का उद्योग करते थे और साम्राज्य भी स्थापित करते थे, ऐसा जान पड़ता है। बुद्ध के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस तरह का साम्राज्य स्थापित किया था। उसके बाद अशोक ने भी यही राह पकड़ी। बाद में आये कुमारगुप्त, समुद्रगुप्त आदि भी साम्राज्य-संस्थापक थे। 'पड़ोस के राजाओं की जमीन छीनकर अपने राज्य का विस्तार करना', यह साम्राज्य-स्थापना का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया था। फिर भी गुप्तकालीन कालिदास ने 'रघुवंश' में पुराने मूल्यों का उच्चार किया है। रघु के दिग्विजय के वर्णन में यही लिखा है, 'श्रेयं कलिंगनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्'। बिलकुल यही कल्पना महाभारत-काल में भी रूढ़ थी। दिग्विजय मानो एक खास सीमा में खेला जानेवाला एक दांव था। स्पर्धा कीर्ति के लिए थी, भूमि के लिए नहीं। कर-भार लिया जाता, परन्तु वह फिर दान के रूप में दे दिया जाता। अपने पास नहीं रखा जाता, ऐसा विधान था।

"बड़े राजा दिग्विजय करें, सब राजाओं से खूब धन रत्नादि प्राप्त करें और एक बड़ा यज्ञ करें तथा उसमें दूसरों से जो कुछ प्राप्त हुआ हो, उसमें अपने पास से कुछ और मिलाकर सारी संपत्ति दान कर दें। जिन राजाओं को जीता गया हो, उन सबको बुलाकर उनका आतिथ्य-सम्मान किया जाय और उनको घर पहुंचा दिया जाय।" उस समय की उस परम्परा का वर्णन युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में आया है। यही स्थिति फिर कालिदास ने 'रघुवंश' में चित्रित की है। सारी संपत्ति बांटते-बांटते राजा स्वयं दरिद्र हो जाते, यहांतक कि ऐसी अवस्था हो जाती थी कि किसीको दान करने का सामर्थ्य भी नहीं रह जाता था।

यह क्षत्रियों की गरिमा—महत्ता समझी जाती थी। रघु के सम्बन्ध में लिखते हुए कालिदास ने बिल्कुल यही चित्र उपस्थित किया है। "अकिंचनत्वंमखजं व्यनक्ति:"। इसमें कहा गया है कि रघु राजा यज्ञ में दिये दानादि के कारण निर्धन हो गया था। विभिन्न क्षत्रिय-कुलों के वंश-परम्परागत अपने राज्यों पर उनका हक अबाधित रहता था। युद्ध में उनकी श्री चली जाती, पराजित होने पर अपकीर्ति हो जाती और कर देना पड़ता। पराजय में अपमान और संपत्ति का व्यय ये दोनों श्री के जाने के लक्षण थे। भूमि अलबत्ता कोई किसीकी नहीं लेता था। आमने-सामने की लड़ाई में कोई राजा यदि मारा जाता, तो पराजित शत्रु को कैद कर लेने या मार डालने की प्रथा नहीं थी। इस प्राचीन परिपाटी को जरासंध ने उठाकर ताक पर रख दिया था। जरासंध के भय के कारण केवल यादव ही नहीं, दूसरे और राज्यों के राजाओं के भी अपना राज्य छोड़ने और दूसरी जगह राज्य स्थापन करने का उल्लेख सभा-पर्व में आता है। जरासंध मगध से मथुरा तक आया था, परन्तु हस्तिनापुर के राज्य को सताया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। जरासंध के सम्बन्ध में युधिष्ठिर को कोई जानकारी न हो, इस ढंग से कृष्ण को उसकी जानकारी देनी पड़ी थी। इससे दूसरी एक और बात की भी पुष्टि होती है। वह यह कि कृष्ण और पाण्डवों का सम्बन्ध द्रौपदी-स्वयंवर तक नहीं हुआ था। यदि वह हुआ होता, तो यह कथा कहने की जरूरत नहीं होती कि जरासंध के भय से यादव किस प्रकार से भाग खड़े हुए थे।

कृष्ण के मन में क्षत्रियत्व और क्षत्रियों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कुछ कल्पनाएं थीं। उनके अपने कुल को जरासंध ने जिस तरह से सताया था, उससे कृष्ण के मन में बड़ा रोष था। इसके साथ ही उसके रोष का एक कारण यह भी था कि जरासंध ने पूर्वोक्त क्षत्रिय-नीति का अनुकरण न करके एक सौ राजाओं को कैद करके उनकी बलि देने की तैयारी कर रखी थी। महाभारत में भिन्न-भिन्न कुल एक-दूसरे के सम्बन्ध में कैसे गुंथे हुए थे, यह इस प्रकरण में दिखाई देता है। चेदि-राज शिशुपाल यादव-वंश की एक लड़की का लड़का था। पाण्डवों से

कृष्ण का जो नाता था, वही शिशुपाल से भी कृष्ण का था। परन्तु शिशुपाल कुछ अन्य कारणों से कृष्ण का शत्रु और जरासंध का मित्र हो गया था। कृष्ण की योजना में शिशुपाल का वध करना नहीं था। हां, जरासंध-रूपी कांटा निकालना वह जरूर चाहते थे; और उसके मौके की तलाश में भी थे। जरासंध को मारकर उसकी जेल से राजाओं को मुक्त करने तथा क्षत्रियों से पूर्वापर सम्बन्ध फिर वैसे ही स्थापित करने को वह एक महान कार्य मानते थे। क्षत्रिय-समाज-विषयक उनके जीवन की यह एक महत्त्वाकांक्षा थी।

इस सारे प्रपंच में कृष्ण को कोई व्यक्तिगत लाभ हुआ दिखाई नहीं देता। यह सारी राजनीति कुल के लिए और कुल मिलाकर तत्कालीन राजकीय सम्बन्धों के लिए थी। तो क्या कृष्ण की अपनी कोई आकांक्षा थी ही नहीं? शूरवीर और पराक्रमी होकर भी, अर्जुन की तरह छोटा भाई होने से, वह स्वतः राजा नहीं हुए थे। एक बार यदि उन्होंने राज-कार्य संभाल लिया होता, तो उससे बड़े बेटे को राजगद्दी देने की रूढ़ी खत्म हो गई होती और यादवों में बराबर झगड़े शुरू होने लगते। इस-लिए उन्होंने जान-बूझकर अपने लिए नीचे का दर्जा स्वीकार किया था। परन्तु भले ही वह राजा न बन सके, तो भी कृष्ण की एक दूसरी महत्त्वा-कांक्षा जरूर थी। और वह महाभारत में स्पष्ट दिखाई देती है। वह थी 'वासुदेव' होने की।

वासुदेव होने का तात्पर्य क्या है, यह ठीक से समझ में नहीं आता। पुराणों में ऐसी कथा आती है कि 'कृष्ण-वासुदेव' विष्णु का अवतार है और वह अपना अवतार-कार्य पूरा करके स्वधाम को चले गये। उस कथा को सब लोग जानते हैं। 'कृष्ण-वासुदेव' अपने जीवन-भर ईश्वर के रूप में रहे। उन्होंने दैवी चमत्कार किये और हम यही मानकर चलते हैं कि अपने समय में वह ईश्वर, देव, माने गये थे। परवर्ती संस्कृत लेख भी यही बतलाते हैं। मराठी, हिन्दी, गुजराती में भी कृष्ण-चरित के रस-भरित आख्यान, कथाएं तथा उनपर आधारित नाटक आदि हैं। उनसे कृष्ण-विषयक यही भावना दृढ़ होती है। परन्तु महाभारत को पढ़ते हुए एक आश्चर्यजनक धक्का लगता है। कृष्ण को असामान्य मानव—

लेकिन मानव ही के रूप में महाभारत में चित्रित किया गया है। यह कोई नई बात नहीं मालूम होती है। परन्तु अपनेको 'वासुदेव' कहलाने का उनका प्रयत्न, दूसरे और किसीके द्वारा उनका उपहास किये जाने पर अपना 'वासुदेवत्व' टिकाने के लिए उसे मार डालना, इन दो बातों के उल्लेख से मन चक्कर में पड़ जाता है।

महाभारत द्वारा इस रहस्य का कोई पता नहीं चलता। जैनियों की वासुदेव-कल्पना में काल-चक्र को चौबीस भागों में बांटा गया है। उसमें बारह भाग उत्सर्पिणी (ऊपर चढ़ने की) और बारह भाग अवसर्पिणी (नीचे उतरने की) अवस्था मानते हैं। नीचे से ऊपर जाने की अवस्था में सभी जीव अधिकाधिक अच्छे मूल्यों की ओर बढ़ते हैं। अवसर्पिणी में उनकी अधोगति होती रहती है। इस कालचक्र के विभागों में नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेव निर्माण होते हैं। अवसर्पिणी में ही राम और कृष्ण ये दो वासुदेव हुए। सभी नौ वासुदेवों के माता-पिताओं के नाम भी दिये हैं। राम की माता केगमई व पिता दशरथ, कृष्ण की माता देवकी और पिता वसुदेव होने के कारण कृष्ण (कण्ह) पैतृक अर्थ में 'वासुदेव' थे। 'वासुदेव' अखिल त्रिखण्ड भरत चक्रवर्ती होते थे। राम के लिए बलदेव लक्ष्मण था, प्रतिवासुदेव रावण था। कृष्ण के लिए बलदेव बलराम था, प्रतिवासुदेव कंस था। सातवां वासुदेव गौतम-गोत्री, आठवां राम-दशरथी और नवां कृष्ण-वासुदेव। ये दोनों कच्छप गोत्री थे। सब वासुदेवों के अपने सात रत्न होते थे। वे हैं—चक्र, खड्ग, धनु, मणि, माला, गदा व शंख। कृष्ण के पास भी चक्र, खड्ग, कौमोदकी गदा, वैजयन्ती माला, स्यमन्तक मणि तथा शार्ङ्ग धनु थे। 'अभावोनत्थि वासुदेवाणाम्'; वासुदेवों को किसी बात की कमी नहीं रहती। हिन्दुओं की कल्पना के अनुसार, इस वाक्य को लें तो, 'वासुदेव' पूर्ण, सगुण, सर्वगुण-संपन्न—पुरुषोत्तम, ऐसा अर्थ लगाया जा सकता है। और भी दो बातें कही गई हैं। एक 'अवगुणं न गिह्लन्ति' अर्थात् कितनी ही तुच्छ व भयंकर बात हो तो भी उसमें उन्हें कुछ-न-कुछ अच्छा ही दीखता है। इस गुण को 'अभावो नत्थि' का पूरक समझना चाहिए। दूसरा 'नीएण

जुज्झेण न जुज्झन्ति'—नीचे खड़ा रहकर नहीं लड़ते। इसे उनके रथित्व का निदर्शक समझना चाहिए।

इस सारी कल्पना में कुछ सनातन कल्पना, कुछ बौद्ध सम्प्रदाय की कल्पना और कुछ ईसाई कल्पना देखी जाती है। सतयुग से कलयुग तक चतुष्पाद धर्म का एक-एक पांव टूटता जाता था। यह कल्पना अवसर्पिणी कालचक्र में आती है। वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि एक-एक कालखण्ड के प्रतिनिधि की कल्पना हमारी मनु की कल्पना के अनुसार है। पूर्ण पुरुष की कल्पना—दशावतार (नौ वासुदेव) की कल्पना हमारे यहां है। वासुदेव, प्रतिवासुदेव यह कल्पना ईसा प्रतिईसा (क्राइस्ट-एंटीक्राइस्ट) की कल्पना से मिलती है। 'अवगुणं न गिह्लन्ति', यह कल्पना बौद्ध साहित्य में बार-बार आती है। यदि हम इस प्रश्न में उतरेंगे कि यह कल्पना कहां से आई तो यह कृष्ण-चरित एक ओर ही धरा रह जायगा। इतना अलबत्ता मालूम होता है कि महाभारत में वासुदेव का और पुरुषोत्तम का उल्लेख इस तरह आता है, जिससे यह मालूम होता है कि वह कृष्ण की एक महत्वाकांक्षा थी। ऐसा लगता है कि 'वासुदेव' के कुछ चिह्न होते थे। परन्तु इस कल्पना का ठीक-ठीक समाधान नहीं होता। भारत का वैचारिक धन कथा, कल्पना, मूल्य, तत्त्वज्ञान (सिद्धान्त), धर्म ये सब विभिन्न प्रकार से और विभिन्न स्रोतों से आये हैं। उनका अध्ययन केवल तत्त्वशोधन की दृष्टि से ही होना आवश्यक है।

महाभारत में जिन विषयों का अधूरा उल्लेख है और जो अत्यन्त कुतूहल-कारक विषय हैं, उनमें वासुदेव भी एक है। ऐसा लगता है, उस समय तीन व्यक्ति वासुदेव बनने की मनीषा रखते थे। एक वसुदेव का पुत्र वासुदेव कृष्ण, दूसरा शिशुपाल और तीसरा पौण्ड्र देश का राजा। शिशुपाल के जन्मतः ही चार हाथ थे। इनमें से दो तो कृष्ण के दृष्टिपात-मात्र से गल पड़े थे। पर बाद में उसने वासुदेव बनने का प्रयत्न किया हो, ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु यह जरूर मालूम पड़ता है कि उसकी कृष्ण से भयंकर शत्रुता थी। पौण्ड्र देश का राजा भी अपनेको 'वासुदेव' कहलाता था। स्वयं कृष्ण कहते हैं कि "यह पौण्ड्र मेरे चिह्न धारण करता है।" पौण्ड्र पर चढ़ाई करके कृष्ण ने उसको युद्ध में मार डाला। उसका कारण क्या यह

तो नहीं था कि वह अपनेको 'वासुदेव' कहलाता था ! यह तो स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं बताया गया है कि 'वासुदेव' होने से तात्पर्य क्या है। परन्तु जब कृष्ण की वासुदेव बनने की उखाड़-पछाड़ देखते हैं, तो इस बात में कोई शंका नहीं रह जाती कि इसमें कोई विशेष बात अवश्य है। कृष्ण किसी भी राज्य के राजा नहीं थे—सम्राट् होना तो दूर रहा। परन्तु 'वासुदेव' अवश्य थे। भगवद्गीता में कृष्ण स्वयं कहते हैं—"वृष्णीनां वासुदेवोऽहम्।" वसुदेव की अनेक पत्नियां थीं और उन्हें बलराम, सारण आदि पुत्र भी थे। परन्तु क्या बात है कि अकेले कृष्ण ही अपनेको वासुदेव कहलवाते थे। प्रत्येक पुत्र का नाम उसकी माता के नाम पर से पड़ता था जैसे—रोहिणेय, कौन्तेय, माद्रेय, आदि। यद्यपि ये जुदा-जुदा पत्नियों से थे, फिर भी पिता तो सबके एक ही थे। अतः पैतृक नाम तो सबका एक-सा होना चाहिए। जैसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि कौन्तेय थे और नकुल-सहदेव माद्रेय। परन्तु पाण्डु के पुत्र होने के कारण पांचों पाण्डव कहलाते थे। उसी तरह असल में तो वसुदेव के सभी पुत्रों की संज्ञा 'वासुदेव' होनी चाहिए, परन्तु वह केवल कृष्ण की ही दिखाई देती है। अर्थात् वासुदेव कोई पैतृक नाम न होकर किसी विशेष अधिकार को सूचित करता है और उस अधिकार से युक्त व्यक्ति ही यह पदवी अपने-को लगा सकता था। जिस प्रकार राजसूय-यज्ञ करनेवाले व्यक्ति को 'सम्राट्' की पदवी प्राप्त होती थी और एक ही समय में राजसूय-यज्ञ किये हुए दो व्यक्ति नहीं रह सकते थे, उसी तरह इस वासुदेव पदवी में भी कुछ अर्थ सन्निहित होना चाहिए। अनेक राजा 'वासुदेव' कहलाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु सचमुच तो यह पदवी एक ही व्यक्ति धारण कर सकता था।

कृष्ण के वर्णन में एक बात प्रमुख रूप से सामने आती है। चकाचौंध कर देनेवाला दैवी तेज और असामान्य वैभव उनके पास था। उनका रथ, उनके घोड़े और वह खुद कहीं भी होते, तो लोगों की आंखें चौंधिया जाती थीं। वह रत्न और सम्पत्ति के स्वामी थे। 'वासुदेव' शब्द में भी यह अर्थ ध्वनित होता है। वसु का अर्थ है सम्पत्ति—समृद्धि। देव शब्द तेजस्विता और अतिमानुषता का द्योतक है। महाभारत में स्थान-स्थान

पर ऐसे प्रसंगों का वर्णन है कि कृष्ण को देखकर लोग चकाचौंध रह गये। वासुदेव के सम्बन्ध में ऐसा चित्र सामने आता है कि वह व्यक्ति सब ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी हो। कृष्ण का यह दावा था कि मैं ऐसा व्यक्ति हूं और सब लोग मुझे इस कोटि का मानें भी, ऐसी उनकी अभिलाषा भी दिखाई देती है।

बौद्ध साहित्य में कृष्ण-वासुदेव (कण्ह-वासुदेव) को देवगब्भा और अंधक वण्ही का पुत्र बताया गया है। पिता का नाम वसुदेव नहीं दिया गया है। इससे भी ऐसा जान पड़ता है कि वासुदेव कोई पैतृक नाम नहीं, बल्कि एक प्रकार की अधिकार-सूचक पदवी होनी चाहिए। जैन-संप्रदाय में वासुदेव की कल्पना को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। जैन-सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म के पहले का है। महाभारत-युद्ध के पहले भी जैन अथवा वैसा ही कोई पंथ होना चाहिए। उनके सम्प्रदाय के अनुसार दैवी सामर्थ्य, पुरुषार्थ और पराक्रम रखनेवाले वासुदेव पदवी को प्राप्त व्यक्ति प्रत्येक काल-खण्ड में होते थे। वासुदेव पदवी के योग्य कौन है और किन विशेष-ताओं से यह पद प्राप्त हो सकता है, इसका स्पष्ट वर्णन क्या जैन वांग्मय और क्या महाभारत, कहीं भी, नहीं किया गया है। अलबत्ता इसमें संदेह नहीं कि श्रीकृष्ण ने यह पद प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल का उद्योग किया और उसके जीवन में यदि कोई आकांक्षा थी, तो वह 'वासुदेव' बनने की थी। अर्थात् 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं' कहनेवाले कृष्ण के मन में स्वयं अपने-अपने कुल के और समाज के विषय में कुछ आकांक्षा और ध्येय थे, और उन्हें सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई बात उठा नहीं रक्खी, यह स्पष्ट है।

भीम ने जरासंध का वध किया। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में कृष्ण को अग्रपूजा का सम्मान मिला। इसी निमित्त शिशुपाल का वध भी हुआ। इनसब घटनाओं के बाद पाण्डवों का आतिथ्य लेकर और सबसे विदा होकर कृष्ण द्वारका लौट आये। प्राण-भय से छिपकर जंगल-जंगल भटकनेवाले पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में दिग्विजयी होकर सम्राट-पद पर सुशोभित हो गये। पाण्डवों के जीवन का यह विजय का क्षण कृष्ण के जीवन का भी परमोच्च बिन्दु था। सामाजिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक

सभी महत्वाकांक्षाएं, जहांतक श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है, इस क्षण में पूर्ण हो गईं। यादव द्वारका में स्थिर हो चुके थे। इन्द्रप्रस्थ में पाण्डव और हस्तिनापुर में कौरव, इन दोनों कुलों को यादवों का नाता और स्नेह प्राप्त था। शिशुपाल की गद्दी पर उसका पुत्र बैठा हुआ था और वह कृष्ण के अनुकूल था। जरासंध के पुत्र को अभयदान देकर जरासंध की गद्दी पर बिठा दिया गया था। परस्पर तुल्य बल रखनेवाले राजा लोग एक-दूसरे के पड़ोस में शान्ति से रह रहे थे। यादवों की दृष्टि से, उनके प्रतिस्पर्धी नहीं-से रह गये थे। पड़ोस में मित्र-राज्य स्थापित हो गये थे। इसमें भी विशेष बात यह थी कि कृष्ण के शौर्य और बुद्धिमत्ता की छाप सबपर बैठी हुई थी। कुछ थोड़े-से असंतुष्ट लोगों को छोड़ दें, तो कृष्ण का वैयक्तिक महत्व सबको मान्य था। सार्वजनिक दृष्टि से इस मान्यता पर अग्रपूजा के समय पक्की मुहर लग गई। राजा न होकर भी, वय में सबसे बड़े न होने पर भी, क्षत्रियों की सभा में कृष्ण को यह मान—गौरव मिला था। इतना होते हुए भी अब भी एक राजा बचा हुआ था, जो अपने-आपको 'वासुदेव' कहलाना चाहता था। उसे मार डालना कृष्ण के लिए कठिन नहीं था। इस तरह यद्यपि कृष्ण को वासुदेवत्व सर्वथा प्राप्त न हो पाया था, तो भी वह हस्तगत जैसा ही था। कृष्ण के सब हेतु सिद्ध हो गये थे। वह कृतकृत्य हो गये थे। परवर्ती कथा-भाग से ऐसा मालूम होता है कि इन्द्रप्रस्थ से रवाना होने के बाद कृष्ण लगेहाथ अपने शेष बचे हुए शत्रुओं से निबटने में लग गये थे।

सारे जीवन-भर जिसे प्राप्त करने के लिए दौड़-धूप की, जिस स्वप्न को संजोया, वह मूर्तिमान हो गया। परन्तु वह सफलता क्षण-जीवी साबित हुई। बड़े प्रयास से खड़ी की हुई इमारत अनपेक्षित रूप से युधिष्ठिर की नादानी से एक क्षण में भूमिसात् हो गई। श्रीकृष्ण के साध्य व्यापक थे, तो भी वे पाण्डवों की वैयक्तिक महत्वाकांक्षा से जुड़े हुए थे। पाण्डवों का सुप्रतिष्ठित होना श्रीकृष्ण के साध्य के लिए आवश्यक था। पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ में रहकर यदि उनका और धार्तराष्ट्रों का मनमुटाव हुआ होता, तो भी कृष्ण के उद्देश्य को कोई हानि न हुई होती। परन्तु

धर्मराज की करतूत के कारण सारा किया-कराया चौपट हो गया, सारे इरादे धूल में मिल गये। कृष्ण का वासुदेवत्व कायम रहा, वैयक्तिक महत्ता भी रह गई, परन्तु शेष सब स्वाहा हो गया।

धर्मराज के राजसूय-यज्ञ के समय सब क्षत्रिय-वंशों में जो एक संतुलन बन गया था, वह इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाण्डवों के हाथ से निकल जाने के बाद, बिगड़ गया। इस समय कृष्ण के मित्र-प्रेम की कसौटी हो गई। पाण्डवों ने अपनी नादानी से सारा राज्य खो दिया। इसका अर्थ इतना ही हुआ कि जो राज्य आधा बांटकर पाण्डवों को दिया गया था, वह फिर हस्तिनापुर के राज्य में मिल गया। पाण्डवों ने अपने ही हाथों अपना नाश कर लिया। 'अब जो हो गया, उसका क्या इलाज', यह कहकर कृष्ण चुप रह सकते थे। कौरव भी उनके मित्र ही थे। द्यूत के निमन्त्रण को क्षत्रिय 'ना' नहीं कह सकते थे, ऐसा धर्मराज का दावा था। उसे सही मान लें, तो भी पत्नी-समेत सर्वस्व दांव पर लगाना निश्चित रूप से उचित नहीं था। सारी द्यूत-क्रीड़ा में पासा एक बार भी भूलकर धर्मराज के पक्ष में नहीं पड़ा, यह देखते हुए भी धर्मराज को एक बार भी ऐसा न लगा कि यह खेल सच्चाई से नहीं हो रहा है! यह एक आश्चर्य है! मानो धर्मराज किसी नशे में धुत्त होकर जुआ खेल रहे थे। ऐसे नादान मित्र को श्रीकृष्ण ने छोड़ दिया होता, यह कहकर कि 'तकदीर तुम्हारी'; कृष्ण खामोश रह गये होते, तो भी उनकी राजनैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक योजना स्थिर रही होती। वह यह भी कह सकते थे कि "हम यादव भी तो अपनी जन्मभूमि छोड़कर भागे थे और दूसरी जगह राज्य स्थापित कर लिया था, वैसे ही तुम लोग भी दूर दूसरी जगह जाकर ऐसा ही कर लो। इन कौरवों के पड़ोस—निकटता को ही नमस्कार कर लो। मैं तुम्हारी मदद करूंगा।" पाण्डवों के बनवास में जाने पर कृष्ण उनसे मिलने गये थे। तब जो कुछ हो गया उसके सम्बन्ध में उनकी तीव्र निराशा और सन्ताप व्यक्त हुआ था। उन्होंने बार-बार यह कहा था "यदि मैं होता तो यह जुआ कदापि नहीं खेलने देता।" फिर भी इस कठिन प्रसंग पर वह अपनी मित्रता को नहीं

भूल गये। वह पाण्डवों के पक्ष में अडिग खड़े रहे। वनवास और अज्ञात-वास से तो छुटकारा था नहीं, किन्तु पाण्डवों के बाल-बच्चों की व्यवस्था उन्होंने पांचालों की सहायता से, अच्छी तरह निबाही। पाण्डवों के वनवास से लौटने पर उन्होंने लड़ाई न होने देने और किसी तरह का समझौता कराने में अपनी सारी ताकत लगा दी—पराकाष्ठा ही कर दी। दुर्योधन की सभा में समझौते का प्रयत्न विफल होने पर, द्रौपदी का लोभ देकर भी, उन्होंने कर्ण को फोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने समझौते के समय अपने मित्रों की ओर से आधा राज्य न मांगते हुए, "कुछ थोड़ा ही दे दो" ऐसा मांगने की दीनता दिखाई। परन्तु उनकी सब कोशिशें बेकार गईं। बलराम की तरह वह भी कह सकते थे कि तुम आपस में भले ही लड़ते-झगड़ते रहो, मैं अब तुम सब लोगों से अलग रहूंगा। परन्तु ऐसा न करते हुए वह फिर अपने मित्रों के पक्ष में डटे रहे। इन सब प्रकरणों में कृष्ण की मैत्री की दृढ़ता दिखाई पड़ती है। उनके मित्र पाण्डवों ने, कुछ दूसरों के अन्यायों से व कुछ अपने गुणों और करतूतों से, सर्वस्व गंवा दिया था। उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कृष्ण सन्नद्ध थे। हां, अलबत्ता यह नहीं कहा जा सकता कि इसके सारे दूरवर्ती परिणाम उनकी निगाह में आ गये थे। फिर भी कुछ परिणाम तो उन्हें दिखाई देते ही थे। यद्यपि ऊपर कहे अनुसार बड़े प्रयत्न और दूरदर्शिता से जो व्यवस्था जमाई गई थी, उसे उनके इन जल्दबाज, शूरवीर किन्तु अदूरदर्शी मित्रों ने छिन्न-भिन्न कर दिया था। उनके प्रति उन्होंने क्रोध में कुवाच्य भी कहे, फिर भी उन्होंने खोई वस्तु को पुनः प्राप्त करने में सहायता ही दी।

कृष्ण ने लड़ाई के लिए तैयार करने हेतु अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसके वाक्य पूर्वोक्त सन्दर्भ में पढ़ने से उनका एक भिन्न ही अर्थ निकलता है। कृष्ण के जीवन-मूल्यों पर, जीवन-विषयक दृष्टिकोण पर, एक जुदा ही प्रकाश पड़ता है। कृष्ण का हेतु तो पाण्डवों को राज्य मिलते ही पूर्ण हो गया था। वह विचार-पूर्वक खुली आंखों से यह सब कर्म कर रहे थे। उन्हें स्वयं अपना कोई प्रयोजन सिद्ध करना बाकी नहीं था। उनकी श्री-सम्पत्ति में, कीर्ति में, कोई नई वृद्धि होनेवाली नहीं

थी। कुछ विषयों में तो सर्वस्व-हानि ही हो गई थी। फिर भी कर्तव्य समझकर वह युद्ध के लिए तैयार हुए। उससे अर्जुन को तो कुछ भले ही मिलनेवाला था, पर कृष्ण के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ सकता था। 'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'। कृष्ण इस युद्ध में मारे जानेवाले तो थे नहीं, और युद्ध में जीत होने पर न उन्हें राज्य ही मिलने को था। उनका सारा हेतु निरपेक्ष और स्वार्थ-शून्य संघर्ष था। वह मित्र-कार्य कर रहे थे। उनकी दृष्टि से अपने मित्रों का पक्ष न्याय-युक्त था। साथ ही, दुर्बल भी था। यों पाण्डव और पांचाल शूरवीर थे। खुद जो-कुछ वे गंवा बैठे थे, उसे प्राप्त करने के लिए वे जी-जान से लड़ रहे थे। ये सब बातें सच थीं। फिर भी कौरवों की सेना पाण्डवों की सेना से कहीं अधिक, डेढ़ गुनी से ज्यादा थी। लेकिन कृष्ण की राजनैतिक कुशलता से पाण्डव बच गये।

इस युद्ध की बदौलत एक बहुत बुरी बात हो गई। कृष्ण सबको संभालकर चलते थे। इस कारण यादवों की आपसी फूट ढंकी रही थी। यों यादवों में भी भिन्न-भिन्न गुट व पक्ष तो थे ही। परन्तु कृष्ण ने स्पर्धा और वैमनस्य पर लगाम चढ़ा रक्खी थी। इस युद्ध के कारण वे पक्ष खुलकर सामने आ गये। कृष्ण और उनके साथ सात्यकि आदि उनके मित्र पाण्डवों के पक्ष में थे। उधर कृतवर्मा और भोज दुर्योधन का साथ दे रहे थे। बलराम किसीका भी पक्ष न लेकर यात्रा को बाहर चले गये थे। यादवों में खुल्लम-खुल्ला दो दल हो गये। यादवों की ऊपर से जुड़ी हुई दिखाई देनेवाली शृंखला इस बहाने टूट गई। पुराने वैमनस्य में नये ईर्ष्या-द्वेष की और वृद्धि हो गई और महाभारत-युद्ध में यादवों के अन्त के बीज पड़ गये। यह तो नहीं कह सकते कि यादवों का अन्त श्री-कृष्ण को दिखाई दे गया था, परन्तु उनकी फूट उनकी आंखों के सामने स्पष्ट हो गई थी। इसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं होगा इतना समझने की प्रज्ञा उनके पास अवश्य थी। इतना होने पर भी जब वह लड़ाई के लिए खड़े हुए, उस समय गीता का प्रत्येक श्लोक जो उन्होंने अर्जुन को सुनाया था, खुद उनपर भी चरितार्थ होता था। श्रीकृष्ण का इस युद्ध में पड़ने का प्रसंग, कुछ दृष्टियों से, उनके जीवन का एक बड़े त्याग का क्षण

समझना चाहिए। अपनी आकांक्षा को धूल में मिलते देखते हुए मित्रों की ओर न्याय की रक्षा के लिए वह डटकर खड़े रहे। इसे पागलपन कहें या महानता कहें ?

कुछ लोग कहते हैं कि महाभारत में भिन्न-भिन्न अवसरों पर कृष्ण ने पाण्डवों को जो शिक्षा दी है, उसमें उनकी कपट-नीति दिखाई पड़ती है। कृष्ण अत्यन्त प्रज्ञा-सम्पन्न और सदैव जागरूक रहनेवाले व्यक्तियों में थे। उस समय के नीति-धर्म के अनुसार वह आंखें खोलकर चल रहे थे। उन्हें जो आचार-व्यवहार अतिशय गर्ह्य मालूम हुए थे, उनको समूल नष्ट करने के लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े संकट मोल लिये। केवल तीन व्यक्तियों को साथ लेकर अकेले भीम के बल पर जरासंध के यहां पहुंचकर उसका वध करने की सलाह में युक्ति तो थी, परन्तु जबर्दस्त साहस भी था। जरासंध की सेना से आमने-सामने युद्ध करना सम्भव नहीं था। उसके हमले से भागते हुए यादवों को नानी याद आ गई थी। जरासंध स्वयं बड़ा निष्णात और बलशाली योद्धा था। फिर भी उस अकेले से युद्ध में लड़ा जा सकता था। भीमसेन की शक्ति और मल्लयुद्ध की निपुणता पर कृष्ण को विश्वास था। उतना ही उन्हें अर्जुन की तथा खुद अपनी शस्त्र-विद्या पर भी था। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इतनी दूर जाकर द्वन्द्व-युद्ध की मांग करना मामूली साहस की बात नहीं थी। युद्ध के दौरान जरासंध के थकने पर उन्होंने भीम को यह संकेत अवश्य किया कि थकने के कारण जरासंध को विश्राम लेने का अवसर मत दो। परन्तु इसमें छल-कपट कहां था ? भीम निश्चित रूप से जरासंध की अपेक्षा बलवान था और उसने सीधी लड़ाई में जरासंध को मार डाला। युद्ध शुरू होने से पहले कृष्ण ने जरासंध से मांग की थी कि जिन राजाओं को तुमने कैद कर रक्खा है, उन्हें छोड़ दो। उसे जरासंध ने ठुकरा दिया, तो फिर दूसरी शर्त रक्खी कि हममें से किसीसे भी लड़ लो। यह सब सरल व्यवहार ही था। उसी प्रकार रुक्मिणी को भगा ले जानेवाली बात भी तत्कालीन राजनीति के बिल्कुल अनुकूल थी। भीष्म काशिराज की कन्याओं को स्वयंवर-मंडप से भगा ले आये थे। रुक्मिणी कोई शिशुपाल की वाग्दत्ता वधू नहीं थी।

उसके भाई के मन में कुछ भी रहा हो, परन्तु जब एक बार स्वयंवर की तैयारी कर ली तो कन्या का हरण करना, और संभव हो, तो ऐसा कर गुजरना तत्कालीन क्षात्र-धर्म के अनुकूल था। शिशुपाल का तीसरा आक्षेप था कि कृष्ण राजा नहीं है। यह एक बेकार की बात थी। अर्जुन ने जब द्रौपदी को स्वयंवर में जीता तो वह कहां का राजा था ? बल्कि उसके बड़े भाई के जीवित रहने के कारण अर्जुन के राजा होने की संभावना भी नहीं थी। शिशुपाल जिस मुंह से कृष्ण को तुच्छ बताने के लिए कह रहा था कि "वह राजा नहीं है" उसी मुंह से कहता था कि 'भीष्म को अग्रपूजा का मान दो'। भीष्म भी तो राजा नहीं था। शिशुपाल कृष्ण का प्रतिस्पर्धी था और जरासंध का एक प्रमुख सेनापति भी था। कृष्ण ने प्रत्येक दांव पर उसको मात दी थी, इसलिए वह उनसे बहुत चिढ़ता था। उसके आरोपों में कुछ सच्चे तो कुछ झूठे भी थे। भीष्म तथा कृष्ण के विषय में कुछ थोड़े-से लोगों का क्या मत था, यह शिशुपाल के मुंह से कहलाया गया है। कृष्ण के कार्यों की छानबीन करने से यह नहीं कह सकते कि शिशुपाल ने जिन कार्यों को दोषास्पद ठहराया, वे वैसे ही थे। शिशुपाल का वध अलबत्ता कुछ दोषास्पद मालूम होता है। वध के योग्य तो वह था ही। परन्तु आवेश में बोलते हुए भरी सभा में कृष्ण ने चक्र फेंककर उसे मार डाला, यह कृत्य पाठकों को खटके बिना नहीं रह सकता। पर यह सच है कि ऐसा किये बिना कोई चारा भी नहीं था। सारा राजसूय-यज्ञ समाप्त हो गया था। आगत राजाओं का सम्मान करके उनको विदा करने का ही काम बाकी रहा था। पाण्डवों ने भीष्म के आगे करके कृष्ण को अर्घ्य देने की तजबीज की थी। शिशुपाल ने उठकर इस कार्य में आपत्ति उठाकर अडंगा लगा दिया। पर बात बढ़ गई। राजा लोगों में खलबली शुरू हो गई। शिशुपाल युद्ध की बातें करने लगा। ऐसे समय यदि मण्डप के बाहर जाकर लड़ाई चल पड़ी होती, तो बड़ा विघ्न पड़ गया होता। ऐसी दशा में अकेले शिशुपाल का लगेहाथ वध हो जाने से सब लोग भय और आश्चर्य से स्तब्ध रह गये। महाभारत में ऐसा वर्णन है कि कुछ राजा मन में कुड़बड़ाते और हाथ मलते रह गये। श्रीकृष्ण यदि इस प्रकार

शिशुपाल का वध न करते, तो राजसूय-यज्ञ का अन्त बहुत बुरा हुआ हुआ होता। क्रोधित शिशुपाल को मण्डप से बाहर जाने देना उचित नहीं था।

इस प्रसंग में एक-दो बातें, जो प्रमुख रूप से ध्यान में आती हैं; वे और समय भी आती ही हैं। (१) मनुष्य के जन्मते ही उसके स्वतः के आचरण और सामाजिक सम्बन्ध उसे एक घेरे में डाल देते हैं। वह ऐसे प्रसंगों में फंस जाता है, जिनपर खुद उसका कुछ वश नहीं होता और इस तरह वह कुछ-न-कुछ कार्य करता रहता है। भीष्म के बारे में हमने ऐसा ही देखा है। धृतराष्ट्र के विषय में तथा महाभारत के प्रत्येक पात्र के विषय में भी ऐसा ही होता चला गया है। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—ऐसा यह अनाकलनीय, समक्ष में न आने योग्य और अटल चक्र है। मनुष्य जहां एक बार उसमें फंसा तो फिर उसके कार्यों की एक निश्चित दिशा बन जाती है। प्रत्येक कार्य में उसे करने-न करने की स्वतन्त्रता रह ही नहीं जाती। ज्यों-ज्यों जीवन-मार्ग एक निश्चित दिशा में जाने लगता है, त्यों-त्यों यह स्वतन्त्रता कम होती जाती है। (२) जीवन में झूठ-सच, अच्छा या बुरा, इस प्रकार का इधर या उधर निर्णय शायद ही होता हो। कुछ बुरे, कुछ अच्छे, ऐसे मिले-जुले रूप के कार्यों में मनुष्य को चुनाव करना पड़ता है। सब दृष्टियों से ठीक, और सब दृष्टियों से बुरा, ऐसा निर्णय का अवसर कदाचित् ही मिलता है। इस कारण हमारा निर्णय कुछ भी हो, उसमें कुछ-न-कुछ बुराई का अंश आ ही जाता है। यदि बिल्कुल नाप-तौल करके देखें, तो प्रत्येक व्यावहारिक कार्य में कुछ-न-कुछ दोष रह ही जाता है। इसके अलावा नाप-तौल करनेवाला परीक्षक बहुधा विगत बातों पर ही निर्णय करता है। दो या तीन मार्गों में से किसका निर्णय लिया गया और उसका क्या परिणाम निकला, इसे वह देख सकता है। जो निर्णय लिया गया उसका क्या परिणाम निकला यह परवर्ती टीकाकार को ज्ञात होता है। परन्तु तो व्यक्ति प्रत्यक्ष अपने जीवन में, आन-बान के अवसर पर, दो में से किसी एक मार्ग को छोड़कर दूसरा मार्ग ग्रहण करता है, तो वह कितना ही बुद्धिमान व दूरदर्शी क्यों न हो, सम्पूर्ण

भविष्य-ज्ञान उसे नहीं हो सकता। उस व्यक्ति के सामने उसी प्रसंग का, उसी क्षण का धर्मसंकट रहता है। उसमें भी अपने निज के क्रोध, मोह और एक प्रकार की कर्त्तव्य-निष्ठा आदि विकार रहते ही हैं। स्वयं कृष्ण भी इन नियमों के अपवाद नहीं थे। वह भी स्वतः अपने किये कार्यों और निश्चित ध्येय के भंवर में पड़े हुए थे। धीर, वीर और विचारशील होने पर भी उनके अन्दर राग, प्रेम आदि विकार थे ही। जब किसी वक्त वह कोई काम करते या दूसरे को कार्य में प्रवृत्त करते, उस समय उनका जो चुनाव करना पड़ता वह उत्तम या मध्यम नहीं, बल्कि मिश्र और मध्यम प्रकार के कार्यों में से ही करना पड़ा है।

सारे महाभारत में उन्होंने जो मुख्य कार्य किये वे इस प्रकार हैं—

१. अर्जुन की सहायता से खाण्डव-वन का दाह
२. जरासंध-वध
३. शिशुपाल-वध
४. पाण्डवों की ओर से कौरवों से संधिवार्ता
५. द्रौपदी का लालच देकर कर्ण को फोड़ने का प्रयत्न
६. भीष्म को रथ से गिराने के लिए अर्जुन को समझाना।
७. द्रोण का धैर्य छुड़ाने के लिए अश्वत्थामा की मृत्यु की अफवाह फैलाना।

खाण्डव-दाह के विषय में पहले लिख ही चुके हैं। इस प्रकरण में नागों के वंशच्छेद और एक बड़े अरण्य को जलाने के दोनों कृत्य, आज की दृष्टि से विचार किया जाय, तो गलत मालूम होते हैं। परन्तु कृष्ण के समय में किसीने भी इसे गलत नहीं माना। कृष्ण के प्रत्येक कार्य की आलोचना करनेवाले शिशुपाल को भी यह गलत मालूम नहीं हुआ। परवंश के प्रति असहिष्णुता, और हो सके तो उनका विच्छेद ये बातें उस समय सारे जगत के लोग धड़ल्ले से करते थे। कृष्ण ने जो कुछ किया वह उस समय के, और क्षत्रिय वर्ण के अनुकूल था। यदि ऐसा न किया होता, तो वह अपने ही युग में असामान्य व्यक्ति न रह जाते, बल्कि देशकालातीत असामान्यत्व उन्हें प्राप्त हुआ होता। अपनी जमात

में जो नहीं थे, ऐसी सारी मानव-जाति के प्रति करुणा का गुण महाभारत-काल में था ही नहीं। उस समय के अन्य सुसंस्कृत देशों को भी उस गुण का पता नहीं था। होमर का 'इलियड' पढ़ने से भी यही अनुभव होता है। समग्र मानव-जाति के प्रति करुणा की प्रतीति भावी युग के पुरुषों को—बुद्ध और ईसा को हुई। भगवद्गीता में कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है, उसके जैसे-तैसे पहले तीन अध्याय ही मूल भगवद्गीता मालूम होती है। भगवद्गीता के अगले अध्यायों में जो जगन्मित्रत्व और विश्व के प्रति करुणा का वर्णन किया गया है, उन दो गुणों की गन्ध महाभारत में कहीं भी नहीं है।

'दयाभूतेषु', 'अहिंसा' ये शब्द महाभारत में आते तो हैं, परन्तु वहां अहिंसा का अर्थ प्राणियों को न मारना नहीं, परन्तु मित मात्रा में और और निश्चित नियमों के अनुसार मारना, ऐसा था। गीता के पहले और दूसरे अध्याय में 'कृपा' शब्द कुछ तुच्छ अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'कृपयाविष्ट' अर्जुन अथवा अर्जुन की 'कृपाविष्टता' क्षत्रियों के लिए अशोभनीय व्यवहार था। 'विषीदन्तम्' यह भी एक विशेषण क्षत्रियों के लिए अशोभनीय था। इस विषाद और करुणा के कारण ही तो अर्जुन के हाथ से शस्त्र गिर पड़े थे, आंखों से पानी बहने लगा था और रथ में बैठ गया था। इन तीनों बातों के लिए ही कृष्ण ने जो विशेषण लगाये हैं, वे विचार करने योग्य हैं। कृष्ण उसे 'कश्मल' कहते हैं। 'कश्मल' शब्द का अर्थ पाप अथवा कालिख किया जा सकता है। 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'—हे अर्जुन, इस आनबान के मौके पर तुम्हारे मन में यह क्या कायरता आई है? कृष्ण के ये वचन हैं। उसका यह कृत्य, कृष्ण के अनुसार 'अनार्यजुष्ठ, अस्वर्ग्य, अकीर्तिकर' है। आगे चलकर अर्जुन के इस कार्य को कृष्ण 'क्लैब्य' कहते हैं। उसके मन की करुणा को 'क्षुद्र-हृदय दौर्बल्य' कहते हैं। कृष्ण की यह मीमांसा महाभारत-काल में सभी क्षत्रियों के मानस के अनुकूल थी। वह अर्जुन से कहते हैं "अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यंति तव" तथा "आज नहीं तो कल मरना ही है। सीधा सामना करके मरो। कर्म-जन्य और जाति-धर्म के अनुसार अपने कर्तव्य करने का ही तुझे अधिकार है। उन

कर्मों का फल अच्छा मिलेगा या बुरा, इसकी चिन्ता करने का तुझे अधिकार नहीं है। फल-आशा मत रखो। कर्तव्य समझकर कर्म करो।" ऐसा वह कहते हैं। यह उस समय की, महाकठिन और अपने तथा दूसरे के प्रति करुणा का लेशमात्र न रखनेवाली नीति थी। उसके अनुसार क्षत्रिय पुरुष ही नहीं, गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदी-जैसी क्षत्रिय स्त्रियों ने भी वैसा ही व्यवहार किया।

जरासंध-वध के विषय में ऊपर कह ही चुके हैं। कृष्ण ने जरासंध-वध आंखें खोलकर करवाया; इसमें आलोचना करने जैसा कुछ नहीं था। शिशुपाल-वध की घटना अटल थी। कृष्ण ने क्रोधावेश में उसका वध किया, यह जितना सच है उतना ही यह भी सच है कि महाभारत की कथा की दृष्टि से उस समय उसे ऐसा ही करना चाहिए था। पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने का उत्तरदायित्व कृष्ण पर था। इसी कारण वह भिन्न-भिन्न कार्यों में लिप्त होते चले गये। बात का बतंगड़ होने देना और यज्ञ-मण्डप में ही युद्ध मोल ले लेना सम्भव नहीं था। इसलिए शिशुपाल को वहीं एकाकी, दूसरे राजाओं के आगे बढ़ने से पहले, मारना आवश्यक था। एक प्रकार से शिशुपाल अपने होश में नहीं था। फिर वह निमन्त्रित मेहमान था। उसे इस तरह मारना उचित नहीं था। पर उसने भी मेहमान की मर्यादा का पालन कहां किया? अपने यजमानों का, भीष्म जैसे वयोवृद्ध का अपमान करके शिशुपाल ने अपने शत्रु को गालियां देने का मौका देखा। तब यह कैसे कह सकते हैं कि कृष्ण ने निरपराध व निरीह मनुष्य को मार डाला। एक बार आगे बढ़ने की शुरुआत हो गई तो फिर उसका प्रत्युत्तर ठीक उसी तरह, जैसे को तैसा, दिया जा सकता था। पर वह संभव नहीं था। शिशुपाल ने गालियां दीं, व्यर्थ अपमान किया, उसका बदला उसे गाली देकर लिया जा सकता था। पर बदले में कृष्ण ने उसे मारकर बदला चुकाया। इस बदले को 'अति' कह सकते हैं। परन्तु दूसरी ओर यदि राजा लोगों में झगड़ा खड़ा हो जाता, तो उससे बहुत बड़ा रक्तपात हो सकता था। वह अकेले शिशुपाल-वध से टल गया, यह भी ध्यान देने योग्य बात है।

पाण्डवों के वनवास से लौटने पर जो-जो मन्त्रणाएं हुईं, उनमें कृष्ण का भाग कम नहीं था; और वह भी सब तरह योग्य ही था। संधिवार्ता के समय भी झगड़ा मिटाने में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रक्खी। लेकिन जब दुर्योधन ने उत्तर दे दिया कि "आधा राज्य नहीं, पांच गांव भी नहीं, सुई के अग्र-भाग जितनी जमीन तक नहीं दूंगा।" तब युद्ध के सिवा कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। कौरवों के दरबार से कृष्ण बच निकले। उन्होंने जाते-जाते रास्ते में कर्ण को अपने रथ में बैठाया और पाण्डवों के पक्ष में मिल जाने के लिए उसे समझाया। दुर्योधन ने जिस तरह यह प्रयास किया कि कृष्ण को पकड़ लेने से पाण्डवों के लिए लड़ना अशक्य हो जायगा, वैसे ही कृष्ण का यह प्रयास था कि यदि कर्ण दुर्योधन से अलग हो जाय, तो दुर्योधन पाण्डवों की मांग को ठुकरा नहीं सकेगा। सारे उद्योग-पर्व में यही शह-मात-शह का का खेल चल रहा था। दुर्योधन का प्रयत्न उद्दण्डतापूर्ण था। कृष्ण उससे बच गये और दुर्योधन का प्रयास विफल हो गया। कृष्ण की कोशिश बिल्कुल इसके विपरीत बड़ी चतुराई की थी; परन्तु कर्ण की दुर्योधन-भक्ति और व्यथित स्वाभिमान के मुकाबले वह भी विफल हो गई। कृष्ण ने कर्ण से कहा—"कर्ण, तुम कुन्ती के कुमारावस्था के पुत्र हो। शास्त्र के अनुसार तुम उसीके पुत्र हो जाते जिससे कुन्ती ने विवाह किया है। अर्थात् पिता की ओर से तुम पाण्डव और माता की ओर से वृष्णि-कुल के हो। मेरे साथ चलो। पाण्डवों को यह मालूम होने दो कि तुम कुन्ती के पुत्र और युधिष्ठिर के बड़े भाई हो। मैं राजा के रूप में तुम्हारा अभिषेक करा देता हूं। पाण्डवों में तुम छठे पुत्र होगे, अतः द्रौपदी भी तुम्हारी हो जायगी। 'षष्ठे च त्वां तथा काले द्रौपद्युपगमिष्यति'। धर्मराज तुम्हारे युवराज होंगे। भीम तुम पर चंवर डुलावेगा। अर्जुन तुम्हारा सारथी होगा। वृष्णि और पांचाल तुम्हारे सेवक होंगे। वसुषेण के नाम से तुम्हारी दुहाई फिर जायगी। कृष्ण ने इस जगह कर्ण का पालने में रखे गए नाम 'वसुषेण' का उच्चार किया। 'सेन' प्रत्यय क्षत्रियों के नाम के आगे लगता था। उस नाम से उसके क्षत्रित्व का बोध होता था। कर्ण को वैकर्तन (कनफटा) इस

नाम का उन्होंने सम्बोधन नहीं किया। यह भी कृष्ण की बुद्धि-चातुरी ही थी।

यह प्रलोभन मामूली नहीं था। परन्तु कर्ण उस चक्कर में नहीं आया। राज्य, बड़प्पन और उसकी बदौलत द्रौपदी एवं महान् बलवान क्षत्रिय-कुल से सम्बन्ध और मैत्री यह सब सूत-वंशी कर्ण को मिलने-वाला था। इन सब बचनों को देखें, तो पता चलता है कि भाई-भाइयों के बीच होनेवाले इस युद्ध को रोकने के लिए कृष्ण ने प्राणपन से कितना प्रयत्न किया। इस अवसर पर यह कहना उचित नहीं होगा कि कृष्ण जानते थे कि कर्ण किसी प्रलोभन में आनेवाला नहीं है और इसीलिए उन्होंने ऐसे-ऐसे अद्भुत प्रलोभन उसके सामने रखे। पाण्डव कृष्ण के इतने ऋणी थे कि वह जो कहेंगे उसे पाण्डव मानेंगे ही, ऐसा कृष्ण को विश्वास था और इसीलिए उन्होंने कर्ण को ऐसे विलक्षण प्रलोभन दिये। इन्हें देते समय कृष्ण पर यह आक्षेप आ सकता था कि राज्य की आशा में बैठे युधिष्ठिर का गला ही उन्होंने काट लिया। दूसरे यह भी कि बेचारी द्रौपदी का उन्होंने सौदा किया। ये दोनों आक्षेप कृष्ण पर आ सकते हैं। परन्तु सन्धि-वार्ता में उन्होंने कपट से काम लिया, यह आरोप कदापि नहीं आ सकता। बल्कि एक बार यही बात फिर प्रकट होती है कि कृष्ण के मूल्य उस समय के मूल्य थे। बड़े भाई के नाते युधिष्ठिर राज्य का वारिस था। उससे बड़ा कोई भी व्यक्ति उसकी माता के पुत्र के रूप में राज्य का भागीदार बनकर आया होता और दूसरे भाइयों ने उसे मान्यता दी होती, तो उसे राज्य मिलने की ही सम्भावना थी। कृष्ण दोनों बातें चाहते थे—राज्य का भाग कुन्ती के पुत्रों को मिले और युद्ध भी न करना पड़े। उन्होंने कभी यह ख्याल नहीं किया कि वह मित्रों का विश्वासघात कर रहे हैं। द्रौपदी का अर्जुन के प्रति प्रेम होने पर भी उसे सभी पांच भाइयों की पत्नी बनकर रहना पड़ा था। उसमें एक पुरुष की वृद्धि और हो जाना कोई अनुचित बात उन्हें नहीं लगी थी। स्त्रियों का भी मन होता है, यह बात उस समय कोई पुरुष—भीष्म, वसुदेव, पाण्डव, कृष्ण कोई भी नहीं मानते थे। जो बात अन्य

क्षत्रिय कर रहे थे, वही कृष्ण ने भी की थी। द्रौपदी को बुरा लगेगा या नहीं, यह विचार उनके मत में गौण था।

भीष्म का पराभव और द्रोण का वध इन दोनों अवसरों पर कृष्ण का कार्य इसी तरह सर्वथा समर्थनीय था। पितामह का वध न करना चाहिए, गुरु को न मारना चाहिए, यह जितना उचित है उतना ही यह भी सही है कि पितामह और गुरु को अपने प्रपौत्रों और शिष्यों के विरुद्ध युद्ध में खड़े नहीं होना चाहिए। एक ओर से कोई पहल हुई, तो दूसरी ओर से उसकी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य ही होता है। एक बार जब लड़ाई के लिए तत्पर हुए, तो फिर उसे अन्त तक ले जाना ही कर्तव्य हो जाता है। उन्होंने यह तो कहा ही नहीं कि भीष्म को मार डालो या द्रोण का वध करो। उनका उद्देश्य इतना था कि भीष्म को घायल करके युद्ध के मैदान से हटा दिया जाय। इसी तरह भीम और धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोण का रथ पकड़ में आ जाने पर वे उसे वैसा ही हांककर, गुरुजी को पकड़कर ले आये होते तो कृष्ण के लिए काफी था। द्रोण को मारकर धृष्टद्युम्न ने अपने पिता के वैर का बदला लिया, तो इसमें कृष्ण का क्या कसूर ? अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी अफवाह फैलाने का प्रकार भी उस समय अपरिचित नहीं था। बिल्कुल इसी ढंग से जरासंध के दो सेनानी, हंस और डिम्बक मारे गये थे। कृष्ण ने सन्धि-वार्ता के समय युद्ध को टालने की जैसी पराकाष्ठा की, उसी तरह युद्ध में एक बार जुटने पर उसे प्राणपण से जीतने के लिए भी उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। यही बात कर्ण के विषय में भी ठीक बैठती है। जो युद्ध के लिए आये थे, उन सबने पहल कर ही रखी थी। उनमें कोई भी निर्व्याज अथवा निरपराध नहीं था। कृष्ण ने जिनका वध करवाया, वे कुछ होश में नहीं थे, ऐसा नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि एक बार युद्ध में खड़े होने के बाद कृष्ण ने किसी प्रकार की दया-माया नहीं दिखाई। उन्हें भी यह आशा नहीं थी कि उनपर भी कोई दया-माया दिखावेगा।

सब लोग मारे गये, केवल दुर्योधन बाकी बचा था। प्राणभय से वह छिप रहा था। वह प्रत्यक्ष दया की याचना करनेवाला नहीं था,

परन्तु ऐसा लगता है कि पिता की ओर से दबाव डलवाकर प्राण बचाने की फिराक में वह होगा। कृष्ण ने बिल्कुल निष्ठुरता से उस प्रयत्न को विफल कर दिया। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि दुर्योधन यदि जीवित रहा तो वह पाण्डवों को सुख से राज्य नहीं करने देगा। दुर्योधन के मरने के बाद पाण्डवों को धृतराष्ट्र और गान्धारी के समक्ष जाने की हिम्मत नहीं हुई। उलटे कृष्ण को ही दुर्योधन के मरने की खबर जाकर उन्हें देनी पड़ी। गान्धारी और धृतराष्ट्र से बात करते समय ही एक दूत ने आकर दुर्योधन और अश्वत्थामा के अन्तिम सम्भाषण की खबर दी। उसी समय कृष्ण ने ताड़ लिया था कि कोई छल-फरेब होनेवाला है। अतः अपनी बात को जल्दी से बीच में ही खत्म कर और धृतराष्ट्र से विदा लेकर वह पाण्डवों के शिविर में लौट आये और पाण्डवों तथा द्रौपदी को लेकर वह कौरवों के उजड़े हुए शिविर में चले गये। जहां कृष्ण-अर्जुन जाते वहां सात्यकि भी पहुंच ही जाता, इस न्याय से सात्यकि भी साथ हो लिया। रात को पाण्डवों के शिविर पर जो छापा मारा गया, उसमें द्रौपदी के पुत्रों और उसके भाई की निर्मम हत्या कर दी गई, परन्तु पांडव बच गये।

इस घटना में भी ऐसी कोई बात नहीं, जिसमें कृष्ण को दोषी बताया जाय। गुप्तचर की बातचीत से कृष्ण ने समझ लिया था कि कोई छल या कपट की बात होनेवाली है, परन्तु वह यह निश्चित न कर सके कि इस घात का स्वरूप क्या होगा ? मुख्य युद्ध दुर्योधन व पाण्डवों का था। उन्होंने यही समझा होगा कि बदले का लक्ष्य पाण्डव ही हो सकते हैं। युद्ध जीतने के उन्माद में युद्ध-कालीन अनुशासन और जागरूकता समाप्त हो गई थी। सब इधर-उधर नाच-रंग और मद्य-पान में लगे हुए थे। पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न और अन्य बड़े-बड़े लोगों का भी यही हाल हो रहा था। सेना की अवस्था बताने की जरूरत ही नहीं। कृष्ण जब हस्तिनापुर लौटे, तो रात हो गई थी। ऐसे समय इस अस्त-व्यस्त शिविर को फिर से सुस्थित करना कठिन कार्य था; फिर कृष्ण का यह अनुमान ही हो सकता था कि यह लड़ाई और वैर चूंकि पाण्डवों के लिए था, अतः उन्हें बचा लिया तो काफी है। ऐसी दशा

में पहले तो कृष्ण को देवत्व कोटि में पहुंचाना, उन्हें सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ बनाना, और फिर जो काम उन्होंने नहीं किये, उनके करने का आरोप उनपर लगाना, अथवा उनके हाथ से कोई बात न हुई हो, तो इसके लिए भी उनको दोषी ठहराना, ये दोनों बातें गलत हैं। अर्जुन का विवाह सुभद्रा से हो, इसलिए उसे वनवास दिलाना, त्रिदण्डी संन्यासी बनवाना और यति के रूप में उसे अन्तःपुर में बैठाना, भैया बलराम को धोखा देना, फंसाना आदि काम जिस प्रकार कृष्ण ने नहीं किये, उसी तरह भविष्य को जान लेने की शक्ति होने पर भी, पृथ्वी का भार हटाने और इसलिए सब योद्धाओं को अश्वत्थामा के द्वारा मरवाने का काम भी कृष्ण ने नहीं किया।

अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित अर्थात् कृष्ण की बहन सुभद्रा का पोता आगे चलकर गद्दी पर बैठा। इसमें भी कृष्ण का कोई हाथ या षड्यन्त्र नहीं था। अज्ञातवास के अन्त तक पाण्डवों के किसी भी पुत्र का विवाह नहीं हुआ था। कम-से-कम महाभारत में ऐसा उल्लेख नहीं है। सत्यभामा को लेकर कृष्ण वनवास में पाण्डवों से मिलने गये। पुत्रों के कुशल-समाचार और अस्त्र-विद्या की उनकी प्रगति आदि के सम्बन्ध में उन्होंने द्रौपदी को बताया। यदि उनके विवाह हो गये होते तो इस समय उसका उल्लेख होना चाहिए था। अर्जुन बृहन्नला के रूप में विराट की कन्या को नृत्य की शिक्षा दे रहा था, यह मालूम होने पर विराट ने उससे कहा कि यह उचित है कि उत्तरा से विवाह कर ले। अम्बा चार दिन हस्तिनापुर रही, इसलिए शाल्व ने उससे विवाह करने से इन्कार कर दिया था। तब साल-भर तक अर्जुन के साथ नृत्य-विद्या सीखनेवाली उत्तरा को दूसरा पति मिलना कठिन ही हो सकता था। परन्तु अर्जुन का यह उत्तर पाने पर कि 'मैंने उसे पुत्री की भावना से देखा है, अतः मेरे पुत्र से इसका विवाह कर दीजिए, द्वारका से अभिमन्यु को बुलवाया गया। अर्जुन को द्रौपदी से एक पुत्र था। उसे क्यों नहीं बुलवाया ? इसका उत्तर स्पष्ट है। द्रौपदी के पांच पुत्र थे, उनमें धर्मराज का पुत्र बड़ा था। द्रौपदी ने द्यूत के समय उसका उल्लेख 'युवराज' कहकर किया है। द्रौपदी के पुत्रों के विवाह एक के बाद एक क्रम में

होते या सबके एक साथ हुए होते तो उनमें भी बीच के पुत्र का विवाह सबसे पहले होना सम्भव नहीं था। अभिमन्यु अर्जुन का ही पुत्र था, पाण्डवों की पटरानी का नहीं। अतः वह राज्य का उत्तराधिकारी नहीं था। उत्तराधिकार में वह दूसरे नम्बर पर था, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह उत्तराधिकारी था ही नहीं।

उसके विवाह से एक बड़ा रिश्ता जुड़नेवाला था। अर्जुन का पुत्र होने से उसका महत्व तो था ही। अन्य कोई बाधा भी नहीं थी। कोई स्वप्न में भी यह नहीं जानता था कि द्रौपदी के पुत्र मारे जायंगे। अभिमन्यु, घटोत्कच और इरावत लड़ाई के मैदान में डटकर लड़े थे। परन्तु द्रौपदी के पुत्रों का कहीं नाम ही नहीं आया था। वे पुत्र राज्य के उत्तराधिकारी थे। सारा युद्ध होने पर भी वे जीवित रहे थे। यदि अश्वत्थामा ने छल और कपट से उनकी हत्या न की होती, तो वे युवराज के गौरव को प्राप्त करते। उनके विवाह हो गये होते। परन्तु वे मारे गये और अन्त में अभिमन्यु का पुत्र, जो गर्भ में था, वह मरता-मरता बचा और राजा हो गया। इसमें कृष्ण का कोई षड्यन्त्र नहीं था। कृष्ण बुद्धिमान और दूरदर्शी थे, परन्तु त्रिकालज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं थे। उन्होंने अपने कुछ उद्देश्य बना रखे थे, परन्तु उनको सिद्ध करने में उन्होंने अपने निज के कुछ मूल्यों की सीमा भी अपने लिए निश्चित की ली थी। जिस कृष्ण ने खुद राज्य नहीं किया, अपने पुत्रों को राज्य दिलाने का कोई उद्योग नहीं किया, वह अपने भाई और भानजों के लिए कोई ओछी साजिश करेंगे, यह सम्भव नहीं था।

कृष्ण की पाण्डवों से मित्रता के कारण, पाण्डवों को सब प्रकार से लाभ ही हुआ। स्व-कुल की दृष्टि से अथवा बिल्कुल अपनी दृष्टि से कृष्ण को भी लाभ हुआ। जरासंध मारा गया और सर्वोत्तम क्षत्रियाग्रणी के रूप में क्षत्रिय-समवेत कृष्ण को पहला सम्मान का दर्जा मिला। कृष्ण को अर्जुन की प्रगाढ़ मित्रता मिली, परन्तु उससे उनको अन्य कोई व्यावहारिक लाभ नहीं हुआ। कृष्ण ने भी उतनी ही प्रगाढ़ मित्रता

अर्जुन को दी और अपनी सारी प्रज्ञा और साहस को अर्जुन के शरीर, यश और आत्मा के धारण और संरक्षण में लगाया।

भीष्म-पर्व, द्रोण-पर्व और कर्ण-पर्व में अर्जुन ने तरह-तरह से कृष्ण के सामने बड़ी कठिन समस्याएं पैदा कीं। जो करना चाहिए, उससे वह पीछे हटा। जो करने में महाकठिन था, उसमें जल्दबाजी से कूद पड़ा। जो क्रम प्राप्त था, उसे उस समय रोकने का प्रयास किया। इससे अर्जुन की कीर्ति को सदा के लिए बट्टा लगनेवाला था, अर्जुन के शरीर को हानि पहुंचने की सम्भावना थी। अर्जुन का मन बैठ गया था। इनसब कठिनाइयों में से कृष्ण ने उसे बचाया। कृष्ण ने स्वयं अपना उतना ध्यान नहीं रखा, जितना अर्जुन का रखा। गीता में कहे अनुसार अक्षरशः कृष्ण ने अर्जुन के 'योगक्षेम' का भार उठाया।

इस सारे वृत्तान्त से ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ बराबरी की प्रगाढ़ मित्रता के नाते व्यवहार करते थे। गीता के आगे के अध्यायों में कहे अनुसार अर्जुन को कृष्ण यदि "त्वमादि देवः पुरुषः पुराणः" मालूम हुए होते, तो कृष्ण को भीष्म पर झपटने की अथवा 'इन्हें गिरा दो, परन्तु मारो नहीं', ऐसा कहने—अनुरोध करने की आवश्यकता नहीं थी।

द्रोण-पर्व में कृष्ण-अर्जुन का नाता अधिक बराबरी का और हार्दिक दिखाया गया है। जब द्रोण ने दुर्योधन से यह कहा कि "जबतक अर्जुन सामने है, तबतक पाण्डवों को मात देना सम्भव नहीं। तुम उसे दूसरी तरफ रोके रखो, तो मैं धर्मराज को बांधकर तुम्हारे सामने ले आऊंगा", तब उसने अर्जुन को संशप्तकों से युद्ध में भिड़ा देने की तरकीब सोची थी। परन्तु द्रोण पहले दिन धर्मराज को पकड़ नहीं सके। दूसरे दिन द्रोण ने अभेद्य चक्रव्यूह की रचना की। अर्जुन संशप्तकों से उलझा हुआ था। अकेला अभिमन्यु ही व्यूह को तोड़ना जानता था। वह भीतर घुस गया, शत्रु के पंजे में फंस गया और मारा गया। अर्जुन संध्या के समय जब लौटा तो उसे पुत्र के मारे जाने का समाचार मिला। "अभिमन्यु जब आगे बढ़ा था, तो तुम इतने बड़े-बड़े योद्धा क्या कर रहे थे?" इस प्रकार अर्जुन ने रोष में आकर पूछा। तब युधिष्ठिर ने उत्तर

दिया, "हम उसके पीछे-पीछे ही थे, परन्तु सिन्धुराज जयद्रथ ने हमें रोक लिया। हमने भरसक प्रयत्न किया, परन्तु हम पंक्ति न तोड़ सके।" यह सुनकर अर्जुन ने क्रोध और दुःखपूर्ण हृदय से प्रतिज्ञा की कि "कल सूर्यास्त से पहले मैं जयद्रथ को मार डालूंगा।" सभी दृष्टियों से यह प्रतिज्ञा अजीब थी। जयद्रथ व्यूह के मुंह की ओर था। पाण्डव-सेना को रोकना उसका काम ही था। वह जिस स्थान पर नियुक्त किया गया था, उसकी वजह से यह उत्तरदायित्व उसपर आया था। अभिमन्यु से लड़कर उसे मार डालनेवाले लोग दूसरे ही थे। उन्हें एक ओर रख-कर जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा उसने गुस्से में आकर कर डाली। महाभारत-युद्ध में जयद्रथ एक मामूली पात्र था। युधिष्ठिर उसे क्षुद्र ही कहते हैं। अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से सभी लोग चिन्ता में पड़ गये। कृष्ण ने आश्चर्य से पूछा, "अरे, तुम यह क्या प्रतिज्ञा कर बैठे? अब इस कार्य को पूरा कैसे करोगे?" अर्जुन का उत्तर भी अनपेक्षित मालूम होता है। वह अपनी धुन में ही था। कहता है—"कृष्ण, क्या यह मेरे लिए कठिन बात है? मैंने इन्हें जीता, उन्हें जीता और यदि देवता, ईश्वर भी सामने आ गये, तो उन्हें भी जीत लूंगा। मेरे धनुष, मेरे बाहु और जिन अस्त्रों को मैं जानता हूं, उन्हें कम मत समझो, कल सब देखना। बड़ी सुबह मेरा रथ तैयार रखो।"

कृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसके शिविर में गये। वहां सुभद्रा बैठी रो रही थी। थोड़ी ही देर में द्रौपदी और उत्तरा भी आईं। कृष्ण ने उन्हें सान्त्वना दी। अपने मन को कड़ा करके जितना हो सका थोड़े में उन्हें कुछ कहा और रास्ते पर लाये: "सुभद्रा, इस तरह रोओ मत। तुम्हारा पुत्र वीरगति को प्राप्त हुआ है। हम सभी उसी दिशा की ओर जा रहे हैं। क्षत्रिय यदि युद्ध में न मरेंगे, तो कहां मरेंगे? मरकर वह स्वर्ग में गया है।" यह कोई सांत्वना है? आगे वह फिर क्या कहते हैं? "अभी सब जाओ; कल तुम्हें खुशी के समाचार मिलेंगे।" खुशी के समाचार कौन-से? "तुम्हारे शत्रु के—जयद्रथ के—मरण की वार्ता?" यह कोई खुशी की बात थी? इन और ऐसे अनेक

प्रसंगों पर, सारे महाभारत की कठोर व कर्तव्य-दक्ष भूमिका विशद होती है। उसमें क्या मानवीय भावनाओं का कोई स्थान ही नहीं था? ऐसा विचार मन में आने से जी घबराने लगता है। द्रौपदी को यह कहकर कि सुभद्रा व उत्तरा को दो-चार समझ की बातें बताकर समझाना, कृष्ण दुःख से विक्षिप्त उन महिलाओं के पास से बिदा हुए और अर्जुन के खेमे में आ गये। उन्होंने हाथ-पांव धोये, नया दर्भासन बिछाया और अर्जुन के लिए तृण-शैया तैयार की। आयुध सारे नीचे रखे और अर्जुन को भी ऐसा ही करने को समझाया। इससे अर्जुन का मन कुछ ठिकाने आया। उसने भी हाथ-पांव धोये और कृष्ण का सत्कार किया।

कृष्ण ने यह कहकर कि 'अब शान्ति से सो जाओ', उससे विदा ली। उसके शिविर के चारों ओर रक्षा के लिए उत्तम योद्धा तैनात किये और खुद अपने शिविर में जाकर इस उधेड़-बुन में लग गये कि कल आनेवाली जिम्मेदारी को कैसे पूरा किया जाय? उन्होंने दारुक को बुलाया और कहा "मेरा रथ जोड़कर उसे उत्तम शस्त्रों से भरपूर तैयार रखो। अर्जुन नहीं मार सका, तो जयद्रथ को मैं मारूंगा, सभी कौरवों को खत्म करूंगा। बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, कोई भी मुझे अर्जुन से अधिक प्रिय नहीं हैं। अर्जुन के बाद एक क्षण भी मैं जीवित नहीं रह सकता। उसके शत्रु मेरे शत्रु और उसके मित्र मेरे मित्र। वह मेरा शरीरार्ध है—कल इसे सब लोग जान लेंगे। रथ एकदम ठीक रखना और कवच पहनकर तैयार रहना। मेरे पांचजन्य के बजाते ही, तुम जैसे हो रथ लेकर आ जाना।" इस तरह उन्होंने दारुक को आज्ञा दी। महाभारत के कृष्ण ने दूसरे किसीके भी विषय में ऐसी हार्दिकता, ऐसी व्याकुलता नहीं बताई। अर्जुन को रात में साक्षात् श्रीशंकर के दर्शन हुए—आदि बातें छोड़ दें, तो भी आगे का भाग युद्ध के दांव-पेंच और कृष्ण-अर्जुन के विलक्षण युद्ध-कौशल की दृष्टि से बहुत पठनीय है। लड़ाई में बड़ा कौन?—सारथी या रथी? यह प्रश्न उपस्थित होता है। सारथी का कौशल कुछ अजब ही होता था। सारथ्य के ज्ञाता को नलोपाख्यान में 'अश्व-हृदय' कहा है। वह घोड़ों का अन्तरंग जाननेवाला होना चाहिए। वह जानता

है कि घोड़े क्या कर सकेंगे? कब उन्हें दबावें, कब उन्हें दौड़ावें, यह जानता है। उनकी सांस यदि फूल जाय, वे डर जाते हों, तब उन्हें उसी समय थपथपाना पड़ता है। दूसरी ओर वह कोरा 'अश्व-हृदय' ही नहीं 'रथी-हृदय' भी होना चाहिए। योद्धा कब कौन-सा दांव-पेंच लड़ानेवाला है, कौन-सा बाण चलानेवाला है, कौन-से अस्त्र फेंकनेवाला है, इसका भी उसे जानकार होना चाहिए। कृष्ण और अर्जुन के शरीर दो, किन्तु आत्मा एक ही थी। एक-दूसरे से न बोलते हुए भी वे एक-दूसरे का हृदय जाते थे। रथी-सारथी दोनों की एकात्मता इस पर्व में अच्छी तरह दिखाई देती है। इसके अलावा प्रति-योद्धा, जिनका युद्ध में मुकाबला करना है, वे क्या कर रहे हैं, क्या-क्या पैंतरे वे बदल रहे हैं, यह भी निमिष मात्र में जानना, सारथी के लिए आवश्यक था। सारथी यदि उत्तम रथी, उत्तम योद्धा, उत्तम अस्त्र-विद् होगा, तभी यह सब सम्भव होगा और कृष्ण यह सबकुछ थे, इसके अलावा अर्जुन के साथ प्रेम की डोर से भी बंध चुके थे।

अर्जुन को दूर कहीं उलझाकर धर्मराज को पकड़ने का इरादा इस दिन के लिए तो कौरवों को छोड़ ही देना पड़ा। जयद्रथ को सबके पीछे रखकर अर्जुन को उसतक न पहुंचने देना ही उस दिन दुर्योधनादि का लक्ष्य था। एक-एक योद्धा के अधीन एक-एक सेना-विभाग था। प्रत्येक अपनी सेना के साथ अर्जुन पर आक्रमण कर रहा था। पहली सलामी खुद द्रोण से ही हुई। द्रोण की सेना को भगा देने के बाद, रास्ता मिलते ही, कृष्ण ने रथ को आगे बढ़ाया। द्रोण ने अर्जुन को ललकारा—"यों निकलकर कहां जा रहा है? आओ मुझसे दो-दो हाथ करो न!" किन्तु अर्जुन, "नमस्कार गुरुजी, आज नहीं" यह कहकर आगे बढ़ गया। तब दुःशासन सामने आया। उसे आहत करके उसका रथ आगे चला। भोज की सेना में भी ऐसी ही भगदड़ मच गई। पक्षी-वेग से उड़नेवाले घोड़े, जहां भी रास्ता देखते वहीं से रास्ता निकालकर आगे बढ़ रहे थे। आधा दिन यह विनाश-लीला होती रही। घोड़े थक गये थे। अर्जुन ने कहा—"मैं शत्रुओं की खबर लेता हूं, तबतक तुम घोड़ों को सहला लो।" वह रथ से नीचे कूदकर जमीन पर ही खड़ा होकर युद्ध करने

लगा। पीछे की तरफ कृष्ण ने घोड़े खोल दिये, उनकी पीठ पर लगे बाण निकाले, उन्हें पानी पिलाया और जमीन पर थोड़ा लोटने दिया। उन्हें थपथपाया। यह सब बड़ी शान्ति से, बिना घबराहट के, चल रहा था। घोड़ों ने दम ले लिया। वे तरोताजा हो गये। तबतक अर्जुन ने अपनी बाण-वर्षा से सबको रोके रखा था। वह फिर वापिस अपने रथ में उछलकर बैठ गया और रथ चालू हो गया। घोड़े, सारथी और रथी सब एक-दूसरे का हृदय जानते-पहचानते थे।

इधर युधिष्ठिर का जी घबरा रहा था। उसने दारुक के रथ में शैनेय सात्यकि को अर्जुन के पास भेजा। भीम भी थोड़ी देर में वहां जा पहुंचा, जिससे अर्जुन को आगे बढ़ने में गति मिली। अन्त में वह जयद्रथ के पास पहुंच गया। जयद्रथ का रथ और पताका उसने तोड़ डाली और अन्त में जयद्रथ का सिर भी उड़ा दिया। दोनों मित्रों ने एक-दूसरे का अभिनन्दन किया।

अर्जुन एक अग्नि-परीक्षा में से निकला था, परन्तु उसे अभी संभलने की जरूरत थी। उस दिन दोनों ओर इतना जोशीला वातावरण था कि मशाल—पलीता जला-जलाकर रात को लड़ाई होती रही। योद्धाओं को बीच में थोड़ा विश्राम मिला था कि सूर्य उगने पर फिर युद्ध होने लगा। इस रात के युद्ध में कृष्ण ने घटोत्कच और इरावत को युद्ध में झोंक दिया। जब उनके सामने कौरव-सेना का टिकना कठिन हो गया, तो दुर्योधन के अनुरोध पर, कर्ण ने अपनी अमोघ-शक्ति का प्रयोग किया, जिससे घटोत्कच मारा गया। घटोत्कच की मृत्यु से पाण्डव तो शोक में डूब गये, मगर कृष्ण आनन्द से झूमने लगे। यह देखकर अर्जुन ने चिढ़कर पूछा, "इतना बड़ा हमारा वीर पुत्र चला गया, इसमें तुम आनन्द से इतने नाचने क्यों लगे?" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, "अरे भाई, जो शक्ति कर्ण ने तेरे लिए संभालकर रख छोड़ी थी, वह विफल हो गई, इसलिए।" इधर धर्मराज संतप्त हो उठे: "जब अभिमन्यु गया तब अर्जुन नहीं था। अर्जुन के रहते घटोत्कच जैसा गुणी पुत्र मारा गया। उसने हम लोगों की कितनी सेवा की थी और उसके विषय में कोई कुछ भी नहीं कहता। मुख्य शत्रुओं को मारना छोड़कर उस क्षुद्र जयद्रथ के पीछे एक दिन व्यर्थ गंवा दिया। अब मैं ही जाकर द्रोण और कर्ण को मारता हूं।" यह कहकर युधिष्ठिर युद्ध में जाने लगा तब कृष्ण ने दो-चार समझदारी की बातें कहकर उसे रोका। दोनों ओर रात-दिन लड़ते-लड़ते सैनिक थक गये थे। दिन-भर युद्ध हुआ। रात को सो लेने के बाद दूसरे दिन द्रोण मारा गया। अर्जुन के द्वारा कर्ण का वध होना था। द्रोण-वध के कारण अर्जुन खिन्न हो गया था। पाण्डवों में आपस में भी बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। सात्यकि और धृष्टद्युम्न 'तू-तू मैं-मैं' पर आ गये थे। आपस में युद्ध छिड़नेवाला ही था कि कृष्ण बीच में पड़ गये।

जब कर्ण के रथ का चक्र धरती में धंस गया तब अर्जुन ने उसे मारा। वह अर्जुन को रुकने के लिए कह रहा था और धर्म की दुहाई देने लगा था। परन्तु कृष्ण ने उसे सांस नहीं लेने दी। पिछले सब दोष दिखाकर और 'कर्ण तब तुम्हारा वह धर्म कहां गया था?' (कर्ण क्व ते धर्मस्तदा गतः) यह कहकर कृष्ण ने उसके द्वारा किये गए पिछले सब अपमानों की ज्वलन्त मूर्ति ही खड़ी कर दी। कर्ण मारा गया।

युद्ध समाप्त हो गया। किन्तु कृष्ण का काम पूरा नहीं हुआ था। केवल अर्जुन को ही नहीं, दूसरों को भी उन्होंने फिर बचाया। गान्धारी का कोप और शाप दोनों उन्होंने अपने ऊपर ले लिये। गान्धारी यह जानती थी कि यदि कृष्ण पृष्ठपोषक न होते, तो पाण्डवों के लिए कौरवों का निःशेष नाश संभव नहीं था। वह कृष्ण को उलाहना देने लगी—"मेरे एक भी पुत्र को तुमने जीता नहीं छोड़ा।" जिस भीम ने उसके पुत्रों को मारा था, उसको तो उसने कुछ भला-बुरा नहीं कहा, दोष नहीं लगाया, पर कृष्ण को उसने शाप दिया—"जैसे हमारे कुल का सर्वनाश हुआ वैसे ही तुम्हारे कुल का भी सर्वनाश हो जायगा और हम जिस तरह आपस में ही कलह करके मरे उसी तरह तुम भी आपस में ही कलह करके लड़ मरोगे।" कृष्ण ने यह शाप भी हँसते-हँसते स्वीकार किया—"देवि, अपराध तो हुआ, किन्तु तुमने अपने पुत्र को समय पर ही नहीं संभाला। अब शोक-संताप करना व्यर्थ है।" इस तरह गान्धारी को

समझाकर कहा—"हम यादव लोग इतने बलाढ्य हैं कि कोई बाहरी शत्रु हमारा नाश नहीं कर सकता। हमारा नाश अगर होगा, तो हमारी ही मूर्खता से।"

यादवों के विनाश के सम्बन्ध में पूरा एक पर्व 'महाभारत' में दिया गया है, परन्तु है वह बहुत छोटा। इतना ही नहीं, बल्कि पन्द्रह-बीस श्लोक के अध्याय में जो कहा गया है, उसका दूसरे से कोई मेल नहीं है। एक अध्याय में कहा है कि ऋषि के शाप से सांब के मूसल पैदा हुआ। उसका चूर्ण करके समुद्र में फेंक दिया गया और राज्य-भर में दुहाई फिरवा दी गई कि जो कोई दारू पीयेगा उसे राजा कठोर दण्ड देंगे। उसीके आगे अध्याय में कहा गया है कि सारे यादव समुद्र के किनारे यात्रा के लिए गये और वहां बलराम-कृष्ण-सहित सब खूब मद्य पीकर मस्त हो गये और एक-दूसरे की निन्दा करने लगे। तो समुद्र-तट पर कहां ? क्या द्वारका समुद्र के किनारे नहीं थी ? द्वारका के चारों ओर जबरदस्त परकोटा था। अतएव समुद्र-तट पर जाने के लिए द्वारका के बाहर जाना पड़ता होगा, ऐसा लगता है। दारू पीने की मनाही करते हुए भी सब लोगों ने दारू पी कैसे ? या मद्यपान-निषेध का प्रकरण जैन-कथा से महाभारत में घुस गया ?

पहले शैनेय सात्यकि ने हार्दिक्य कृतवर्मा पर दोष लगाये—"बेचारी द्रौपदी के सोये हुए पुत्रों को मारकर तुमने बहुत बुरा किया।" तब हार्दिक्य ने पूछा—"अच्छा ऐसा था, तो भूरिश्रवा का हाथ टूट जाने पर भी तुमने उसका सिर काट लिया, यह क्या अच्छा किया ?" इतने ही में सात्यकि ने स्यमन्तक मणि की चोरी का पुराना किस्सा छेड़ दिया, तो सत्यभामा रोने लग गई। बस, सात्यकि और कृतवर्मा में लड़ाई ठन गई। उसमें कृतवर्मा मारा गया। सात्यकि ने औरों को भी मार गिराया। तब भोज और अन्धक ने मिलकर उसको घेर लिया और जूठे बर्तन उसपर फैंकने लगे। यह देखकर प्रद्युम्न सात्यकि की मदद के लिए दौड़ा। परन्तु वे दोनों ही उसमें मारे गये। एक ओर वृष्णि-शैनेय और दूसरी ओर अन्धक-भोज का युद्ध चलने लगा। देखते-देखते सांब,

प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, अनिरुद्ध—इसी तरह मारे गये। यह संहार देखकर कृष्ण को क्रोध आ गया। उन्होंने एक मुट्ठी ऐर के पौधे उखाड़ लिये और मारना शुरू किया। वे पौधे और उसके पत्ते लोहे के हो गये और जिन-जिनको कृष्ण ने मारा, वे सब मर गये। अब, जिसे देखो वही पौधों को उखाड़-उखाड़कर एक-दूसरे को मारने लगा। बड़ा संहार हुआ। यह देखकर बलराम और उनके पीछे-पीछे कृष्ण इस दंगल से बाहर निकले। कृष्ण ने बब्रुवाहन को कहा कि मैं बाहर रहता हूं। तुम स्त्रियों और बच्चों को संभालकर नगर में ले जाओ। पर ऐसा करते हुए बब्रु भी मारा गया। तब बलराम को रुके रहने के लिए कहकर कृष्ण सबको लेकर द्वारका गये और वसुदेव से जाकर कहा—"आप इन सबको संभालिए। अर्जुन आकर इन सबकी व्यवस्था करेगा। मैं बलराम को बाहर रुके रहने को कह आया हूं। अब मैं उधर ही जाता हूं।" यह कहकर वह जल्दी से बाहर निकले। दारुक को उन्होंने अर्जुन के पास भेजा और जैसे ही वह बलराम के पास पहुंचे उन्होंने देखा कि उनका प्राणोत्क्रमण हो रहा था। बलराम का अन्त देखकर कृष्ण एक पेड़ के नीचे योगस्थ होकर बैठ गये। इतने ही में एक शिकारी का बाण उनको लगा और वह भी मर गये।

मद्य के नशे में एक-दूसरे को मारकर सारे कुल का मर जाना ज़रा मुश्किल से समझ में आता है। बब्रुवाहन, बलराम और कृष्ण कम-से-कम ये तो यादवों के हाथों से नहीं मारे गये, अर्थात् यादवों के मदोन्मत्त होने का और उनके इस युद्ध का लाभ उठानेवाला कोई बड़ा शत्रु उत्पन्न हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है। इसी कारण द्वारका के आस-पास का प्रदेश निरापद नहीं रह गया था। वे पुराने क्षत्रिय-वंश के शत्रु न होकर भारत में नवीन आगत आभीरों की टोलियां थीं। इन्होंने ही अर्जुन को भी हतप्रभ कर दिया था।[1]

---

१. इन्हीं आभीर लोगों ने काठियावाड़, गुजरात और उत्तर महाराष्ट्र में ऐतिहासिक काल में राज्य किया था, ऐसा प्रमाण है। उन्हें अहीर कहते हैं। खानदेश की अहिरानी बोली इन आभीरों के वंशजों की ही होनी चाहिए। इन्हीं

कृष्ण की मृत्यु के समाचार सुनकर बूढ़े वसुदेव के हाथ-पैर ढीले पड़ गये और उसने बिस्तर पकड़ लिया। अर्जुन के आने पर मरणोन्मुख वसुदेव ने उससे कहा, "देखो, जिस प्रद्युम्न और सात्यकि के तुम गुणगान करते थे, वे ही तुम्हारे भक्त और शिष्यवर इस अनर्थ के कारण हैं।" अर्जुन ने राजकीय सम्मान के साथ वसुदेव का दाहकर्म किया। फिर बलराम और कृष्ण-सहित सब यादवों की भी अन्तिम क्रिया की। प्रश्न यह है कि द्वारका का राजा कौन था? वसुदेव सबमें बड़े थे, इसलिए क्या वह ही यादवों के राजा थे? या बलराम राजा थे और वसुदेव का राजा के तौर पर सम्मान था। जैसेकि दुर्योधन राजा था, परन्तु धृतराष्ट्र जीवित था, इसलिए उसे महाराज कहते थे। क्या ऐसा ही यादवों का भी था?

वसुदेव कुन्ती के भाई थे। बलराम और कृष्ण वृद्ध हो गये थे। इसलिए बलराम और कृष्ण के पिता बहुत ही वृद्ध होंगे। कृष्ण के पुत्र अभिमन्यु से कुछ बड़े होंगे—अर्थात् पचास के आस-पास। इस संहार में तीसरी पीढ़ी जीवित बची। वह परीक्षित के वय की अर्थात् पैंतीस-छत्तीस वर्ष की थी। वह कैसे जीवित रह गये? क्या अतिवृद्ध वसुदेव और उनके नाती-पोतों को छोड़कर बीच की दो पीढ़ियों के लोग ही इस यात्रा में गये थे? क्या यह समझना चाहिए कि पैंसठ से पचहत्तर वर्ष की आयु के लोग और उनके पुत्र आदि मद्य पीकर, होश-हवास गंवाकर, एक-दूसरे से लड़कर मर गये? महाभारत और सब पुराण ऐसा ही कहते हैं। कुछ दिनों में ही द्वारका पानी में डूब गई। क्या भूकम्प से? इस सारे समुद्र-तट पर बार-बार भूकम्प हुआ करते थे, आज भी होते हैं। क्या ऐसा ही कुछ हुआ था? ऐर नामक घास के पत्ते लोहे के

लोगों ने बाद में यादवों से अपना सम्बन्ध जोड़ा। बहुत करके यह 'हम क्षत्रिय हैं', यह दिखाने का प्रयत्न होना चाहिए। यादवों के साथ ही उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना 'देव' बनाया होगा। इसी कारण महाभारत का राजनीतिज्ञ योद्धा 'गोपालकृष्ण' हुआ होगा। गोपालकृष्ण का गोपीकृष्ण फिर किसने और कब किया, इसका पता महाभारत की कथा से नहीं लगता।

—लेखक

हो गये, इसका क्या अर्थ है? ऐर नामक सीधे और मजबूत घास की डंडियों के बाण बनाकर उनपर लोहे की पत्ती चढ़ानेवाले कुछ लोग रहे होंगे और उन्होंने यह देखकर कि यादव नशे में मस्त हैं, उन्हें मार डाला होगा। ऐसे कितने ही प्रश्न मन में पैदा होते हैं। द्वारका के उत्खनन से ऐसा दिखाई देता है कि द्वारका कभी-न-कभी पानी में डूबी थी और वह दुबारा बसाई गई। एक बार या कई बार, इसका उत्तर देने योग्य प्रमाण अभी हाथ नहीं लगा।

अन्तिम क्षण तक कृष्ण शान्त रहे। इस अवस्था में जितनी व्यवस्था व उलट-फेर करना सम्भव था, वह उन्होंने किया। परन्तु वह रोये नहीं। उनकी आंखों के सामने उनके लड़के-बच्चे मर गये, तो भी वह अधीर नहीं हुए। द्वारका में जो उन्होंने कदम रखा, वह भी सिर्फ वसुदेव को कुछ कहने के लिए। तमाम स्त्रियां क्रन्दन कर रही थीं। पर वह वहां रुके नहीं। बलराम तो किसी भी बात में कभी आगे होते ही नहीं थे, और वह पहले निकलकर चले ही गये थे। तब श्रीकृष्ण ने बाकी बचे यादवों का भार अपने सिर पर क्यों नहीं लिया? व्याध के द्वारा न मारे जाते, तब भी क्या प्रायोपवेशन करके वह मरने की तैयारी कर रहे थे? वृद्ध वसुदेव को उन्होंने सबकी संभाल करने को क्यों कहा? क्या इस भयंकर क्षण में भी कृष्ण ने कुछ विचार किया होगा? तरुण पुत्रादि दूसरों के आश्रय में रहें, तो हर्ज नहीं था। यदु-वंश का पौधा जीवित था, उसका पालन-पोषण करना पाण्डवों के लिए सम्भव और आवश्यक था। परन्तु वह स्वयं कैसे दूसरों के यहां दीन बनकर रहते? जीवन-भर जिन्हें बड़े साहस और बड़े गौरव के साथ संभाला, सर्वस्व नष्ट हो जाने की स्थिति में उनके घर रहना सम्भव न था—और वैभवशाली 'वासुदेव' के लिए तो बिल्कुल ही नहीं। मृत्यु के सिवा दूसरा रास्ता नहीं था और कृष्ण के लिए तो मरण के अलावा कोई दूसरा मार्ग था ही नहीं। सभी प्राप्त कर्तव्यों का भार जिस तरह उठाया, उसी तरह कर्तव्य-कठोर होकर नाती-पोतों और पत्नियों में मन को लिप्त न करके उन्होंने उस स्थिति का सामना किया। अर्जुन पर सारा भार डालकर खुद चल बसे।

जीवन-भर लौकिक अर्थ में अर्जुन और पाण्डव कृष्ण के अगणित उपकारों का बदला नहीं चुका सके। उनकी मृत्यु के बाद अब उसका समय आया था। कृष्ण अर्जुन के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते थे। अर्जुन का भी यही हाल था, ऐसा मानने में हर्ज नहीं। अन्त में कृष्ण का सन्देश पाकर अर्जुन द्वारका गया, पर कृष्ण उसे जीवित नहीं मिले। परन्तु जो अर्जुन मामूली बात पर ऐसी-वैसी प्रतिज्ञाएं करके आग में कूदकर प्राण देने के लिए तैयार हो जाता था, उसे इस समय ऐसी स्वतन्त्रता नहीं थी। वसुदेव का शोक सुनकर, उनका प्राण निकल जाने पर, राजकीय सम्मान के साथ उनका दाह-संस्कार करना था। कृष्ण के शरीर का पता लगाकर उसे भी अग्नि-संस्कार करना था। बचा-खुचा परिवार लेकर हस्तिनापुर को जाना था। अपनी तथा यादव-स्त्रियों की विडम्बना, दुर्दशा उसे देखनी थी। राज्य से विमुख रहे यादवों में कृष्ण के एक नाती को पाण्डवों ने एक राज्य दिया। सात्यकि के पुत्र को भी एक राज्य दिया। इतना ही नहीं, बल्कि मार्तिकावत का राज्य अश्वत्थामा के सहायक कृतवर्मा हार्दिक्य के वंशज को दिया। सब यादव यदि जीवित रहते, तो इनमें से किसीका कहीं के राज्य पर अधिकार नहीं था। नये राज्य जो मिले वह पाण्डवों की ही बदौलत। यादवों की व्यवस्था इस प्रकार करके, कृष्ण के उपकार का इस प्रकार विलक्षण और निरानन्द बदला चुकाकर, उसके बाद अर्जुन और दूसरे पाण्डव भी मरने की तैयारी करने लगे।

प्रश्न है, अर्जुन में ऐसा क्या था जो कृष्ण का उसमें ऐसा अनन्य प्रेम था? अर्जुन तत्कालीन वीरों में अनुपम योद्धा के रूप में बहुत प्रसिद्ध था। सारी तरुण पीढ़ी—उत्तरा, धृष्टद्युम्न, सात्यकि, प्रद्युम्न—के लिए वह आदर्श था। नाम के अनुसार ही वह ऋजु था। अर्जुन के बाहुबल से युधिष्ठिर राजा हुए थे। कृष्ण ने औरों को भी राज्य दिलाये। दोनों ही शत्रुओं और स्त्रियों को जीतनेवाले थे। कृष्ण ने जीवन-भर जो और जितना दिया उतना अर्जुन दे ही नहीं सकता था। परन्तु अर्जुन के प्रेम में कृष्ण को सबकुछ मिल गया और कृष्ण के जीते-जी नहीं तो मरने के बाद अर्जुन ने उसका बदला चुकाया।

कृष्ण ने अपने असामान्य पुरुषार्थ द्वारा दूसरों को राज्य प्राप्त कराये। भीष्म ने भी यही किया। परन्तु भीष्म उपभोग-शून्य रहा। कृष्ण ने श्री और सम्पत्ति दोनों का उपभोग किया। भीष्म ने अधिकार भोगा, पर श्रीकृष्ण का भोग अधिकार-शून्य था। एक लौकिक दृष्टि से सर्वस्व होम करके कुछ थोड़ा उपभोग करता रहा; परन्तु दूसरा सबकुछ भोगकर भी सचमुच अलिप्त ही रहा। दूसरे सब कभी-न-कभी रोये हैं, अलबत्ता भीष्म अपने लिए नहीं रोया, परन्तु श्रीकृष्ण कभी रोये ही नहीं। निष्काम ही रहे; इतने कि कभी-कभी कठोर मालूम होते हैं।

इसी कारण महाभारत का कृष्ण पकड़ में नहीं आता। अन्तःकरण में घुलमिल नहीं जाता। उन्होंने प्रेम किया, बदला लिया, आनन्द से नाचा, जब पाण्डवों ने राज्य खो दिया तो दुःख से व्याकुल हुआ, परन्तु यह सब करके भी वह उसमें लिप्त न हुआ। महाभारत में राधा का कृष्ण नहीं, कुंज-वन में गोपालों के साथ बंशी बजानेवाला कृष्ण नहीं, द्रौपदी की पुकार पर दौड़ पड़नेवाला कृष्ण नहीं, रुक्मिणि-वल्लभ कृष्ण नहीं है। वह स्वयं कहते हैं कि मैंने अर्जुन से प्रेम किया, परन्तु अपनी कृति से प्रेम व्यक्त होने पर भी हृदय का पता लगाने जैसा उसमें कुछ नहीं।

'सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै', इस तरह का वह संबंध था। पर इसमें भी वह कहीं लिप्त नज़र नहीं आते। सब मानवीय कष्ट, मानवीय सुख, मानवीय विकार, उनके चरित्र में दिखाई देते हैं। तो भी इस विलक्षण अलिप्तता के कारण उसे साकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने गीता सिर्फ गाई ही नहीं, गीता का जीवन जीया भी।

दस

युगान्त

हम यह नहीं कह सकते कि किसी एक क्षण, एक दिन या एक वर्ष में एक युग समाप्त हो गया और दूसरा शुरू हो गया। एक युग समाप्त हो गया, इसका यह अर्थ भी नहीं कि उस युग में जो-कुछ भी हुआ वह सब खत्म हो गया और नये युग के साथ नये मनुष्य और समाज की नई व्यवस्था आ जाती है। काल-प्रवाह अखण्ड चल रहा है। अपनी सुविधा के लिए, अपने अध्ययन के दृष्टिकोण के अनुसार, हम टुकड़े करके उसे 'दशक' 'शतक' 'सहस्रक' अथवा 'युग' का नाम देते हैं। महाभारत के साथ एक युग समाप्त हो गया, यह कल्पना बहुत पुरानी है। उसीका आश्रय मैंने यहां लिया है। कोई दूसरा व्यक्ति इतने ही अधिकार के साथ इस कल्पना को छोड़कर दूसरी तरह से काल के विभाग कर सकता है। तब युग का क्या अर्थ ? और युग का अन्त हो गया, यह हम क्यों कहते हैं ? यह दृष्टिकोण स्पष्ट करने से हमारा काम चल जायगा। ऐसा दिखाया जा सकता है कि कुछ बातें महाभारत के साथ ही नष्ट हो गईं, और कुछ बाद में, कितने ही शतक तक या आज तक हममें प्रचलित हैं। किसी काल-विभाग को जब हम 'युग' कहते हैं, तो इसीलिए नहीं कि कुछ जो बातें उसमें थीं, बाद में नहीं रहीं; बल्कि इसलिए कि जो विचार, रीति-रिवाज पहले नहीं थे वे बाद में ज्यादा मात्रा में पाये जाते हैं, उनका उसमें दर्शन होता है। आगे के 'युग' का स्पन्दन उसमें पाया जाता है। इस दृष्टि से किसी एक युग का अंतिम भाग उसका प्रतिनिधिक न होकर सचमुच वह संध्या—एक युग की रात और दूसरे युग का

प्रभात-काल—होता है। महाभारत पर यही बात घटित होती है। परन्तु उसके स्वरूप के कारण उसे एक असामान्य विशेषता प्राप्त हो गई है। महाभारत उस काल के विशिष्ट वर्ग की एक दीर्घ कथा है। वह एक खास वर्ग के लोगों के तत्कालीन रहन-सहन की सूची मात्र नहीं है, बल्कि एक खास कुटुम्ब को लेकर उसके सहारे उसके समस्त जीवन और विचारों का गहरा और व्यापक चित्र उसमें खींचा गया है। सारी कथा छंद में, पद्य में, कही गई है और कितने ही प्रसंगों पर तो उन छंदों को और उनके कारण सारी कथा को एक वास्तविक काव्य का अविस्मरणीय रूप प्राप्त हो गया है।

पुरानी पुराण-कालीन धारणा के अनुसार पाण्डवों के राज्य के अंतिम दिनों को कलि का प्रारंभ और द्वापर का अन्त माना जाता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय योद्धाओं का ऐसा खयाल नहीं था।[1] युग के समाप्त होने की चेतना युग समाप्त होने के बहुत बाद आनेवाली पीढ़ी में हुई। उसी प्रकार पहले के क्षत्रिय—वास्तविक क्षत्रिय महाभारत-युद्ध में नष्ट हो गये, ऐसा जो पुराणों का दावा है, वह भी बाद की कल्पना दिखाई देती है। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भिन्न-भिन्न वंश के राजा अपनी-अपनी गद्दियों पर बैठे थे। स्वयं हस्तिनापुर की राजगद्दी पर पाण्डवों का पोता परीक्षित बैठा था। इन्द्रप्रस्थ की गद्दी पर कृष्ण का पोता वज्र राजा हो गया था। यादवों के इतर या अन्य मुख्य वंशज दूसरी जगह राज्यासीन थे। विदर्भ का रुक्मी अपनी राजगद्दी संभाले हुए था। इस सब वृत्तान्त को ध्यान में लायें तो यह उत्तर-कालीन दावा कि क्षत्रिय-वर्ग नष्ट हो गया था, सही नहीं मालूम होता। अलबत्ते यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से समझ में आने लायक है कि पुराने क्षत्रिय-वर्ग की रचना अवश्य छिन्न-भिन्न हो गई थी।

इसके पहले कि महाभारत-काल में क्या हुआ, बाद में क्या हुआ, और महाभारत-काल में किन-किन सामाजिक घटनाओं की बुनियाद मजबूत हुई, आदि की चर्चा की जाय, यह साफ तौर पर बताना होगा कि महाभारत-काल से हमारा अभिप्राय क्या है ?

हमारी राय में महाभारत-काल उस काल को कहना होगा, जिसमें

१. यह भाग प्रक्षिप्त, बाद में जोड़ा गया, मालूम होता है। —लेखक

भारतीय युद्ध से पहले और बाद के कुछ शतक शामिल हों। कम-से-कम इस ग्रंथ के विवेचन में हमने यह सीमा मानी है। महाभारत को 'युगान्त' कहा है। अर्थात् भारतीय युद्ध के बाद का अधिक-से-अधिक एक या दो शतकों का समय समझना चाहिए। पुराणकारों के मत से तो पाण्डवों के मरने से पहले ही कलियुग की शुरुआत हो गई थी। महाभारत के पहले कितने शतक मानें, यह कठिन प्रश्न है। वेदान्तर्गत दाशराज्ञ-युद्ध के अंत से भारतीय युद्ध के अन्त तक का काल—एक काल मानना पड़ेगा। और 'युगान्त' का अर्थ उस काल का अन्त करना पड़ेगा। वेद को भले ही नहीं, परन्तु कुछ ब्राह्मण और कुछ उपनिषदों को तो इस काल की रचना मानना पड़ेगा। याज्ञवल्क्य और उनके गुरु और मामा वैशम्पायन से हुआ उनका संवाद कहीं-न-कहीं भारत-कथा-काल में हुआ बताया गया है। यह भाग ऐसा है, जिसका प्रत्यक्ष कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु काल-दृष्टि से यदि इस स्थापना को सही मान लें, तो फिर सारा शुक्ल यजुर्वेद, उसके महत्वपूर्ण ब्राह्मण, (उदाहरणार्थ शतपथ) और ईशा-वास्यादि उपनिषद इन सबको भारतीय युद्ध के बाद का अर्थात् लगभग बुद्ध-काल का मानना पड़ेगा। भारतीय युद्ध का काल, ईसा-पूर्व एक हजार से बारहसौ तक, मैं मानती हूं।

भारतीय युद्ध की कथा क्षत्रिय-कुल के दो भाइयों के पुत्रों के कलह की कथा है। क्षत्रियों की अपेक्षा दूसरे लोगों की कथाएं और उल्लेख उसमें दूसरे नम्बर पर हैं। परन्तु जो कुछ भी हो, उनसे तत्कालीन समाज-रचना के कुछ अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं। उस समय वर्ण थे, परन्तु उनमें क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण मुख्य थे। यह एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी, एक-दूसरे के पूरक और आधार-स्तम्भ के रूप में रहते थे। क्षत्रियों का विश्वास यज्ञ-यागों पर और ब्राह्मणों का मंत्रविद्या पर था। अतः ब्राह्मणों द्वारा संस्कार होने के कारण क्षत्रियों को ब्राह्मणों की आवश्यकता थी और ब्राह्मणों को क्षत्रियों के संरक्षण की, पुरस्कार की और पोषण की अपेक्षा रहती थी। ये दोनों एक समाज के पक्के घटक थे। उस समाज की देवता-संबंधी कल्पना भी एक ही थी। कहीं-कहीं 'विश्' वर्ग का नाम आता है; परन्तु उस वर्ग के व्यक्तियों का चित्रण कहीं नहीं है। यही बात शूद्र वर्ण

के सम्बन्ध में भी कहनी होगी। शूद्र कौन थे? राजकुल दास-दासियों से भरे रहते थे। सब दास और दासियां शूद्र थे, क्या ऐसा समझा जाय? सुभद्रा गोपालिका का वेश बनाकर द्रौपदी से मिलने आई और कहा, "मैं तुम्हारी दासी हूं।" इसका क्या यह अर्थ होता है कि उसने विनय से शूद्रत्व धारण कर लिया था?

भगवद्गीता आज जिस रूप में है, उसी रूप में तब युद्ध-काल में नहीं थी। इसलिए उसमें, बाद के अध्यायों में, जहां कृष्ण का ईश्वरत्व-देवत्व स्पष्ट रूप से गृहीत किया गया है, या जो कुछ कहा गया है—उसका प्रमाण यहां देना ठीक न होगा। परन्तु चाहे बाद के समय का हो, तो भी गीता के ये श्लोक विचार करने योग्य जरूर हैं, क्योंकि वे पाण्डव-कालीन समाज की स्थिति के द्योतक हैं, 'स्मृतिकालीन' समाज-स्थिति के नहीं। कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य आदि कर्म वैश्यों के और परिचर्यात्मक कर्म शूद्रों के (गीता, १८-४४) बताये गए हैं। इसी अर्थ के दो श्लोक आगे कर्ण-पर्व में शल्य के मुख से कहलाये गए हैं। (८-२३-३५-३६)। कृषि-बल के माने किसान, गोरक्ष के माने ग्वाले और वाणिज्य के माने सब प्रकार का व्यापार करनेवाले—वस्तुओं को तैयार करके बेचनेवाले लोग। किसान राजा को कर देता था। ग्वाला गोधन रखता था। राजधानी जब बनाई जाती, तो उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के दुकानदारों को लाकर, उन्हें जगह देकर, करों में सुविधा देकर, नई राजधानी में बसाने की प्रथा थी, ऐसा दिखाई देता है। जब वे बसते थे, तो अवश्य ही कर भी देते थे। ऐसा नहीं मालूम होता कि ये लोग परिचर्या अर्थात् किसी की चाकरी या नौकरी करते थे। क्षत्रियों के गोधन संभालनेवाले, बहुत-से चाकर और गोपाध्यक्ष अर्थात् राजपुरुष रहते थे, ऐसा भी मालूम होता है। उस समय का सामाजिक चित्र था राजन्य (क्षत्रिय), ब्राह्मण और सर्व-साधारण प्रजा, अर्थात् विश और दास। उस समय के बाद बनिज अर्थात् व्यापारी धनवान और बलशाली हुए। इनका अपना वैश्य वर्ग, तीसरा वर्ग बन गया। किसान और गोपाल ये चौथे वर्ग में आ गये। इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि वैश्य वर्ग में जो धनवान होते थे उनकी अपनी मालिकी की जमीन होती थी, और उसे वे स्वयं

(पुराने 'विश्' की तरह) न जोतते हुए गरीब किसानों अथवा भूमिहीन मजदूरों को जोतने के लिए दिया करते थे। भूमिहीन, श्रमकर्ता, मजदूर स्थायी नहीं बल्कि एक गांव से दूसरे गांव जानेवाले लोग थे। इसके अलावा इस श्रमिक वर्ग में उनके अपने दास भी होते थे। अर्थात् आगे चलकर वैश्य और शूद्र इन वर्णों की व्यवस्था बदल गई। वैश्य व 'विश' अब साधारण प्रजा न रहकर वैश्य नामक एक विशिष्ट कार्य करनेवाला वर्ण बन गया। और तब क्या सब तरह के कारीगर, किसान, गोपाल, परिचारक आदि इन सब दासों का मिलकर एक शूद्र वर्ण बन गया ? इसी तरह सेना में भी दो प्रकार दिखाई देते हैं : (१) क्षत्रिय वर्ग, (२) उन्हींके निकट के क्षत्रिय-वर्ग के ही आप्त तथा दूसरे वैतनिक। कृष्ण के पास नारायणीय नाम के ऐसे सैनिक थे। लगता है कि संशप्तक भी इसी प्रकार के युद्ध-जीवी लोग थे। तो इन लोगों का दर्जा क्या था ? क्या ये भी शूद्र ही थे ? दूसरे (क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, कृषक इत्यादि) चाहें तो लड़ाई में जा सकते थे, चाहें लड़ाई से अलिप्त भी रह सकते थे। परन्तु ये लोग सेना में भर्ती होते और सैनिक के रूप में ही पोषित होते थे। उन्हें अपने स्वामी की आज्ञा के अनुसार लड़ाई में जाना अनिवार्य था, अर्थात् वे क्रीत-दास थे। कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे, परन्तु 'नारायणीय' नामक योद्धा-दल दुर्योधन की ओर से लड़ा दिखाई देता है। यह ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्ण-संस्था में इन लोगों का स्थान क्या था ? महाभारत-युद्ध में भाग लेनेवाला समाज प्रमुखतः त्रै-वार्णिक था। अर्थात् समाज-रचना ऐसी थी कि राजा, धार्मिक विधियां करानेवाले ब्राह्मण व वैश्य ही मुख्य प्रजा थी, और जिन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे, जिनके संस्कार इन तीनों जैसे नहीं थे, और जो महज नौकर होते थे, वही शूद्र कहलाते थे। कृषि और गोरक्षण वैश्यों का काम होने से शूद्रों की संख्या भी आगे आनेवाले काल की अपेक्षा, बहुत कम ही होनी चाहिए। यह समाज प्रमुख रूप से त्रै-वार्णिक रहा हो, तो भी चौथा वर्ण प्रस्थापित हो गया था और उसका नाम भी पड़ गया था। अतः कहना होगा कि चतुर्वर्णात्मक समाज-व्यवस्था की शुरुआत होने लगी थी। कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य करनेवाला वैश्यवर्ग मिटकर उसकी जगह व्यापार

करनेवाला धनाढ्य और बलशाली वर्ग स्थापित हो गया और कृषि तथा गो-रक्षा करनेवाले, परिचर्या करनेवाले शूद्र की सीढ़ी पर पहुंच गये। महाभारत-काल के पश्चात् उदय होनेवाले बौद्ध युग में यह दृश्य स्पष्ट दिखाई देता है। बौद्ध और बाद के जैन-साहित्य में वैश्य वर्ग की बहुत प्रधानता है। कथा का नायक धीरोदात्त क्षत्रिय होना चाहिए, महाभारत-कालीन यह परिपाटी मिटकर श्रेष्ठी अथवा श्रेष्ठीपुत्र नायक होने लगे थे। यही कारण है कि बौद्ध-कथाओं में किस गौतमी और विशाखा-जैसी वैश्य स्त्रियों के वर्णन आये हैं। अतः क्या यह कहा जायगा कि सांघिक प्रव्रज्या-प्रधान धर्म को श्रीमंत वैश्य गृहस्थाश्रम की आवश्यकता हुई ? प्रव्रज्या-प्रधान धर्म का, पहले से ही, व्यक्ति-पूजा पर आधार होता है। उसके सांघिक होने के कारण ही क्या धर्म-संस्था के दृढ़ संगठन की आवश्यकता नहीं समझी गई होगी ? धर्म-संस्था में मुख्य, उपमुख्य व संघमुख्य व संघ का जीवन तथा व्यक्ति का जीवन सभी कुछ बंध जाता है। बौद्ध, ईसाई अथवा इस्लाम धर्म इसी प्रकार के थे। घर का व्यापार नहीं चला तो इस धर्म के लोग साम्राज्य के संस्थापक बन गये और धर्म के तत्त्व को सारे संसार में फैलाने लगे। बौद्ध धर्म अपने घर में ही साम्राज्यवादी था और उसके हजारों भिक्षुओं के पोषण के लिए उस समय श्रीमंत धनिक-वर्ग भी था। उसकी अपेक्षा महाभारत-युद्ध का युग कम छोटे गुटों से संबंधित या व्याप्त दिखाई देता है। धर्म का स्वरूप सार्वजनिक नहीं था। जो संगठनात्मकता थी, वह समाज की एकसंघता के कारण थी, धर्म के कारण नहीं। धर्म शब्द बहुत ही व्यापक और वास्तविक अर्थ में व्यक्तिगत ही रहा।

फिर आगे का प्रश्न यह है कि क्या जातियां भी थीं ? बहुत-से लोगों का झुकाव यह कहने की ओर है कि वर्ण तो थे, परन्तु जातियां नहीं थीं। जातियों के नाम कुछ ज्यादा पढ़ने-देखने में नहीं आते हैं। परन्तु इसमें भी कोई शंका नहीं है कि ऐसे भी समूह अलबत्ता थे, जिन्हें जाति कह सकते हैं। ऐसा 'सूत' नामक एक समूह था। सूतों का स्थान क्या विश् और शूद्र के ऊपर था ? ऐसी शंका शल्य के एक वाक्य से होती है। दुर्योधन ने शल्य से कर्ण का सारथी होने के लिए कहा, तब शल्य ने गुस्से में आकर कहा, "शूद्र 'ब्रह्मक्षत्रियविश' के परिचारक निश्चित किये

गये हैं। सूत 'ब्रह्मक्षत्रों' के परिचारक हैं, विश व शूद्रों के नहीं। यह कैसे संभव है कि मैं, मूर्धाभिषिक्त राजा, कर्ण की चाकरी करूं ?"

ब्रह्मक्षत्रविशां शूद्रा विहिता: परिचारका: ।(८-२३-३५)
ब्रह्मक्षत्रस्य विहिता: सूता वै परिचारका: ।
न विट्शूद्रस्य ॥ (८-२३-३८)

जिन लोगों में आपस में अधिकांश में शादी-विवाह हो जाते हैं, उन लोगों से मिलकर बने समाज को जाति कहते हैं। जाति का एक गुण या लक्षण ऐसा होता था कि उसके किसी एक व्यक्ति को अमुक वर्ण का है, ऐसी सार्वत्रिक स्वीकृति अगर मिल गई तो फिर दूसरे जातिभाई उसी वर्ण के कहे जा सकते थे। इस संबंध में कर्ण का उद्योग वैयक्तिक था। वह सभी सूतों के लिए क्षत्रियत्व का दरवाजा नहीं खोलना चाहता था। उसकी उखाड़-पछाड़ मात्र यही सिद्ध करने की थी कि वह जन्मत: क्षत्रिय है। मरने के बाद क्षत्रियों की विधि से अग्नि-संस्कार होने के कारण क्षत्रियत्व उस अकेले को मिला, उसके लड़के को नहीं, क्योंकि उसका जन्म शूद्र स्त्री से हुआ था। यह एक ही बात जाति नामक इस सामाजिक समूह के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए काफी है। महाभारतकालीन जाति-संस्था की एक विशेषता यह थी कि ऊपर की जाति के लोगों को नीचे की जाति की स्त्रियों से प्रसंगवश विवाह करने की छुट्टी थी। परन्तु ऐसा करने से उन स्त्रियों के मायके के लोगों की जाति नहीं बदलती थी। उदाहरण के लिए सुदेष्णा और काली-सत्यवती को ही लीजिए। जाति और वर्ण-संस्था की एक और विशेषता महाभारत-कथा में दिखाई देती है। नीचे की जातियां बहुधा ऊपर के वर्णों में जाना चाहती थीं, एक जाति से दूसरी जाति में नहीं। सब जातियों और वंशों के स्थान निश्चित दिखाई नहीं देते। नाग-कुलों का—विशेषत: राजवंशियों का बहुत ऊंचा दर्जा रहता था। परन्तु यह नहीं मालूम पड़ता कि उनका स्थान किस वर्ण में था। बहुत-से राजवंश, जो क्षत्रिय नहीं थे, आगे चलकर अपनेको क्षत्रिय कहलाने लगे। परन्तु बौद्ध-

काल में ऐसे प्रयत्नों में अक्सर सफलता नहीं मिलती थी। अभिषिक्त राजा होने पर भी गैर-क्षत्रिय बलशाली राजा तक को क्षत्रिय कन्या प्राप्त नहीं होती थी। यह बात पसेनदी कौसल और वासभखत्तिया की कथा से स्पष्ट मालूम होती है। भारतीय युद्ध के परवर्ती काल में वर्ण और जाति की समाज-व्यवस्था तथा नीचे की जाति का ऊपर के वर्ण में सम्मिलित होने का प्रयत्न (जो कभी-कभी संयुक्त हो जाता था), भारतीय युद्ध के काल में ही दृढ़ होने लगा था। उस समय क्षत्रिय कहलानेवाले कुल बहुत पहले से चले आ रहे थे। महाभारत-कथा को देखते हुए क्षत्रिय-कुल अपने क्षत्रियत्व की रक्षा बड़ी चिन्ता से करते थे। और साथ ही एक-दूसरे के परपरागत राज्यों के और क्षत्रिय-समाज के ऐसे विशिष्ट संगठन की सावधानी से रक्षा करते थे। क्षत्रिय छोटा भी क्यों न हो, परन्तु एक-एक प्रदेश से चिपटकर बैठा था। इसके विपरीत ब्राह्मण दूसरों के आश्रय पर अवलंबित रहने के कारण, एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते-आते रहते थे। अनेक प्रदेशों से तथा वहां की राजसभाओं से उनका साबका पड़ता ही रहता था। नाग और अरण्य-निवासी दूसरे लोगों से भी उनका संपर्क आता था, और शरीर-संबंध भी हो जाता था। उनसे होनेवाली संतति कई बार ब्राह्मण मानी जाती थी। क्षत्रियों से भी ऐसे संकर होते थे। परन्तु वे ब्राह्मणों जितने नहीं थे।

राजा होते हुए भी क्षत्रिय न हो सकने का उदाहरण कर्ण का है; और फौरन ही उसके बाद के समय का उदाहरण पसेनदी का है। इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों अथवा समूहो को अपनी जाति से क्षत्रिय वर्ण में जाने में यद्यपि सफलता मिली, तो भी प्रत्येक वर्ण में (१) प्राचीन प्रतिष्ठित घराने, (२) प्राचीन प्रतिष्ठित परन्तु मांडलिक और गैर-धनिक घराने, तथा (३) नये सिरे से भीतर प्रवेश चाहने और पा जानेवाले बलशाली धनिक कुल थे। कुलों के समूह अपनी-अपनी विशेषताओं की रक्षा किया करते थे। सिर्फ नये मिले घराने पुरानों से शरीर-संबंध जोड़कर वे मूलत: क्षत्रिय हैं या ब्राह्मण हैं, यह दावा किया करते थे। वर्णान्तर्गत ऊंच,

नीच, नये-पुराने, ऐसे गुट (समूह) हुआ करते थे। व्यक्ति अथवा जाति ऊपर के वर्ण में प्रवेश पाने की कोशिश करते थे। उस समय उस वर्ण के सब पुराने लोग प्रमाणित माने गये कुटुम्बों में विवाह-संबंध करने का प्रयत्न करते थे, ऐसा दिखाई देता है। जाति और वर्ण में इस तरह के परस्पर के संबंध भारत के सारे इतिहास में दिखाई देते हैं। संसार-भर के सब समाजों में, सभी समय प्रचलित एक सामाजिक प्रक्रिया का ही यह भारतीय उदाहरण समझना चाहिए। एक वर्ण में बहुत-सी जातियां क्यों हैं, इसका यह एक कारण बताया जा सकता है। वर्ण-संकर के संबंध में जैसा आक्रोश सनातन है, वर्ण-संकर-क्रिया भी वैसी ही सनातन है।

वर्ण और जाति से युक्त समाज का यह महाभारत-कालीन चित्र बहुत उभरा हुआ नहीं है। यही कहा जा सकता है कि उस समय वर्ण दृढ़ थे, जातियों का अस्तित्व था और वैश्यों के कर्म परवर्ती काल में शूद्रों के हो गये थे। इसके विपरीत महाभारत का कौटुम्बिक चित्र बहुत ही उभरा हुआ, सूक्ष्मता लिये हुए तथा आज तक रूढ़ पितृ-प्रधान-कुटुम्ब का प्रतिनिधि था। यह चित्र इतना ब्यौरेवार है कि उसके कारण उसमें आगे जाकर जो छोटे-मोटे परिवर्तन हुए, वे एकाएक समझ में आ जाते हैं। भारत-भर में आज जो पितृ-प्रधान सामाजिक कुटुम्ब रूढ़ हो गया है, उसीका वर्णन महाभारत में आया है। हस्तिनापुर-स्थित कौरवों के, पांचाल-स्थित द्रुपदों के और द्वारका-स्थित यादवों के ऐसे ही कुटुम्ब थे। एक समय में इन कुटुम्बों की चार-चार पीढ़ियों के लोग एक जगह रहते थे। इन कुटुम्बों के पुरुष उन्हींमें जन्मे होते थे। (दत्तक लेने या देने का अपवाद ही होता था)। कुटुम्ब में जन्मी लड़की दूसरे के घर जाती और दूसरे के घर की लड़की सास, पत्नी और पुत्रवधू के रूप में कुटुम्ब में आती। कुटुम्ब में जन्मी लड़की कन्या और पुत्री होती थी और ऐसा लगता है कि उसका अन्तःपुर अलग ही होता था। दूसरे के घर से आनेवाली लड़की को साधारणतः 'वधू' कहते थे। उसका भी अन्तःपुर अलग होता था। इस काल की एक विशेषता यह थी कि संबंध-वाचक शब्द बहुत कम थे, 'पिता' व 'तात' इन्हीं शब्दों से पिता, पिता के भाई का बोध होता था। पिता की पत्नी व पिता के भाई की पत्नी माता 'अथवा' 'अम्ब' कही जाती थी। अपने पिता के या पिता के भाई के पुत्र, अपने पिता के या पिता के भाई की संतान 'भाई' अथवा 'बहिन' कहे जाते थे। इसी प्रकार स्वयं की अपनी या अपने भाई की सन्तान 'पुत्र' व 'कन्या' कही जाती थी। महाभारत में भाई-भाई के पुत्रों के कलह की कथा है। परन्तु पिता और चाचा, सगा भाई और चचेरा भाई, बेटे और भतीजे, ऐसे अलग-अलग शब्द नहीं हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है। वारणावत को जाते हुए धर्मराज, धृतराष्ट्र और गान्धारी से 'तात' और 'अम्ब' कहकर बिदा मांगते हैं, यह जानते हुए भी कि ये हमारा घात करनेवाले हैं। वह उन्हें नमस्कार करके दीनता और नम्रता से उनके सामने खड़े रहते हैं। उस समय 'तात' और 'अम्ब' यह सम्बोधन आज के पाठक को तो अधिक ही करुण मालूम होते हैं। 'पुत्र' कहकर पांडवों को दिया गया उनका आशीर्वाद भी बहुत ही दाम्भिक मालूम होता है। जब पांडवों को बन में भेजा गया, तब विदुर ने उनकी ओर से धृतराष्ट्र से झगड़ा किया। तब भी धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा—'अरे, तुम इतने विह्वल होते हो तो जाओ न उनके साथ ही। मेरे ऊपर क्यों बड़बड़ाते हो ?

कथं हि पुत्रम् पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥ (३-५-१७)

पांडवों के खातिर मैं अपने लड़कों को कैसे छोड़ दूं ?

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्षन् ॥ ३-६-१७॥

वह फिर आगे कहता है—वे भी निःसंशय मेरे ही पुत्र हैं। परन्तु दुर्योधन मेरे ही शरीर से उत्पन्न हुआ है। दूसरों के लिए अपनी देह को छोड़ दो, समानता की इच्छा रखनेवाला कौन समझदार ऐसा कहेगा ? वृद्ध धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों को मारकर भी धर्मराज उन्हें 'तात' और 'अम्ब' ही कहता रहा था। इन शब्दों का उच्चारण करते समय ऐसा भी कई बार हुआ होगा कि खुद उसकी जीभ भी लड़खड़ाई

होगी। आज भी कुटुम्ब पितृ-प्रधान और संयुक्त हैं। परन्तु सगे और चचेरे यह भेद उत्तर भारतीय सब भाषाओं में स्पष्ट किया गया है।

महाभारत-काल में 'पतिव्रता' शब्द का अर्थ कुछ दृष्टियों से, परवर्ती काल की अपेक्षा भिन्न था। उस समय यदि औरस संतति न हो, तो नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति करने का मार्ग, दत्तक लेने की अपेक्षा, अच्छा समझा जाता था। बाद के समय में नियोग पिछड़ गया और दत्तक लेने का रिवाज शुरू हो गया। इससे स्त्री को अधिक मान व गौरव मिला हो, ऐसी बात नहीं। पहले स्त्री क्षेत्र थी, उसे पति के आदेशानुसार किसी अन्य पुरुष से पुत्रोत्पत्ति करानी पड़ती थी। बाद के काल में यह सख्ती मिट गई। परन्तु उसके साथ ही स्त्री से कुमारावस्था में या विवाह होने पर भी कोई भूल हो गई, तो उसे क्षमा करने की वृत्ति भी बिल्कुल नष्ट हो गई। स्त्री के साथ यदि बलात्कार होता, तो पहले के क्षत्रिय उसे छोड़ नहीं देते थे। उसके बाद का हिन्दू समाज अलबत्ता पवित्रता का—सिर्फ स्त्रियों की पवित्रता के विषय में ही—हामी, हठी और संकुचित हो गया कि वह अपनी स्त्रियों की न तो रक्षा ही कर सका और न अपने घर में उन्हें वापिस ले ही सका। आज तक यह भयंकर मनोवृत्ति कायम है। भारत के बंटवारे के समय इसका बड़ा ही कटु अनुभव हुआ है।

जिस कुटुम्ब में हमारा जन्म हुआ, वह और जिससे नाता-रिश्ता हुआ वह कुटुम्ब, इन दो विश्वों में ही सारा जीवन समाविष्ट था। पिता का कुटुम्ब इनमें मुख्य, पर उनमें यदि कलह या झगड़ा हुआ तो उसमें सब नाते-रिश्तेदार, सगे-संबंधी सहायक होते थे। अतएव कुटुम्ब के बड़े बुजुर्गों का रुख कलह मिटाने की ओर रहता था। एक बार अन्याय भले ही हो जाय, परन्तु प्रकट कलह या संघर्ष वे नहीं चाहते थे। जो हिस्सा मांगता था, उसे यदि मीठी बातें करके हिस्से से महरूम कर दिया तो कोई बात नहीं। वह चुप बैठ जाय। परन्तु उसे हिस्सा न मिला, इसलिए उसे अलग नहीं हो जाना चाहिए, यही रिवाज था। अलबत्ता सगे-संबंधी अपने दामाद, साले व बहनोई के लिए कोशिश करते थे। पाण्डवों के सभी सहायक उनके सगे-संबंधी थे। यादव मां के मायके के, द्रुपद पत्नी

के मायके के और विराट, पुत्र-वधू के मायके के। अपनी बहन के अन्धे पति के और भानजों के लिए जान देनेवाला गान्धार-राज शकुनि जो कौरवों का तरफदार था, वह भी सम्बन्धी ही था।

यह पितृ-प्रधान कुटुम्ब तत्कालीन समाज का आधार-स्तम्भ था। सामाजिक मूल्य समाज-धारणा के लिए होते हैं। ऐसे कुटुम्बों के पारिवारिक मूल्य उस समाज में प्रवर्तित थे। पुरुषों का मुख्य गुण था पितृ-भक्ति और भाईचारा। पितृ-प्रधान कुटुम्ब को सुस्थिर रखने के लिए, विरोध या संघर्ष को टालने के लिए, इस गुण की आवश्यकता थी। इन कुटुम्बों में जो स्त्रियां स्थायी रूप से रहने के लिए आती थीं, वे पर-घर की होती थीं। उनमें पितृ-भक्ति अथवा भाईचारा—इन दोनों गुणों की अपेक्षा नहीं रहती थी। पति-भक्ति और ससुराल का अभिमान, इन गुणों की आशा रखी जाती थी। उनकी पितृ-भक्ति तभी तक रहती जबतक विवाह नहीं हो जाता, और वह भी पितृ-कुल की महत्ता सिद्ध करने के लिए। परन्तु एक बार जहां विवाह हुआ नहीं कि मायके से सम्बन्ध तोड़कर, अपना सर्वस्व पति के लिए लगाना और उसके कुल की महत्ता या गौरव कायम रखने की चिन्ता रखना, यही उसका कर्त्तव्य हो जाता। माता के रूप में बच्चों की देख-भाल, पत्नी के रूप में जिधर पति ले जाय उधर जाना, और पुत्रवधू के रूप में सास-ससुर की सेवा करना, ये उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। सामाजिक मूल्य उस-उस काल की तथा उस-उस समाज की आवश्यकता पर बहुतांश में आधारित होते हैं। क्या देश-काल-निरपेक्ष मूल्य भी हो सकते हैं? यह प्रश्न 'कृष्ण-वासुदेव' नामक पिछले लेख में उत्पन्न हुआ था। हमारे तत्त्वज्ञान या जीवन-दर्शन की भूमिका यही रही है कि सर्वथा देश-काल निरपेक्ष मूल्य हो ही नहीं सकते। वह तर्क से कठोर होने पर भी ठीक मालूम होता है। इसका जिक्र आगे आयेगा। यहां तो इतना ही कहा जा सकता है कि एक खास वर्ग के विशिष्ट कुटुम्ब-पद्धति के पोषक मूल्य जैसे होते हैं वैसे मूल्य ही, सर्व-साधारण मानव-जाति पर लागू होनेवाले रहते हैं। परन्तु एक काल के मूल्य दूसरे काल में घटिया मालूम होते हैं। द्रौपदी चीर-हरण के समय ऐसे ही व्यापक मूल्यों का प्रश्न उपस्थित हुआ था। यक्ष-प्रश्न

के प्रकरण में इस व्यापकता की छान-बीन हुई है। सब लोगों पर लागू होनेवाला धर्म तो एक था ही, परन्तु हम आज कहते हैं कि खाण्डव-दाह के मौके पर उस धर्म को कृष्ण-अर्जुन भूल गये। शायद उस समय उन्हें ऐसा नहीं मालूम हुआ था। परम वैष्णव तथा परम कारुणिक तुकाराम कहते हैं कि अपने पुत्रों के साथ जैसी दया-माया हम रखते हैं वैसी ही अपने दास-दासियों के साथ भी होनी चाहिए। परन्तु आज का मनुष्य कहेगा—"दास और दासी शब्दों से व्यक्त होनेवाले दास्य का समाज में रहना क्या अन्याय नहीं ?" परन्तु यह वाद तो सनातन है। कोई भी विचारशील व्यक्ति यह मानेगा कि आज तक तो कोई ऐसा समाज बन नहीं पाया है, जिसमें सब व्यक्तियों को न्याय और समता मिली हो। और यह भी प्रश्न है कि ऐसा समाज कभी बन भी सकता है ? परन्तु इस प्रश्न का यहां उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं है।

इस संदर्भ में महाभारत की कुछ घटनाओं पर विचार करना उचित होगा। हम पहले कह चुके हैं कि धृतराष्ट्र और पाण्डु विचित्रवीर्य की विधवा रानियों के नियोग से उत्पन्न पुत्र थे। स्मृति में नियोग का अर्थ है बड़े भाई की विधवा से छोटे भाई के द्वारा पुत्रोत्पत्ति करना। व्यास सत्यवती का बड़ा पुत्र था, अर्थात् विचित्रवीर्य का बड़ा सौतेला भाई था। इस तरह स्मृति के आधार पर संतति उत्पन्न करने का यह प्रयोग नियोग की क्रिया में नहीं आता। व्यास को देवर के तौर पर नहीं; परन्तु एक ब्राह्मण के तौर पर 'नियुक्त' किया और इसलिए उसे नियोग कहें तो फिर—

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे आगमिष्यति॥

सास का यह कहना वधू को धोखा देने के लिए ही था क्या ? उद्योग-पर्व में कर्ण-कुन्ती-संवाद के समय, कुन्ती की कुमारावस्था में पुत्र होने के प्रकार के लिए भी 'नियोग' शब्द का प्रयोग किया गया है। पर इसी अर्थ में नियोग शब्द दूसरी जगह नहीं आता। इसके दो उत्तर हो

सकते हैं : (१) जो कुछ गलत प्रकार से हो रहा था, उसके लिए एक रूढ़ शब्द का प्रयोग करके उसे योग्य व उचित, आपद्धर्म के रूप में दर्शाना। (२) 'नियोग' शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं था। स्त्री से अमुक के द्वारा ही संतति उत्पन्न की जाय, ऐसा कोई रूढ़ नियम नहीं था। इनमें से कौन-सा विकल्प स्वीकार किया जाय, इसका निर्णय करना, (महाभारत के) वर्तमान संस्करण की सहायता से संभव नहीं। वर्तमान संस्करण जिन हस्तलिखित संस्करणों की जांच करके तैयार किया गया है उनमें पुराने-से-पुराना ईस्वी सन् ९०० से १००० के बाद का नहीं है। इस समय जो प्रामाणिक संस्करण मिलता है, उसकी आंतरिक सामग्री की छानबीन होने के बाद जब कोई और नया संस्करण निकलेगा तभी ऐसे प्रश्नों का निर्णय हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

दूसरी घटना है शल्य का अपने भानजों के पक्ष में न लड़कर कौरवों से मिल जाना। इस विषय में भी पहली कठिनाई है—शब्दों के अर्थ-सम्बन्धी। यह ऊपर बताया जा चुका है कि महाभारत में भाई-बहन, बाप-मां आदि सम्बन्धवाचक शब्द सभी एक तरह के सगे-सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसका अर्थ यह होता है कि भाई सगा है या सौतेला या चचेरा यह संदर्भ के बिना समझ में नहीं आता। शल्य माद्री का सगा भाई था या दूर का चचेरा भाई, इसका पता नहीं लगता। अपनी बहिन के दुर्भाग्यपूर्ण मरण से शल्य पाण्डवों के प्रति रुष्ट हो गया हो, तो ऐसा भी कहीं वर्णन नहीं आता। इस तरह का एक भी उल्लेख महाभारत में नहीं है। दूसरे यह कि जो घटना हमें दुर्भाग्यपूर्ण और विशेष संतापदायक मालूम होती है, उसी प्रकार वह शल्य को उस समय लगी हो, यह भी सम्भव नहीं मालूम होता। मद्र ने अपनी लड़की थोड़ा-बहुत धन लेकर, एक अभिषिक्त राजा को छोटी रानी के रूप में जान-बूझकर एक सौत के रहते दी थी, और उसे पुत्र भी हुए थे। पति के साथ वह सती हुई तो, पर यह तो खुद उसने अपने-आप अपनी इच्छा से किया था। तत्कालीन कितनी ही क्षत्राणियां ऐसा किया करती थीं। माद्री के बाद उसके लड़कों को सौतेली मां कुन्ती और भाइयों ने विलक्षण आत्मीयता के साथ निभाया था। अतः इस सम्बन्ध में शल्य को रुष्ट होने का कोई कारण नहीं था।

इस प्रसंग में एक और बात याद रखनी चाहिए, और वह यह कि भद्र-बाह्लिकों का हस्तिनापुर के राजकुल से पीढ़ियों का पुराना सम्बन्ध था। प्रतीप की एक रानी मद्रों की राजकन्या थी। उसका लड़का मामा के यहां दत्तक गया था। वह शन्तनु का सौतेला भाई था। उसका नाती या पोता सोमदत्ति कौरवों के दरबार में रहता था और कौरवों की ओर से लड़ा भी था। यही सोमदत्ति शल्य का काका होना चाहिए। शल्य का झुकाव उसी तरफ होना स्वाभाविक है, जिसके बड़े—बुजुर्ग-पक्षपाती हों। अर्थात् शल्य पाण्डवों पर रुष्ट हुआ या भानजों के प्रति अप्रामाणिक रहा हो, ऐसा नहीं कह सकते। यह युद्ध ही ऐसा विचित्र था कि न्याय-अन्याय की अपेक्षा कौन किसके कितना निकट और कितना दूर है, इसीसे यह निश्चित करना पड़ेगा कि कौन किस ओर से लड़ा। सच पूछिए तो इस युद्ध का नहीं, संसार की सारी छोटी-बड़ी लड़ाइयों का यही हाल होता है। यह कहीं नहीं देखा गया कि सारा न्याय एक तरफ हो, और सारा अन्याय दूसरी तरफ।

महाभारत में तीसरा प्रसंग और ऐसा आता है, जिसमें मूल्यों का प्रश्न फिर एक बार तीव्रता से उपस्थित होता है। पितृ-भक्ति सबमें बड़ा गुण माना जाता था। पितृ-कुल की रक्षा करना, उसकी सार-संभाल रखना, एक महान कर्त्तव्य था। ये उस समय के सामाजिक मूल्य थे। परन्तु मूल्यों की मर्यादा कुछ दृष्टियों से बहुत व्यापक अर्थात् कुटुम्ब से भी आगे, अथवा किसी समाज-विशेष से भी आगे होती थी, तो दूसरी दृष्टि से वह सर्वथा व्यक्तिगत भी होती थी। भीष्म के चरित्र में न्याय-अन्याय आदि का विशेष महत्व नहीं है। उसे कुल-रक्षण का उत्तरदायित्व अपना मालूम होता था। पाण्डवों का पक्ष न्यायपूर्ण है या कौरवों का इस विवाद में वह विदुर के जितना गहरा नहीं गया। बड़े कुल की उसने रक्षा की। वहीं वह छोटे से बड़ा हुआ। लड़ाई में जाहिरा तौर पर वह उसी ओर लड़ा या लड़ाई के लिए खड़े होने का नाटक जैसा किया। पिता के लिए सर्वस्व त्याग करके अपनी पितृ-भक्ति दिखलाई। विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर बैठाने का उसे बहुत आग्रह किया गया, भाइयों की विधवाओं से सन्तान उत्पन्न करने का भी उसपर जोर डाला गया, परन्तु

उसने किसीकी भी नहीं सुनी। कुल की रक्षा के लिए उसने गौण—दूसरे नम्बर कामार्ग स्वीकार किया, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा को आंच नहीं आने दी। कुटुम्ब और कुल-रक्षण करने के अपने कर्त्तव्य की अपेक्षा—लोक-दृष्टि से वह भी एक कर्त्तव्य ही था—उसे अपने वचन का बन्धन अधिक मालूम हुआ। उसने इस बात का विचार नहीं किया कि अंतिम मूल्य चिरकालिक है या तात्कालिक, और उपयोगी है अथवा नहीं। वह मूल्य उसके स्वत्व का एक भाग बन गया था और उसने उसे टिकाये रक्खा। मूल्य की एक अंतिम मर्यादा भीष्म ने दिखा दी।

समाज-व्यवस्था के एक भाग के रूप में उस समय की राजनैतिक स्थिति का वर्णन कुछ अंशों में कृष्ण-वासुदेव नामक अध्याय में आ चुका है। उस समय के राज्य छोटे-छोटे और अरण्यों से घिरे हुए होते थे। प्रत्येक राज्य की गद्दी पर वंश-परंपरागत कुल का पुरुष बैठता था। बहुत-से राज्यों को जीतकर उनके प्रदेश पर कब्जा करके साम्राज्य स्थापन करने की प्रथा नहीं थी। जरासंध सम्राट् था। ऐसा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता कि उसने उत्तर और पश्चिम के राज्यों को अपने कब्जे में कर लिया हो। कर्ण अंग-देश का राजा था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जरासंध मगध-देश के पड़ौस का राज्य भी नहीं जीत पाया था; परन्तु वह लगातार युद्ध में लगा रहता था। पर ऐसा जान पड़ता है कि उसने कई राजाओं को बन्दी बना लिया था। वह अतिशय बलशाली और भारी-भरकम था। यादव, मत्स्य आदि लोगों को उसके भय से अपना देश छोड़कर भागना पड़ा था। इससे जरूर ऐसा अनुमान निकलता है कि उस प्रदेश को उसने जीत लिया होगा। उसका अन्त किये बिना धर्मराज का राजसूय-यज्ञ करना संभव नहीं था। राजसूय-यज्ञ सम्राट्-पद[1] का द्योतक था। परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए धर्मराज ने किसीका राज्य छीना नहीं था। राजसूय-यज्ञ वही करता था, जो समान श्रेणी के राजाओं में अपने शौर्य और औदार्य आदि गुणों के कारण सर्वोच्च होता था। कुछ राजाओं को जीतकर, कुछको वश में करके, कुछको मित्रता से और कुछको नाते-रिश्तों में बांधकर जब सबसे मान्यता प्राप्त कर लेता, तब

१. सम्राट् शब्द का मूल अर्थ अच्छा राजा है।

राजा को राजसूय-यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होता था। यह महत्ता प्राप्त करने के लिए शौर्य और दातृत्व की आवश्यकता होती थी। राजा सामन्तों को निमंत्रित करके उनका उचित सत्कार करता था। हजारों ब्राह्मणों तथा दूसरे आगतों को दक्षिणा देनी पड़ती थी। इस तरह से पहले दर्जे का सम्मान प्राप्त करने का उद्योग दूसरे मानव-समाज में भी दिखाई देता है; और उसके लिए राजसूय-जैसे सामाजिक संकेत भी रूढ़ हुए दिखाई देते हैं। 'अकिंचनत्वं मखजं व्यनक्ति' यह कोरी कवि-कल्पना ही नहीं थी। इस प्रकार का अकिंचनत्व एक बड़ा सामाजिक दर्जा था। यह धारणा सभी मानव-समाज में रूढ़ है। श्रीहर्ष प्रत्येक छह वर्ष में सर्वस्व दान कर देता था, ऐसा इतिहास में वर्णन आता है। एक कुल में राजसूय-यज्ञ एक पीढ़ी में एक बार ही होता था। इसलिए दुर्योधन राजसूय-यज्ञ नहीं कर सकता था। ऐसा ही अश्वमेध के विषय में भी था। यादवों में वसुदेव ने अश्वमेध किया था। कुरुकुल में धर्मराज ने किया। ऐसों को समान श्रेणीवालों में प्रथम की संज्ञा दी जाती थी। महाभारतीय युग के बाद उत्तर भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। बुद्ध के समय में 'पसेनदी कौसल' नाम का सम्राट् था। इसके बाद मगध में ही एक के बाद दूसरे, पहले मौर्यों के, फिर गुप्तों के साम्राज्य हुए। इस सम्राट्-पद में (इन सम्राटों का) दूसरे राज्यों पर अतुल वर्चस्व होता था। महाभारत काल की 'समानों में प्रथम' संज्ञा गंगा के पानी में बह गई थी, परन्तु अन्य बहुतेरे मानव-समाजों में यह दिखाई दे जाती है। उत्तर की पशु-पालक टोलियों में यह नियम ठेठ मध्य युग तक प्रचलित था। जर्मनी में बिस्मार्क तक जिन छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व था वे इसी प्रणाली पर बने थे। भारत में यद्यपि एक के बाद दूसरे साम्राज्य बनते रहे, तो भी छोटी-छोटी अनेक जातियों में पूर्वोक्त नियम और उन नियमों के साथ-साथ होनेवाली विचार-धाराएं दिखाई देती हैं। राजपूतों के भिन्न-भिन्न कुलों के परस्पर रिश्ते कुछ ऐसे ही थे। मराठों के घरानों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा ही था। शिवाजी के लिए औरंगजेब-जैसे विदेशी से लड़ना जितना कठिन था उससे अधिक भारी पड़ा, उन्हें अपनी बराबरी के

मराठा-कुलों से अपनेको राजा, सबसे मुख्य छत्रपति, मनवा लेना। पुरानी रचना और पुराने मूल्य सर्वथा त्याज्य कभी नहीं होते। मानवों को जिस तरह का अनुभव एक बार हुआ, वैसा ही जब बार-बार होता है, तब इन पुराने मूल्यों की और इनकी रचना की याद रखना उपयुक्त होता है। संसार की वर्तमान परिस्थिति में, बड़े साम्राज्यों का विलय हो जाने के कारण, बराबरी के अनेक घटकों को एकत्र किस प्रकार रहना चाहिए, यही समस्या प्राचीन भारतीयों के सामने भी आई दिखाई पड़ती है। महाभारत में देवता की कल्पना अधिकांश में वेद व ब्राह्मण-कालीन है, पुराणकालीन नहीं। महाभारत में मूर्ति और मंदिरों का उल्लेख नहीं है।[1] शिव-स्तोत्र और विष्णु-सहस्रनाम अथवा सूर्य के अनेक नाम बाद में जोड़े गये और प्रक्षिप्त मालूम होते हैं। भांडारकर संस्करण में इनके होने पर भी इसमें संदेह नहीं कि वे बाद में ही जोड़े गये हैं। सूर्य-पूजा (प्रातः-सायं) पूर्वोक्त तीन देवताओं की पूजा की तरह पुरानी हो सकती है। त्र्यंबक अथवा शिव बाद के और शान्ति-पर्व में वर्णित विष्णु-सहस्रनाम सबमें अंतिम होना चाहिए। महाभारत का धर्म यज्ञ-प्रधान दिखाई देता है। राजा का पुरोहित अग्नि प्रज्वलित रखकर नित्य आहुति देता था। यज्ञ में पशुओं की आहुति तो होती ही थी और अश्वमेध में तो निश्चित रूप से होती

१. 'देवायतन' शब्द महाभारत में चार बार आया है। (आदि पर्व ६४-४०, अनुशासन पर्व १०-१८, आश्वमेधिक ६९-१५ और भीष्म पर्व १०८-११)। इसके अलावा भीष्म पर्व, अध्याय १०८ में भिन्न-भिन्न अशुभ शकुनों का वर्णन है। उसमें देवायतनों में,देवताओं के कंपित होने, हँसने, रोने, नाचने आदि का वर्णन है। यह वर्णन बाद के काल में आनेवाले टकसाली वर्णनों की तरह है। इससे ऐसा मालूम होता है कि ये बाद में जोड़े गये हैं। भीष्म पर्व का श्लोक तो बहुत ही बाद का मालूम होता है। उसमें वर्णित कुल-देवता अथवा किसी व्यक्ति के खास देवत्व की जो कल्पना की गई है वह उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में बार-बार आती है। महाभारत में यह कल्पना एक ही बार आई है तथा उसका संबंध किसी और दूसरी बातों से नहीं है।

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः।
कम्पंते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च॥

थी। अन्य यज्ञों में भी बहुत करके होती रही होगी। फिर भी बाद के समय में यज्ञ-क्रिया जिस महत्व तक पहुंच चुकी थी उतना महत्व उसे नहीं मिला होगा। इन्द्र, सूर्य, रुद्र आदि को देवता माना गया था और उन्हें हविर्भाग पहुंचानेवाला अग्नि था। स्वर्ग की और इन्द्र-लोक की कल्पना थी। नरक की कल्पना इतनी स्पष्ट तो नहीं हुई थी, पर वह होनी चाहिए। पितृ श्राद्ध होता था। पुनर्जन्म और कर्म पर भी विश्वास था। उसीके साथ आत्म-अनात्म-विचार और धर्म क्या, अधर्म क्या, इसका भी विचार बार-बार किया गया है?

धर्म की कदम-कदम पर इतनी चर्चा हुई, फिर भी धर्म की व्याख्या, उसका आचार, रूप और अन्तरंग कभी स्पष्ट हुआ ही नहीं। महाभारत में वर्णित तात्विक उहापोह की दृढ़ता बाद में नहीं रही। भक्ति-मार्ग के कारण सभी विचार भोथरे हो गये। कुछ दृष्टियों से अलबत्ता धर्म का साधारण-स्वरूप वैसा ही बना रहा। उस धर्म से उत्पन्न बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव इन संप्रदायों को छोड़ दें, तो हिन्दुओं का 'धर्म' अनामिक, लचकीला और व्यक्तिगत ही बना रहा। उसे जो नाम मिला, वह भी विदेशियों से। उससे पहले उसका कोई नाम ही नहीं था। आज भी किसी भी विचारशील हिन्दू के लिए 'धर्म' का पूर्ण स्वरूप बताना संभव नहीं है। हरएक यही कहेगा कि जो मैं समझता हूं वह तुमको बतलाता हूं। हमारी इस असहायता को देखें, तो फिर हिन्दू-धर्म का निश्चित स्वरूप बतानेवाले पाश्चात्यों की बुद्धि और साहस की सराहना ही करनी होगी।

प्रत्येक प्रसंग में धर्म क्या और अधर्म क्या, इसकी संवादात्मक चर्चा जितनी महाभारत में है, उतनी दूसरे किसी भी ग्रन्थ में दिखाई नहीं देती। अन्य ग्रन्थों में जैसे बाइबिल, कुरान आदि में धर्म क्या है, यह निश्चित रूप से बताया गया है। उसमें संशय नहीं उत्पन्न होने दिया गया है, परन्तु महाभारत में इस तरह का विवरण कहीं नहीं मिलता। महाभारत की कथा जो मन की थाह लेती है वह इसी कारण। मानव-जीवन क्षणभंगुर है, असार है, इसका कोई अर्थ नहीं। मनुष्य अकेला आया है और अकेला चला जाता है, इस तरह की विचार-

परंपरा और उसपर आधारित असफलतायुक्त विदारक साहित्य फ्रांस, इंग्लैंड और अमेरिका में पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में बहुत प्रकाशित हुआ है। ऐसा विचार होता है कि यह पश्चिमी साम्राज्यों के अस्त होने के बाद का वैराग्य है, अन्तकाल की वेदना है। विजय के क्षण में "जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे" कहकर दुःख से रोनेवाला धर्मराज, और यह विश्वास होते हुए भी कि मैं सबको मार सकता हूं,

"एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥"

ऐसा कहनेवाला अर्जुन, इनकी धर्म और मानवीय यश की विफलता का भान अधिक तीव्र और अधिक आंतरिक मालूम होता है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

अर्जुन को यह स्पष्ट और निश्चित रूप से दिखाई देता था कि ये लोग मारे जानेवाले हैं और हमें शोक से संतप्त होना पड़ेगा। ऐसे समय इन्हें मारना ही नहीं चाहिए। जो मिलनेवाला है उसकी कीमत भारी पड़ेगी। ऐसा महसूस होना, स्वजनों के प्रति प्रेम और दया को दिखलाता है। श्रीकृष्ण का उत्तर एक अर्थ में उत्तर था ही नहीं। ये अन्यायी हैं और इन्हें मारना ही चाहिए, इस तरह के न्याय पर आधारित उसका एक भाग है। परन्तु अर्जुन का उद्गार न्याय-अन्याय पर आधारित नहीं था। उसका मुख्य जोर न्याय-अन्याय पर नहीं, बल्कि प्राप्त परिस्थिति और समाज में उसके स्थान पर है। साथ ही, इस बात की ओर भी झुकाव है कि मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है और बार-बार आने-जानेवाला है। एक बार हम इसका विचार करने लगें कि मनुष्य का विश्व में क्या स्थान है, तो सभी कुछ तुच्छ मालूम होता है। परन्तु कृष्ण का कहना यह नहीं था। 'ब्रह्म सत्य' तक पहुंचने के बाद सभी कुछ मिथ्या है। परन्तु वहांतक पहुंचने के पहले इस मिथ्यात्व को मानकर प्राप्त कर्तव्य से अपने

को बचाना संभव नहीं है। यह कृष्ण की भूमिका थी। एक दृष्टि से सभी मानवीय मूल्य सापेक्ष—दिक्काल सापेक्ष—हैं, अतः पूर्ण सत्य नहीं होते। दूसरी दृष्टि से इस अपरिपूर्ण मानव-योनि में वही हमें दिशा दिखाते हैं, और जीवन में अर्थ डालते हैं, यही कृष्ण का कहना था। अलिप्त रहने का अर्थ नवीन साहित्य में मिलनेवाला स्ट्रेंजर (आगंतुक) अथवा विट्नेस (साक्षी) की तरह नहीं। वैसा रहना संभव ही नहीं। "अर्जुन, तुम कुछ भी कहो, तुमसे युद्ध किये बिना रहा नहीं जायगा।" (प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।) फिर यों जबरदस्ती से, अनिच्छा से, कुछ करने की अपेक्षा आंखें खुली रखकर, परिणाम को ध्यान में रखकर, युद्ध करो। आत्म-विस्मृति न होने देते हुए करो, ऐसा कृष्ण का कहना था।

भारतीय युद्ध के समय में भक्तिमार्ग का प्रसार नहीं हुआ था। अर्जुन कृष्ण का भक्त अर्थात् प्रिय सखा था। कृष्ण ने कितना ही जोर देकर कहा तब भी अर्जुन ने जिन दो व्यक्तियों को न मारने के लिए कहा था, उन्हें आखिर नहीं ही मारा। 'कथं भीष्मम संख्ये, द्रोणं च मधुसूदन। इशुभिः प्रतियोत्स्यामि' यह अर्जुन ने कहा था। भीष्म को—शिखण्डी के बाणों से जर्जर हुए भीष्म को—निरुपाय होकर उसने रथ से नीचे गिरा दिया। भीष्म भूमि पर गिर पड़ा और वह पड़ा ही रहा। इससे लड़ाई का रास्ता खुल गया। द्रोण को अर्जुन ने मारा ही नहीं। फिर भी इन दोनों का तथा दूसरों का मरण उसने देखा। अपने प्राणों से प्यारे कृष्ण का भी मरण उसने देखा। संसार के सुख और दुःख का, मान-हानि का लबालब भरा प्याला पीकर तथा अपने पैरों से जहांतक जाते बना, वहांतक जाकर वह गिर पड़ा और मर गया। ऐसा मरण अर्जुन ने अंगीकार किया। अर्जुन ही नहीं, दूसरे सभी कुन्ती, द्रौपदी, धृतराष्ट्र गान्धारी आदि कुछ इसी तरह जीये और इसी तरह मरे। जो कुछ उद्योग करना था, सो किया। प्रसंगानुसार त्याग भी किया; परन्तु इस आकांक्षा से नहीं कि इसके फलस्वरूप कोई लोकोत्तर वस्तु मिल जायगी। महाभारत का कथा-वृत्तान्त भी जीवन के इसी मार्ग के अनुरूप कठोर और प्रखर है।

इसके आगे के काल के मूल्यों की तथा देवादिकों की कल्पना और साहित्य, इन सबका रुख ही कुछ अलग हो गया। एक दृष्टि से विश्व की

मनोभावना का गला रुंध गया। समग्र मानव-जाति के प्रति करुणा उत्पन्न हुई और विचारों में शिथिलता आ गई। दूसरों के लिए जो करुणा उत्पन्न होती है, उसका उद्गम स्वयं अपने प्रति होनेवाली करुणा में निहित है। हाइडेगर ने इस भाव का विश्लेषण बहुत अच्छी तरह किया है। अस्ति अर्थात होने का भाव (अर्थात् जीव) नाशमान है। जीव जन्म-मरण दोनों को साथ लेकर ही आता है।

जेथ उदो होये अस्तभावेया चि लागि।
मृत्यु उदयाचां परिवरीं। गर्भ गिंवसी।

(ज्ञानदेवी—६।४६७-४६-)

जो है, उसे न होने का भय सदा रहता है। अपने मन के भय से दूसरों के विषय में भय की कल्पना करके जीव सारे संसार की चिन्ता में उलझ जाता है। अर्थात् विश्व की चिन्ता और भय ये सब अपने विषय में प्रतीत होनेवाली चिन्ता का दूसरों पर किया गया अध्यारोप है। रोग, वार्धक्य और मृत्यु को देखकर बुद्ध के मन में उपरति हुई और उसने उपदेश दिया—"संसार में जितने लिप्त रहोगे उतने ही अधिक वहां भय-स्थान हैं। इसलिए जग में लिप्त मत रहो।" ठीक इसके प्रतिकूल महाभारत और ब्राह्मणों की शिक्षा "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" सभीके सिद्धान्तों की बुनियाद है। 'ध्रुवम् जन्म मृतस्य च' यह बुद्ध और कृष्ण का भी सिद्धान्त है, हाइडेगर का ही नहीं। परन्तु एक जन्म हो या अनेक, सब मृत्यु में ही नाश को प्राप्त होते हैं। अतएव फलाशा न रखकर खुली आंखों कर्म करो। कर्म-संन्यास कठिन, लगभग अशक्य, यह कृष्ण का कहना है। 'हो सके तो संन्यास लो और गृहस्थाश्रमी की भिक्षा पर रहो।' यह बुद्ध की शिक्षा है, तथा "जो है वह यह है, आगे कुछ नहीं, पीछे भी कुछ नहीं था; इस परिस्थिति में यहीं का विचार करो, व्यर्थ ही मूल्यों के चक्कर में न पड़ो।" यह है हाइडेगर के सिद्धान्त पर आधारित वर्तमान लेखकों की तीसरी भूमिका। पहली भूमिका सुदृढ़, दूसरी पलायनवादी ही नहीं, परस्पर-विरोध से पूर्ण। बड़ी संख्या में संन्यास लेनेवाले भिक्षुकों को संपन्न, दानशूर, गृहस्थाश्रमी

कुटुम्बों की भिक्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए संन्यास-धर्म को टिकाने के लिए गृहस्थाश्रम आवश्यक है। इस भूमिका में यह अन्तर्गत विरोध दिखाई देता है। तीसरी भूमिका तो बिल्कुल निरुपाय और निराशावादी है। दूसरी और तीसरी भूमिका में असामान्य करुणा भरी हुई है। बहुत बार अस्तित्ववादी (Existentialist) लेखन अति कठोर दिल और तोड़नेवाला होता है, परन्तु उसका उद्गम इस निश्चित मान्यता पर है कि मानव-जीवन विफल है।

जो चीज़ महाभारत-काल में नहीं थी, किन्तु बुद्धकाल में थी और आज भी है, वह है विभूति-पूजन और संघ-पूजन। 'बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।' यह सूत्र आज भी प्रचलित दिखाई देता है। विभूति ऐतिहासिक और धार्मिक व्यक्ति होते हैं। और संघ कहते हैं इन विभूतियों द्वारा स्थापित बौद्ध, ईसाई, कम्युनिस्ट आदि संघों को। विभूति-पूजा के उदर से ही भक्ति-मार्ग का जन्म हुआ है। विभूति अथवा देवता। इनसे एक ऐसी आशा उत्पन्न हुई कि वे विफलता से हमारा छुटकारा करा देंगे। उसमें से कुछ इकतरफा संहार के लिए तैयार करनेवाले थे। पर साथ ही अति रम्य, सुन्दर रचनाओं के साथ ही स्वप्निल और अवास्तविक लेखन का भी जन्म हुआ। देवता की कल्पना, भक्तिभाव, एकेश्वरी पंथ आदि ये कठिन वास्तविकता को भुलाने के प्रयत्न, सब बाद में आये। महाभारत में इनका कहीं पता नहीं था। इस दृष्टि से महाभारत एक 'युगान्त' ही है। संहार के लिए इकतरफा प्रेरित करनेवाला लेखन यहां नहीं हुआ, क्योंकि भारत बहुदेववाद से चिपका रहा; परन्तु उसका लेखन स्वप्निल अवश्य है। महाभारत में जो सर्वव्यापी निराशा और विफलता की भावना, कठोर और वास्तविक है, वह फिर बाद के भारतीय लेखन में आई ही नहीं। मनोभूमिका और साहित्य-संबंधी यह अंतर कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट ही कहा है कि नाटक दुखांत नहीं होना चाहिए। यह नियम बाद के नाटककारों ने इतनी ईमानदारी से निबाहा कि मूलतः दुखांतक कथा भी, 'उत्तर-रामचरित' जैसे नाटक में सुखान्त होने लगी। नायक-नायिका और उनके बच्चों का एक सुन्दर

कौटुम्बिक सम्मेलन में अंततः मिलन होने लगा। 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का भी अन्त इसी प्रकार होता है। एक खास प्रकार के लेखन में इसी तरह के चित्र आज पश्चिमी देशों में दिखाई देते हैं। कौटुम्बिक जीवन की क्रूर मोड़-तोड़ नित्य होती रहती है। अखबारों में कालम-के-कालम भरे उनके वर्णन आते हैं। परन्तु राजकाजी पुरुषों के जो चित्र अखबारों में आते हैं, वे अलबत्ता अपनी पत्नी-पुत्रादिकों के साथ के कुटुंबसहित होते हैं। इस प्रकार आज के पाश्चात्य देशों में दिखाई देनेवाला यह विरोध इन नाटकों में दिखाई देता है। अनेक पत्नियोंवाला वयस्क राजा, रानी के परिवार की या और कहीं दिखाई देनेवाली सुन्दर लड़कियों के पीछे लगा रहता है, बाद में उनका विरह होता है; और अन्त में जो पुनर्मिलन होता है, वह प्रौढ़ा प्रिया का और उससे उत्पन्न खासी बड़ी उम्र के लड़के-लड़कियों का! यह सभी मिथ्या है। यह प्रेम मिथ्या, यह विरह मिथ्या, कौटुम्बिक विह्वलता और हार्दिकता भी मिथ्या ही। और इन सबसे अधिक जो चीज़ बुरी लगती है, वह यह कि इन दृश्यों का वर्णन करनेवाले सचमुच के कवि थे। और उनका काव्य हृदय को छूता है; अलबत्ता यह भूलना होगा कि वह किसके विषय में और किस प्रसंग से लिखा गया है।

महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' और कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अध्ययन करने से पूर्वोक्त वचनों की हमें प्रतीति हो जायगी। महाभारत के राजा दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ही स्वार्थी और धूर्त थे। दोनों एक-दूसरे का शिकार कर रहे थे। शकुन्तला को आश्रम में पुत्र उत्पन्न हुआ। वह था उद्दण्ड। शरारतें करके सबको सताने लगा। तब कण्व ने शकुन्तला को विदा किया और राजा ने उसको पहचानकर भी आंखें फेर लीं। तब आकाशवाणी होती है और दुष्यन्त ने शकुन्तला और पुत्र को स्वीकार किया। लड़का तो राजा को चाहिए था, इसलिए शकुन्तला के जीवन की विडम्बना नहीं हुई। इस कथा में स्वभाव-दर्शन है। राजा के और विशेषतः शकुन्तला के, राजदरबार में हुए संवाद बहुत ही उत्तम बने हैं। उनमें कोप है, उलाहना है, असहायता है। कहानी सीधी है। तात्कालिक मूल्यों और रीति-रिवाजों में ठीक बैठ जाती

है। इस सरल और कुछ अंश में व्यापारिक कथा का रूपान्तर कालिदास ने एक रम्य स्वप्न-सृष्टि में किया। शाकुन्तल का चौथा अंक एक बार पढ़ने पर कभी उससे मन हटता ही नहीं। परन्तु मूल कथा की धार बिल्कुल भोथरी हो गई है। अकेली शकुन्तला को ही निर्दोष दिखाने से काम नहीं चला, तब अंगूठी का प्रकरण और दुर्वासा ऋषि के शाप को लाकर राजा को भी रागरहित बनाने का प्रयत्न किया; पर वह इतना सधा नहीं। अन्त का कौटुम्बिक मिलन तो इतना टकसाली है कि यदि कालिदास का कोई सुन्दर श्लोक अथवा उपमा उसमें न होती, तो वह पढ़ा ही नहीं जा सकता था। सभी पराकाष्ठा पर जाकर पहुंचते थे। पराक्रम, रागरहितता, विरह, शृंगार और शोक ये एक निश्चित सांचे में अत्युक्तिपूर्ण दिखाये गए हैं। द्रौपदी अर्जुन के लिए विरह-व्याकुल रहती थी, तब महाभारत में दो-चार श्लोक ही आते हैं। कुन्ती का सौतिया डाह और स्वयं अपने प्रति जो दया दिखाई गई है, वह अग्नि के समान चमकनेवाले एक ही श्लोक में। कर्ण की निराशा और विफलता एक वाक्य में। एक साहित्य रम्य, हृदयगम्य और नाद-मधुर तो है, किन्तु आभासमय; जबकि दूसरा कठिन, ऊबड़-खाबड़, अत्यन्त संक्षिप्त और वर्षों तक विचार-प्रेरक।

इसी तरह का अतिरेक पुराण-कालीन कथाओं में भी मिलता है। महाभारत में तो नहीं, परंतु 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में हरिश्चन्द्र की जो कथा आती है, वह परवर्ती पौराणिक कथा से मिलाकर देखने योग्य है।

हरिश्चन्द्र राजा ने पुत्र-प्राप्ति के लिए वरुण की प्रार्थना की और यह वचन दिया कि लड़का हुआ तो उसे वह वरुण के अर्पण कर देगा। वरुण की कृपा से राजा के पुत्र हुआ। उसका नाम रोहित रखा गया। पुत्र के जन्मदिन से ही वरुण राजा के पास जाकर लड़के को माँगने लगा, पर राजा ने "लड़का अभी बच्चा है, अभी तो उसे दांत भी नहीं आये हैं!" आदि इस प्रकार के भिन्न-भिन्न कारण बताकर वरुण को लौटा दिया। पुत्र के सयाना हो जाने पर जब राजा ने उसे कहा कि "अब तुझे बलि चढ़ाना है", तभी 'हुश्' कहकर रोहित धनुष लेकर घर से निकल गया और जंगल में भटकता रहा। वरुण ने छः साल तक उसे जंगल में भटकने

दिया। अन्त में वचन-भंग से क्रुद्ध होकर वरुण ने राजा को दंड दिया। वह दंड था, जलोदर का रोग। जलोदर का रोग होना वरुण की अकृपा का लक्षण समझा जाता है।

रोहित ने जंगल में अजीगर्त नामक गरीब ब्राह्मण के शुनःशेप नामक लड़के को सौ गायें देकर खरीद लिया। वह जंगल से घर आया और शुनःशेप को राजा को सौंपकर बोला, "मेरी बजाय इसे वरुण को दे दीजिए।" राजा ने वरुण से प्रार्थना की "अपना पुत्र तो मैं तुम्हें नहीं दे सकता; उसके बजाय मैं दूसरा ब्राह्मण-पुत्र बलि चढ़ा दूंगा, उसे आप अंगीकार कर लें तथा मुझे वचन से और रोग से मुक्त कर दें।" वरुण ने कहा—"क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की बलि मुझे अधिक पसंद है। तुम्हारी बात मुझे मंजूर है।" शुनःशेप को यज्ञ-स्तम्भ से बांधा गया और वरुण-प्रत्यर्थ यज्ञ शुरू हुआ। शुनःशेप को मारने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। तीन सौ गायें लेकर निश्चित समय पर लड़के पर प्राण-घातक वार करने के लिए उसका पिता अजीगर्त तैयार हो गया। यज्ञ में विश्वामित्र आदि बड़े-बड़े ऋषि आये थे। अब वह बलि दिया जायगा, यह देखकर शुनःशेप ने वरुण-समेत सब देवों से करुण प्रार्थना की। वरुण की स्तुति में वह स्तोत्र पढ़ने लगा और एक-एक श्लोक के साथ उसके पाश गलकर गिरने लगे। उषा ने प्रसन्न होकर शुनःशेप को मुक्त कर दिया। वरुण ने राजा को भी रोग-मुक्त कर दिया और जो मिला वह हविर्भाग लेकर चला गया। यज्ञ के अन्त में शुनःशेप ने अपने माता-पिता के यहां जाने से इन्कार कर दिया। "अपने पेट का गड्ढा भरने के लिए अपने ही पुत्र को जिन्होंने बेच दिया और उसे मारने को भी तैयार हो गये, वे मेरे मां-बाप ही नहीं।" उसके ऐसा कहने पर विश्वामित्र ने उसे गोद ले लिया।

यह है पुरानी कथा। पुराणों में यही कथा बिलकुल दूसरी तरह से कही गई है। वह इस प्रकार कि हरिश्चन्द्र राजा अपने स्वप्न में दिये वचन को पूरा करने के लिए राज्य छोड़ देता है। खुद अपनेको तथा स्त्री और पुत्र को बेच देता है और अन्त में वह अपनी पत्नी को मारने के लिए तैयार होता है। अपने दिये गए वचन पर दृढ़ रहने के

कारण, प्रसन्न होकर, विश्वामित्र ऋषि उसके मरे हुए पुत्र को जिला देते हैं और सारा राज्य भी उसे वापस लौटा देते हैं।

लेकिन 'ऐतरेय उपनिषद' का राजा हरिश्चन्द्र मनुष्य था। वरुणदेव तक को वह अपना पुत्र देने के लिए तैयार नहीं था। वचन-भंग के पाप से जलोदर हो जाने से वह दूसरा लड़का खरीदकर देने लगा, परन्तु उसने अपना लड़का नहीं दिया। मिन्नतें करना व मानता मानना देवता को प्रत्यक्ष वचन दे आने जैसा ही है। परन्तु राजा के नजदीक लड़के के मुकाबले वचन की कीमत नहीं थी। इसके विपरीत पुराण-कालीन राजा स्वप्न में दिये गए वचन को पूरा करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट भोगना मंजूर करता है। मनुष्य-स्वभाव से विसंगत बातें करता है और अन्त में उसे सबकुछ वापस मिल जाता है। यहांतक कि वचन-पूर्ति (अर्थात् राज्य-दान) भी होता ही नहीं। सत्य-वचनी होने के नाते यह एक मायाजाल ही हो सकता है।

हरिश्चन्द्र की कथा ही नहीं, बाद में आनेवाली और कथाएं भी इसी तरह की हैं। उनमें किसी एक गुण की परिसीमा दिखाई जाती है और अंत में होनेवाला सत्यानाश न दिखाकर सबकुछ अच्छा ही हुआ, ऐसा दिखाते हैं। नये युग की कथाएं इसी ढंग पर कही गई हैं। महाभारत-काल तक का साहित्य इससे उल्टा है।

महाभारत की कथा को ही लीजिए। उसके पात्र हाड-मांस के बने हुए एक खास समाज में रहनेवाले व्यक्ति हैं। वे कुछ काम करते हैं और चुपचाप उसके फल भी भोगते हैं। जीवन के चक्र को एक दिशा और एक गति मिली होती है। वह दिशा बदलती नहीं वह गति रुकती नहीं। वह व्यक्ति, फिर वह चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, राजा हो, धनी हो, रंक हो, देव हो; जीवन के निश्चित फेरे से उसका छुटकारा नहीं। कुछ दिन सुख के, ऐश्वर्य के, उत्कर्ष के, तो कुछ दिन दुःख के, कष्ट के अथवा सर्वनाश तक के। जीवन की यह गति न भीष्म छोड़ सका, न अम्बा छोड़ सकी, न धर्मराज छोड़ सका, और प्रत्यक्ष कृष्ण भी उससे मुक्त नहीं हो सके। 'महाभारत' 'इतिहास' के नाम से लिखा गया। पर ऐसा होते हुए भी व्यक्तियों की आशा-आकांक्षा, व्याकुलता, निराशा

इन सबका चित्रण उसमें हुआ है, किन्तु सब मानव धरातल पर। अतिमानुष चमत्कार करीब-करीब नहीं है, ऐसा कह सकते हैं। देव अथवा कोई शक्ति आकर मनुष्यों को संकट और निराशा से मुक्त करती है, ऐसा कहीं नहीं पाया जाता।

इन सबके पीछे आचार की और विचार की एक दृढ़ चौखट थी। जो कुछ करना है, वह धर्म समझकर, कर्त्तव्य समझकर। बहुत बार तो ऐसा लगता है मानो सबकुछ सामने तैयार रखा हुआ है, इसलिए करना ही था। इनमें सब सुख ही मिलेगा, ऐसी आशा कभी किसीको नहीं थी। यदि कुछ थोड़ा सुख मिला भी, तो उसके साथ ही बहुतेरा खो भी चुके थे। युद्ध में एक जीव मरता है और जो संसार की दृष्टि से जीतता है, वह सब सुख गंवाकर। इस कथा में मनुष्य की आकांक्षा-पूर्ति की गुंजाइश नहीं है। मनुष्य की आकांक्षाएं सब तरह पूर्ण कर दे, ऐसा कोई देवता नहीं है। मिथ्या इच्छा-पूर्ति की कल्पना ही नहीं है। मनुष्य और उसका देवता दोनों एक प्रचंड संसार-चक्र में पड़े हुए थे और उस चक्र को बदलने की सामर्थ्य किसीमें नहीं थी।

मानव-जीवन की मर्यादाएं महाभारत में स्वच्छ तथा स्पष्ट बताई गई हैं। इन मर्यादाओं का उल्लंघन करने की कोई भी स्वप्न-सृष्टि महाभारत में नहीं दिखाई देती। कहीं कुछ अघटित और अनहोनी हो जाय, किसी-न-किसीकी कृपा हो जाय और एकदम बुरे का अच्छा हो जाय—ऐसा कुछ यहां दिखाई नहीं देता। जहां कहीं कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया गया वहां सुख किंवा वैभव का आमिष नहीं दिखाया गया। प्रश्न था केवल सम्मानपूर्वक—गौरवपूर्वक—जीने का और मरने का। और यह सम्मान था जन्मजात मूल्यों की रक्षा करने का। जन्मजात शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। कुछ मूल्य समस्त मानव-जाति-संबंधी माने गये थे, तो कुछ दूसरे मूल्य अवलंबित थे, मनुष्य ने जिस तरह से जन्म पाया हो, उसपर। कोई क्षत्रिय था, तो कोई ब्राह्मण। कोई लड़की थी, तो कोई मां और कोई लड़का। और सब अपने जन्म-प्राप्त कर्त्तव्यों को पालन करते हुए उस स्थान से चिपटे हुए मूल्य की रक्षा करते थे। उन मूल्यों के अनुसार आचरण करने से जो कल्याण

होनेवाला था, वह ऐसा था जो जगत में दिखाई नहीं देता था, और मानव हाथों से होनेवाला न था।

इससे बिल्कुल उल्टी परिस्थिति इसके आगे के काल-खण्ड में दिखाई देती है। सत्य की, शौर्य की, सतीत्व की, भक्ति की कल्पनाएं पराकोटि तक पहुंच गई थीं। उनके वर्णन वास्तविक नहीं थे, और वे सब गुण भी मिथ्या ही थे, क्योंकि इन कल्पनाओं के अनुसार चलनेवाले मनुष्य को सब सुख प्राप्त होते थे। दुःख क्षणभंगुर मालूम होते हैं। मनुष्य जो एक खास तरह से रहता चलता है, वह मूल्यों की रक्षा करने की दृष्टि से करता है, या पुरस्कार के लालच में, यह समझ में नहीं आता। कथा, नाटक, काव्य समीपर इस रुख का प्रभाव था। अतः जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई, वे मूल में ही आभासात्मक, खोखले और असत्य मालूम पड़ते हैं। उस तरह चलने का केवल दिखावा किया गया मालूम होता है। हरिश्चन्द्र सर्वस्व देता है और पहले से कितना गुना अधिक प्राप्त कर लेता है! उत्तर-रामचरित में राम द्वारा मारा गया शम्बूक दिव्य रूप लेकर वापस लौटता है। सीता का धरती के पेट में समा जाना भी मिथ्या ही मालूम होता है। चांगुणा अपने पुत्र को मार डालती है, वह भी वापस मिल जाता है। यह सबकुछ सत्व-परीक्षा के खाते में आता है। परीक्षा में उत्तम अच्छे अंक मिल गये, तो प्रसिद्धि होती है, सम्मान मिलता है और जो कुछ खोया गया उसका दस गुना मिल जाता है। इस कीमिया में मानव-जीवन की कष्टदायक मर्यादा नष्ट होकर एक स्वप्नसृष्टि निर्माण होती है। नायक, नायिकाओं पर अपार संकट आते हैं; पर उनमें से वे बच जाते हैं। ये संकेत काव्य और नाटकों में सर्वत्र रूढ़ हो गये। महाभारत के बाद जो ऐसा युग शुरू हुआ, वह आज तक चला आता है। यह युग स्वप्नदृष्टा मनुष्यों का—जीवन से भयभीत मनुष्यों को जो प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देता—नहीं मिलता, वह साहित्य द्वारा प्राप्त करने का उद्योग करनेवालों का युग है। कुछ बौद्ध साहित्य, शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र भाष्य, और कुछ थोड़ी कथाएं आदि ग्रन्थों को छोड़ दें तो लगभग सारा ही साहित्य इसी ढर्रे पर रचा गया है।

इस सारे साहित्य को त्याज्य मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूं। उसका कुछ भाग अति सुन्दर है, परन्तु उसमें महाभारत की-सी प्रखरता—तेजी नहीं है। चिरकाल के लिए विचार-प्रेरक जैसा कुछ नहीं है।

उत्तरकालीन भक्ति-कथाएं तो इससे भी आगे बढ़ गई हैं। अजामिल की और चांगुणा की कथा इसी कोटि की है। अजामिल की कथा में तो सामाजिक मूल्यों का पाया ही बिल्कुल उखाड़ डाला गया है। चांगुणा की कथा में भक्ति के निमित्त किया गया त्याग भी मिथ्या और उस त्याग का मिला सवाया फल भी मिथ्या।[1]

भक्ति का अतिरेक सिर्फ ईश्वर-भक्ति में ही नहीं, बल्कि गुरुभक्ति—व्यक्तिपूजा—में भी दिखाई देता है। "**यानि अस्माकं सुचरितानि तानि गृहीतव्यानि नो इतराणि**" इस महाभारत-पूर्व अथवा महाभारतकालीन उपदेश तथा ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम, रामदास तक वर्णित गुरुपूजा की मनोभूमिका में जमीन-आसमान का फर्क है। महाभारत जैसे ग्रन्थ से शुरू होकर सारा ही साहित्य इतना सुकोमल क्यों हो गया? 'धियोयोनः प्रचोदयात्' की प्रार्थना करनेवाले अपनी बुद्धि सर्वथा दूसरों के हवाले कैसे करने लगे? यह हमारे सामाजिक इतिहास का एक बड़ा रहस्य है।

महाभारत में मैत्री का उस समय के रस्म-रिवाज के मुताबिक अच्छा चित्रण किया गया है। दारिद्र्य-पीड़ित द्रोण द्रुपद के दरबार में जाकर, 'मैं द्रुपद का बाल-मित्र', (अर्थात् आज भी मित्र हूं) कहकर मित्रता का सम्बन्ध बताने लगा। द्रुपद ने इस मित्रता को यह कहकर दुत्कार दिया कि 'एक राजा दरिद्र ब्राह्मण का मित्र कैसे हो सकता है? मित्रता बराबरीवालों में हो सकती है, दूसरों में नहीं।' यों कहकर उसने द्रोण को चेताया। तब द्रोण ने अपने शिष्यों के द्वारा द्रुपद का आधा राज्य

१. इस दृष्टि से देखें तो "द्रौपदी" नामक मेरा लिखा अंतिम भाग 'नरोटी' है। भीम जिसे समझ नहीं पाया और जो देना द्रौपदी के लिए संभव नहीं था, वह मानो दिया ही गया है, ऐसा भास मैंने निर्माण किया है, यह महाभारत की परंपरा को छोड़कर हुआ।

यदि ऐसा था, तो वह अंतिम भाग मैंने लिखा ही क्यों? मैं भी तो अपने ही युग में हूं। मेरी भी आंखें और मन दुर्बल हैं। महाभारत के प्रकाश की ज्योति सहन नहीं हुई।

छीनकर 'अब हम बराबरी के मित्र हो गये', यों कहकर द्रुपद को जीवन-दान दिया। इस कथा से मैत्री का प्रारम्भ नहीं, बल्कि एक भयंकर वैर की शुरुआत हो गई। रंगशाला की शस्त्र-प्रतियोगिता में कर्ण का अपमान होने पर दुर्योधन ने कर्ण को अपना मित्र बनाया और अंग-देश का राज्य दिया। दोनों राजा थे, इसलिए कहने को बराबरी का मित्र कह सकते हैं, पर स्थिति ऐसी नहीं थी। एक क्षत्रिय था और दूसरा लोक-दृष्टि में 'सूत' था। और अन्त तक दुर्योधन तथा कर्ण का नाता बराबरी का मित्र का न होकर पोष्य-पोषक का ही रहा। कर्ण-पर्व में शल्य के शब्द यही सूचित करते हैं। अर्जुन का रथ कर्ण को दिखाकर शल्य कहता है—"कर्ण, दुर्योधन ने तुझपर सारा भार रखा है, उसे उठाओ अब समय आ गया है।" (८. ६२. १३. १४.)

इसी तरह के उद्‌गार भीष्म के भी थे। अर्थात् लोक-व्यवहार में कर्ण और दुर्योधन का संबंध बराबरी के मित्र का नहीं था। तीसरा उदाहरण कृष्ण-अर्जुन की मित्रता का है। वह अलबत्ते ठीक बराबरी की मित्रता का नमूना है। दोनों का सामाजिक दर्जा 'क्षत्रिय' का था। दोनों ही छोटे पुत्र थे, अतः अभिषिक्त राजा नहीं थे। दोनों ने ही पराक्रम के द्वारा एक दूसरे की सहायता की। अपने कुलों में विवाह-संबंध किये। एक साथ बैठकर 'विक्रान्तानि रतानि च', इस प्रकार युद्ध और प्रेमविषयक मनचाही गप-शप लगाई। दोनों ने साथ बैठकर मद्यपान किया और इसी अवस्था में एक की पत्नी का पैर दूसरे की गोदी में रखकर वे बैठे। एक-दूसरे के बगैर वे जी नहीं सकते थे। महाभारत-कालीन प्रगाढ़ मैत्री के वे प्रतीक थे। मालूम होता है कि महाभारत में मित्रता, प्रगाढ़ मित्रता, बराबरीवालों में ही होती थी।

इसके बाद आनेवाले समय में, श्रीकृष्ण के देवत्व को पहुंच जाने पर, उनका और सुदामा की मैत्री का जो वर्णन है वह महाभारत के चित्र से बिल्कुल ही असंगत है। सुदामा नामक गरीब ब्राह्मणपुत्र श्रीकृष्ण के साथ गुरुगृह में पढ़ता था। शिक्षा समाप्त होने पर दोनों ही अपने-अपने घर चले गये। सुदामा किसी चीज में भी—विद्या में भी—पारंगत होता हुआ दिखाई नहीं देता। वह कोरा एक दरिद्र ब्राह्मण ही रहा। यही नहीं

बल्कि मुंहफट पत्नी के कारण परेशान भी हो गया था। वह उससे बार-बार कहा करती, "अजी, तुम्हारा वह मित्र कृष्ण द्वारका का राजा हो गया है। जाकर उससे कुछ धन मांग लाओ न।" इस कथा में कृष्ण को द्वारका का राजा बताया गया है। अन्त में तंग आकर सुदामा द्वारका गया और डरते-डरते राजद्वार में खड़ा हो गया। यह मालूम होते ही कि सुदामा आया है, कृष्ण सिंहासन से उठकर दरवाजे तक गये। मित्र से लिपट गये और अपने पास लाकर बैठाया, अपनी रानियों से उसे स्नान कराया। उसके लाये मुट्ठी-भर चावल—चिबड़ा बड़े प्रेम से खाये। उसका अतिशय सम्मान किया और अन्त में उसके गांव में उसे अपार धन दिया। यह कथा सारे भारत में सबको मालूम है। महाराष्ट्र में प्रत्येक कीर्तनकार इस कथा को सुनाता है। इस कथा की प्रत्येक घटना द्रुपद-द्रोण की कथा को देखकर जान-बूझकर उसके विपरीत रची गई मालूम होती है। नहीं कह सकते कि यह कथा धनिक लोग घमण्ड का व्यवहार न करें, इस हेतु लिखी गई। यह एक नीति-कथा है या भगवान (श्रीकृष्ण) गरीब-अमीर में कोई भेद नहीं मानते थे, यह बात समझाने के लिए लिखी गई है। जिसे मित्र कहा गया है, वह एक ही बार कृष्ण के राजा हो जाने पर उनके जीवन में आता है और अपना मतलब पूरा करके चला जाता है। अपने राज्य के ब्राह्मणादिकों को तृप्त रखना राजा का काम ही है; अतः कृष्ण ने जो किया वह उचित किया था। परंतु यह संबंध मित्रता का नहीं है, महाभारतकालीन आचार-विचारों की सीमा को देखते हुए, यही कहना पड़ेगा। यहां 'मित्र' शब्द का अर्थ ही बदल गया।

महाभारत तक हमारे साहित्य का स्वतंत्र नव-निर्माण होता था। आलोचनात्मक साहित्य सारा बाद में आया। इसके बाद नव-निर्माण भी होता था, परन्तु आलोचनात्मक साहित्य अधिक था। एक प्रकार से यह क्रम सारे विश्व-साहित्य में दिखाई देता है। साहित्य के प्रारम्भ में सब-कुछ नव-निर्माण होता है। वह नव-निर्माण ही आगे के आलोचनात्मक साहित्य की बुनियाद हो जाता है।

महाभारत हमारा प्राथमिक साहित्य है। उसने परवर्ती अनेक

शतकों के काव्य, नाटक, कथा, पुराण और आलोचनात्मक साहित्य के खाद्य का काम दिया है।

महाभारतीय समाज कई अर्थों में संकुचित ही था। उसके जीवन का चित्र दिखाता है कि आधिभौतिक दृष्टि से, द्रव्य की दृष्टि से, वह कृषि, गो-रक्षकों का समाज था। वैदिक आर्य यहां के निवासियों से घुलने-मिलने लगे थे। परन्तु उनका सांस्कृतिक जीवन बहुतांश में गो-रक्षक आर्यों की ही सीमा में रहा था। घोड़ा उनका प्रिय पशु था। घोड़ों की संख्या तथा रूप और गुणों पर क्षत्रियों की महत्ता अवलम्बित थी। बहुत-से राजाओं के नाम घोड़ों के स्वामित्व और गुणों के निदर्शक थे। जैसे हरियश्व (लाल घोड़ा रखनेवाला), अश्वपति (घोड़ों का स्वामी), श्वेतवाहन (अर्जुन का एक नाम), युवानाश्व (एक प्रसिद्ध पूर्वकालीन राजा का नाम)। सारथी होना और रथ में बैठकर लड़ना (महारथी, रथी, अतिरथी), यह बड़प्पन समझा जाता था। रथ में घोड़े जोते जाते थे। रथ के चक्के—पहिये में आरे होते थे। रथ छोटे व बड़े होते थे। किन्तु महाभारत-काल में कोई घुड़सवारी नहीं जानता था। यह कला ईसा के बाद के काल अर्थात् महाभारत-युद्ध के हजार वर्ष बाद हिन्दुस्तान में आई।

गो-रक्षण और कृषि ही जीवन का आधार था। क्या वे गोमांस खाते थे? खाते थे, ऐसा भी प्रमाण नहीं है। वेद-ब्राह्मण-काल में गोमांस खाया जाता था। त्यौहार तथा उत्सव आदि पर विद्वान ब्राह्मण-जैसा कोई बड़ा अतिथि आता तब उन्हें वह परोसा जाता, परन्तु महाभारत में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। पर यह भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि नहीं ही खाते थे। स्थान-स्थान पर व्याध लोगों का उल्लेख है। भीम को मांस प्रिय था, परन्तु मृगया करके लाते थे, ऐसा भी उल्लेख है। पाण्डव मृगया—शिकार पर रहते थे। उनकी लाई हुई मृगया उनके आश्रित ब्राह्मण भी खाते होंगे। मृगया और व्याधों के उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि गोमांस खाने का रिवाज या तो नष्ट हो गया था या बहुत प्रचलित नहीं था। समस्त क्षत्रिय गायों के बड़े-बड़े झुंड पालते थे। यह क्यों? क्षत्रिय दूध बेचते थे, ऐसा तो कहीं दिखाई नहीं देता। तब फिर ये पशु

परिवार के दूध-दही के लिए अथवा नित्य होनेवाले यज्ञ में आवश्यक घी के लिए रखते थे, या कभी-कभी खाने को भी? ऐसा प्रश्न मन में उपस्थित होता है। कर्ण-पर्व में कर्ण का मद्र, बाल्हीक और गान्धार देश के निवासियों के विषय में जो निर्देश है, वह स्पष्ट ही प्रक्षिप्त भाग मालूम होता है। कुरु-पांचाल धार्मिक और दूसरे राष्ट्र अधार्मिक, ऐसा भान हो जाने के बाद वह निर्देश होना चाहिए। उसमें कहा गया है कि पूर्वोक्त तीनों राष्ट्रों के लोग गोमांस खाते थे और शराब पीते थे। (८-२७-७७)। शराब पीना महाभारत-काल में क्षत्रियों के लिए जायज था, यह स्पष्ट है। इसी तरह शायद गोमांस खाना भी रहा हो। बाद में उसपर धार्मिक बन्धन लग गया। पर पश्चिम के लोग पुराने रीति-रिवाज पालते रहे। इस कारण वे नई मान्यता के अनुसार धर्म-बाह्य हो गये होंगे।

दूध, सान्नाय और घृत ये हविर्द्रव्य थे। 'सान्नाय' का अर्थ है दूध फाड़कर बनाया छेना। ये सब खाद्य ही थे। मनुष्य अपने लिए जो पैदा करता है और खाता है वही अपने देवों को चढ़ाता है। घृत से अभिप्राय क्या? तक्र और नवनीत ये दोनों शब्द महाभारत में नहीं हैं। मक्खन को तपाकर जो बनाया गया वह घृत या गो-चर्म-मांस को तपाकर (यूरोप में जैसे निकालते हैं) निकाली गई चर्बी। वही प्रश्न 'आज्य' शब्द के संबंध में है। 'आज्य' माने अजा में से बनाया हुआ। आज्य बकरे और भेड़ का मांस भी हो सकता है। 'आज्य' शब्द 'अञ्ज' (चुपड़ना) धातु से बनता है। इसके अनुसार आज्य का अर्थ होता है, जो शरीर पर चुपड़ा जाय। तिब्बत तथा मध्य एशिया के पशुपालक घुमंतु लोग आज भी सब तरह की चर्बी और मक्खन को शरीर पर चुपड़ते हैं। घोड़े की बलि अश्वमेध यज्ञ में देते थे। बकरा छोटे यज्ञों में काम आता होगा। अन्य पशु भी मेध्य थे। 'मेध्य' पशु 'खाद्य' भी होते थे। क्या गो 'मेध्य' और 'खाद्य' दोनों थी?

महाभारत-कालीन लोगों का मुख्य खाद्यान्न क्या था? यह ग्रन्थ के द्वारा जान नहीं पड़ता, बहुत करके 'जौ' होना चाहिए। क्षत्रिय भर-पेट शराब पीते थे। धान्य जिस प्रकार खाद्य था, उसी प्रकार वह ईश्वर

को—देव को पुरोडास के रूप में अर्पण करने का द्रव्य भी था। याग-प्रधान कर्म में पत्र, पुष्प, फल तीनों का कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार की पूजा महाभारत में नहीं थी। गीता में यद्यपि इन तीनों ('पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं यो मां भक्त्या') इत्यादि का उल्लेख आया है ; तो भी उसे बाद का समझना चाहिए। महाभारत-काल में जो हमारा और अपने देवों का खाद्य था वह बाद में नहीं रह गया। मनुष्य और देव दोनों बदल गये।

ऐसी एक महत्त्वपूर्ण बात और है, जिसका निर्णय नहीं किया जा सकता। वह है लिपि और लेखन। महाभारत-काल में लोग लिखना जानते थे या नहीं ? शायद नहीं। क्योंकि महाभारत में लेखन का कहीं उल्लेख नहीं है। लिपि यदि होती तो उसका उल्लेख अवश्य ही होता। ऐसे प्रसंग थे, जहां उल्लेख होना चाहिए था। फिर भी उल्लेख नहीं है। इससे मालूम होता है कि उस समय लेखन-कला का ज्ञान नहीं था। संदेश सब जबानी ही होते थे या दूत भेजे जाते थे। दूतों द्वारा भी चिट्ठी-पत्री न देकर जबानी ही संदेश भेजे जाते थे। विदुर ने वारणावत में धर्म-राज के पास अपना जो एक विश्वासपात्र खनक (खोदनेवाला) भेजा था, उसे जबानी ही संदेश कहलाया था। यदि यह कहें कि संदेश बहुत गुप्त था, इसलिए जबानी कहलाया, तो अन्य दूसरे प्रकरण तो बिल्कुल ही गोपनीय नहीं थे। वहां भी जो कुछ भी कहना होता तो लोगों को इकट्ठा करके कहा जाता था। विराट-पर्व में शमी वृक्ष के नीचे खड़ा रह-कर अर्जुन जब उत्तर को यह बताता है कि कौन-सा शस्त्र किसका है, तब यह अपेक्षा की जाती थी कि शस्त्रों पर किसीके नाम होंगे। परन्तु वहां किसीके नाम न होकर संकेत मात्र थे। सुवर्ण के बिंदु (जातरूपस्य बिन्दवः) जिसपर हों, वह धनुष 'गाण्डीव'। जिसपर सोने का हाथी वह भीम का, जिसपर इन्द्रगोप हो वह धर्मराज का, जिसपर स्वर्ण का सूर्य हो वह नकुल का और गोल पत्थर के निशानवाला सहदेव का। इसी तरह किन-किन के बाण, तलवार और म्यान थे, इसका भी वर्णन है। किसी भी आयुध पर नाम नहीं है। इसी प्रकार राजा का गोधन मुद्रांकित होता था। परन्तु मुद्रा पर नाम होता था, ऐसा कहीं दिखाई

नहीं पड़ता। यह बात क्षत्रियों की थी। क्षत्रिय यदि लिखना-पढ़ना न जानते हों, तब भी—बिल्कुल कल तक उनका काम चलता था। परन्तु दूसरों के संबंध में भी लेखन का उल्लेख नहीं मिलता। कृषि और गो-रक्षक बिना लेखन के चल सकता था। आर्यों के पहले भारत में सिन्धु-तट-निवासी लोगों में लेखन-कला-लिपि भी थी। आर्यों की लिपि पहले-पहल ईसा-पूर्व पांचवीं सदी में मिलती है। उसके पहले दो सदियों में यदि लेखन आया हो, तो बुद्ध-काल में लेखन होता था, ऐसा प्रतीत होता है। बुद्ध-युग को यदि वणिक् युग कहें, तो लेखन की अपेक्षा माननी पड़ती है, क्योंकि द्रव्य का आदान-प्रदान बिना लेखन के नहीं हो सकता। महाभारत में लेखन और लेखन-सामग्री का—स्याही, कागज, कलम इनमें से किसीका भी उल्लेख नहीं है। यदि लेखन होगा भी तो बड़े अपवाद के रूप में ही होगा। संभव है, सभा-भवन का निर्माता मय लेखन-कला जानता हो।

रुक्मिणी की कथा महाभारत का भाग न हो तो भी उसी काल की अवश्य है। श्रीकृष्ण कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, तो भी वह उस समय के क्षत्रिय ही थे। अतः रुक्मिणी के स्वयंवर के पहले उन्हें प्रेम-पत्रिका लिखना और कृष्ण का उसे पढ़ सकना दोनों बातें असंभव मालूम होती हैं।

जिस प्रकार लेखन नहीं था उसी प्रकार ईंट और पत्थरों के घर भी नहीं थे। आर्य बहुधा लकड़ी के घर बनाते थे। पहली बौद्ध गुफाएं लकड़ी के ढंग की बनी हैं, ऐसा जानकार लोग कहते हैं। यज्ञों में भिन्न-भिन्न प्रकार की 'चिति' बताई गई है। उनके लिए इष्ट का अर्थात् ईंट आवश्यक थी। यदि वे ईंट बनाना जानते थे, तो फिर घरों के लिए भी ईंटों का काम में लाया जाना संभव है। पर ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है। गरीब लोग आज भी जिस प्रकार मिट्टी के घर बनाते हैं,वैसे ही उस समय भी बनाते होंगे।

धर्म, तत्त्वज्ञान, दर्शन, सामाजिक मूल्य आदि विषयों में वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। पर लोग ऐहिक (भौतिक) बातों में बहुत आगे बढ़े हुए नहीं थे। अन्य आर्यभाषिकों की तरह मिस्र और बेबीलोन के सेमेटिक-हेमीटिक आदि लोगों के मुकाबले में वे पिछड़े हुए ही थे। उनके

शस्त्र उत्तम होते थे और वाहनों के कारण उनकी गति भी तीव्र होती थी। यही लोग नये सिरे से मिस्र व बावेरु (ईजिप्ट और बेबीलोन) देशों में घोड़ा ले गये और उसकी सहायता से उन देशों को जीतकर कुछ समय तक उन्हें अपने आधिपत्य में रक्खा। इसी भाषिक समूह के लोग ग्रीस गये। ग्रीस की समाज-व्यवस्था और महाभारत के चित्र में विलक्षण साम्य है; और ऐसा फर्क भी है, जो विचार करने पर मजबूर करता है। उन्होंने भी ऐसे एक पुराने युद्ध का 'ईलियड' नामक अमर काव्य में वृत्तान्त दिया है। उसमें जो समाज-स्थिति दिखती है, वह हमारी महाभारत-कालीन समाज-स्थिति से मिलती-जुलती है; वहां भी छोटे-छोटे राज्य थे। सब राज्यकर्ता एक-दूसरे की बराबरी के थे और ट्रॉय के युद्ध में इन राजाओं के मानापमान का ध्यान रखने में बेचारे 'आगामेम्नान' की अवस्था दुर्योधन की तरह हो गई थी। ग्रीक कथा में देवादिकों का हस्तक्षेप महाभारत-कथा की अपेक्षा ज्यादा है। ग्रीक देवता एक-दूसरे से लड़ते हैं। ग्रीक-कथा में देवियों का स्थान स्वतंत्र (जैसे पालासअथीनी) देवताओं की तरह ही महत्वपूर्ण है। महाभारत-काल तक हमारे यहां देवियों का या देवताओं की पत्नियों का स्थान नहीं था। दोनों समाज पितृ-प्रधान होने पर भी ग्रीक-कथाओं में स्त्रियों के चरित्र स्पष्ट, विशिष्टतापूर्ण और विविध हैं। मानव-समाज में क्या और स्वर्ग में क्या, ग्रीक लोगों में नारी को भारत की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है, इसमें संदेह नहीं। ग्रीकों की तुलना में हमारे यहां की स्त्रियां अधिक उदात्त थीं। तो भी वे एक ही ठप्पे की और उकता देनीवाली मालूम होती हैं। माता और पत्नी ये दो ही भूमिकाएं उनकी दिखाई पड़ती हैं। पति ने अपनी सगी बेटी को बलि दे दिया, यह निमित्त बताकर पति की हत्या करनेवाली क्लीटेमनेस्ट्रा, मेलियागर ने अपने भाई थेस्टिआडीस को झगड़े-फसाद में मार डाला इसलिए क्रोधावेश में मेलियागर का वध करनेवाली उसकी माता आल्थीया,

अपने शापित भाई ओरेस्टेस के साथ वन-वन भटकनेवाली 'इलेक्ट्रा'[1], पाप के प्रायश्चित्त के तौर पर बुढ़ापे में इडियस ने जब अपनी आंखें फोड़ लीं तब अपने तय किये हुए विवाह को तोड़कर अपने निराधार अपंग पिता की लड़की बन जानेवाली इफिजेनिया—ऐसे कितने ही अविस्मरणीय विविध चरित्र ग्रीक-कथाओं में हैं। ग्रीक लोगों के देवी-देवता भी हमारे यहां के देवताओं की तुलना में बड़े क्रोधी, जल्दबाज और स्वभाव से दुष्ट मालूम होते हैं। ग्रीक कथाओं में भाई-बहन का नाता बड़ा प्रेमपूर्ण और हार्दिकता का दिखाया गया है। विवाह हो जाने पर स्त्री अपने मायके को नहीं भूलती। मूल एक होकर भी बाद में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में चली जानेवाली दो पितृ-प्रधान सस्कृतियों में इतना अन्तर क्यों होना चाहिए, यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है। ग्रीक लोगों पर मिस्र की संस्कृति का प्रभाव पड़ा होना चाहिए। मिस्र देश का राजा यद्यपि पुरुष होता था, तो भी वहां की संस्कृति मातृ-प्रधान थी,

१. महाभारत में भाई-बहनों के प्रेम के उदाहरण नहीं मिलते। बहन के बदले में पराक्रमी और धनवान बहनोई प्राप्त करना ही भाई का मुख्य उद्देश्य दिखाई देता है। ऐसा ज्ञात होता है कि विवाह होने के बाद स्त्रियों का मायके से बहुत संबंध नहीं रहता था। वैदिक साहित्य में अलबत्ता बहन-भाइयों के संबंध निकट के दिखाये गए हैं। भाई के अभाव में बहन की स्थिति शोचनीय होती थी, ऐसा भी उल्लेख है। परन्तु महाभारत में भाई-बहन के प्रेम का उल्लेख न हो तो भी ऐसा मालूम होता है कि गांधारी और द्रौपदी की पीठ पर उनके भाई ही थे और कुन्ती का पृष्ठ-पोषक भाई नहीं तो भतीजा था। तब भी गांधारी और शकुनि की बातचीत अथवा धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के साथ हार्दिक वार्तालाप कहीं भी नहीं दिखाया गया है। बाद के समय में यही परिस्थिति संस्कृत साहित्य में दिखाई देती है। परन्तु मध्ययुग के बाद के संस्कृत ग्रन्थों में यम-द्वितीया और रक्षा-बन्धन, इन त्यौहारों में भाई-बहन के बहुत हार्दिक सम्बन्ध दिखाये गए हैं; और भारत-भर की वर्तमान सभी भाषाओं में भाई-बहिन के प्रेम से परिपूर्ण लोक-साहित्य भरा पड़ा है। लोक-साहित्य में मिलनेवाला यह भाव संस्कृत में नहीं है। परन्तु आजकल के लिखित साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है। प्राचीन संस्कृत की परंपरा में इस प्रकार के संबंध नहीं थे। परन्तु बहुजन-समाज में थे और उनके द्वारा वे समाज के सभी स्तर पर पहुंचे, यही नहीं, बल्कि साहित्य में भी उनको स्थान मिल गया।

और स्त्रियों का दर्जा भी बड़ा ऊंचा था । उसका भी यह परिणाम हो सकता है ।

ग्रीक लोगों में भी राजकुल, पूजा-अर्चा करनेवाला पुरोहित-वर्ग और दूसरे समाज थे । इसके अलावा परिचर्या करनेवाला दास-वर्ग भी था । जब राजकुल समाप्त हो गये और लोक-सत्ता स्थापित हुई, तब मताधिकार सिर्फ ऊपर के तीन वर्गों को मिला था, दासों को नहीं । यही प्रकार अबतक अमेरिका में था । दूसरे पाश्चात्य देश भी एक ही समय अपने घर में लोक-सत्तात्मक और बाहर साम्राज्यवादी थे और हैं भी । अपने और पराये, अपने देवता और परायों के देवता, अपने हक लेने की और परायों को हक न देने की प्रवृत्ति—यह सब तब भी था, आज भी है । उस काल के लेखन में ये बातें स्पष्ट हैं । उस समय के मानव-समाज छोटे-छोटे थे । इस तरह की समाज-व्यवस्था ही स्वाभाविक समझी जाती थी । उसमें छिपाने जैसा कुछ नहीं होता था । आज भी इन पिछली बातों में से बहुत-सी बच रही हैं । परन्तु लोग ऐसी भावना से लिख रहे हैं, मानो वे हैं ही नहीं । बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं मानो पुराना केवल त्याज्य ही नहीं, बल्कि वर्तमान काल के लिए बेमौजूं भी है । परन्तु दरअसल ऐसा है नहीं । पुराना न कभी सर्वथा त्याज्य और बे-मौजूं हुआ है और न नया ही इतना कभी नया रहा है कि उसमें पुराने का अंश ही न रहा हो । मानव-शास्त्र की स्थिति ऐसी ही है । प्राचीन, नवीन, पास-पास का और दूर-दूर का, आगे का, पीछे का सभी मानव-समाज के अध्ययन करने योग्य है । अध्ययन तुलनात्मक होना चाहिए कि जिससे पहले क्या था, और आज क्या है, इसकी तुलना की जा सके । पहले ही से अपना दृढ़ मत बनाकर मूर्ति-पूजक की तरह न तो भक्ति-भावना से होना चाहिए और न मूर्ति-भंजक के आवेश और द्वेष-भाव से होना चाहिए, यही मेरी प्रार्थना है ।

× × ×

यह सब लिखते हुए, एक मित्र ने एक विचार सुझाया है कि वेद, उपनिषद, महाभारत से इस प्रकार शुरुआत होने के बाद हमारे सारे समाज ने एकदम पलटा क्यों खाया ? इतनी दृढ़ता से जीवन का विचार करने पर फिर भक्ति-मार्ग की स्वप्निलता और विभूति-पूजा कैसे चल पड़ी ? गो-मांस तक सब तरह का मांस खानेवाले, अन्त में गो-मूत्र और गोबर खाकर, एक चार पांव के पशु को अपनी माता कैसे समझने लगे ?

इन प्रश्नों का उत्तर देना—अकेले एक व्यक्ति के लिए अशक्य है । विचार करने की दृष्टि से मैंने यहां अपने और दूसरों के प्रश्न उपस्थित किये हैं ? दूसरे एक मित्र ने एक और विचार पेश किया है जो कुछ सुख-कारक है । इन्होंने कहा—"अरे भाई,दूसरा कुछ भी भले ही न टिका हो, बाकी न रहा हो, परन्तु भाषा टिक गई, यही बहुत है । बड़े भाग्य की बात है, आज हम जो महाभारत पढ़ लेते हैं और उसका अर्थ समझ लेते हैं, यह सद्भाग्य नहीं है क्या ? नहीं तो मोहनजोदड़ो की तरह सब दबा हुआ होता । चित्र हैं, वस्तुएं हैं, कुछ-न-कुछ लिखा हुआ भी है; पर वह क्या है, यह भाषा के ज्ञान के अभाव में जाना नहीं जाता ।" सचमुच यह कितने सौभाग्य की बात है कि आज मैं तीन हजार वर्ष पहले की 'जय' नामक कथा पढ़ सकती हूं और उसमें अपना प्रतिबिंब देख सकती हूं ।

●

१

महाभारत में उल्लिखित कुछ समाज

(१) **वैदिक समाज**—मानव-वंश के संबंध में यदि कोई खास विचार मन में न हो, तो इस समाज को आर्य कहना अनुचित न होगा। इसमें मुख्यतः तीन प्रकार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय व विश्। ब्राह्मण, क्षत्रिय व विश्—इन तीनों के चाकर, दास, दासी आदि शूद्र थे। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय के परिचारक, और बहुधा क्षत्रियों के अति निकटस्थ, सूत होते थे। (उदाहरणार्थ विदुर, संजय, सुदेष्णा, आदि)।

(२) पूर्वोक्त वर्ग से मित्रता वा शत्रुता का संबंध रखनेवाला मुख्यवर्ग **नाग** था। उसके ये मुख्य कुल थे :

तक्षक—खाण्डववन का राजा, जिसकी पाण्डवों से तीन पीढ़ियों की शत्रुता रही।

ऐरावत कौरव्य—इसीका प्राकृत स्वरूप एलापत्त है। अर्जुन की एक पत्नी, उलूपी, इसी कुल की थी।

वासुकी—भोगवती का राजा। इसकी कन्या जरत्कारु इसी नाम के एक ब्राह्मण को विवाही थी। उसका पुत्र आस्तिक, जिसने मातृ-कुल को जनमेजय के सर्प-सत्र से बचाया।

(३) **दासराज**—गंगा पर नाव चलानेवाला, मछुओं का राजा। इसकी कन्या काली—सत्यवती—मत्स्यगंधा का विवाह शन्तनु से हुआ। यह धृतराष्ट्र-पाण्डु की दादी थी।

(४) **पक्षिकुल** के नामधारी नागेतर अरण्यवासी लोग। शार्ङ्गी नामक एक महिला की ब्राह्मण से उत्पन्न सन्तति को अर्जुन ने खाण्डव-दाह के समय जीवदान दिया था।

(५) **अरण्यवासी राक्षस** (?)—हिडिंब, बक आदि।
इनमें से एक महिला—हिडिंबा से भीम का विवाह हुआ था। उनका पुत्र घटोत्कच युद्ध में मारा गया।

(६) **मणलूरपुर का राजा और प्रजा**—इसकी कन्या चित्रांगदा से अर्जुन का विवाह हुआ था। वह और उसका पुत्र अपने मायके में ही रहते थे। सम्भव है, यह मातृ-प्रधान कुल हो।

२

कुरुओं की वंशावलि

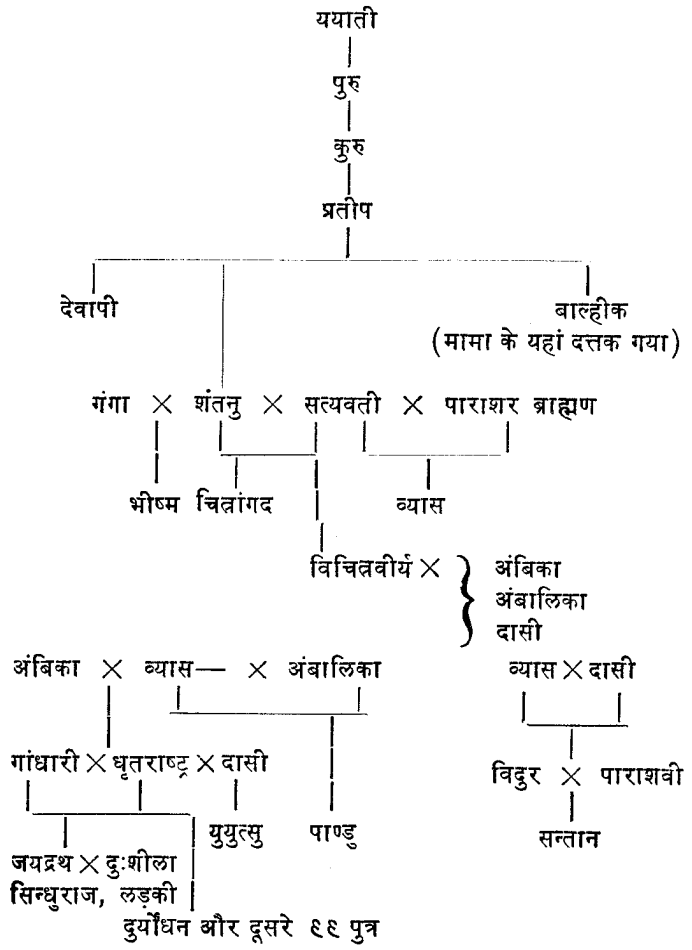

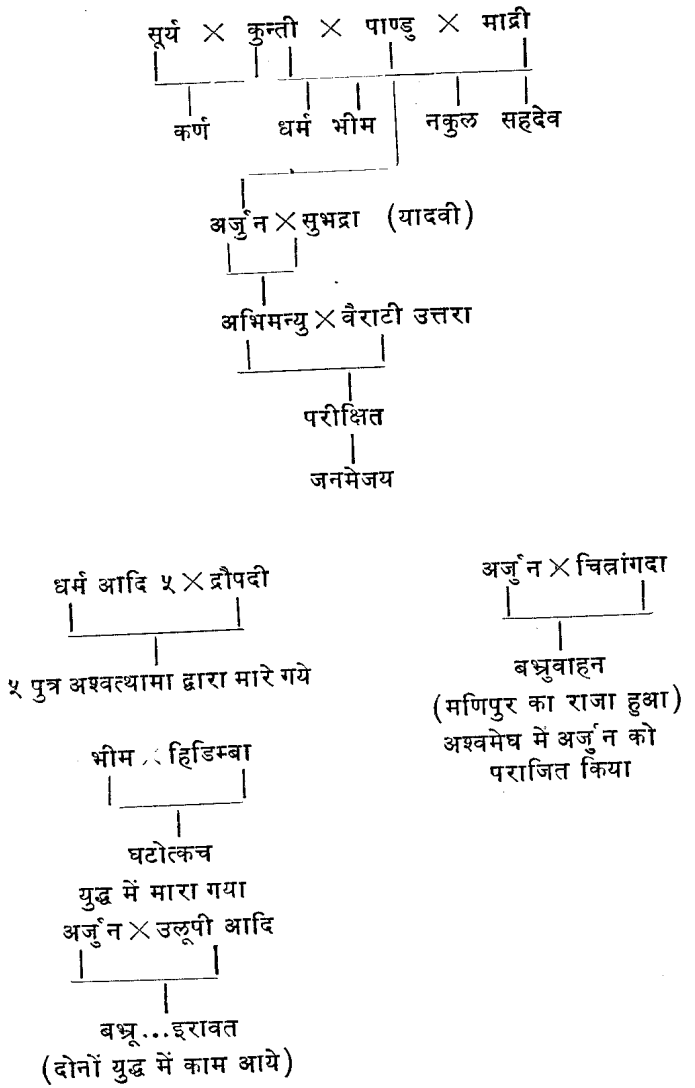

३

यदुवंश

सारी वंशावलि नहीं दी गई है। मुख्य-मुख्य नाम दिये हैं। वंश बहुत विस्तृत और पुराणों में उसके विषय में एकवाक्यता भी नहीं है। 'महाभारत' में कहीं भी इस वंश की क्रमबद्ध जानकारी नहीं है। 'हरिवंश' में अलबत्ते है, परन्तु वह बहुत भ्रमोत्पादक और गलत-सलत है। यह वंशावलि पर्गिटर द्वारा अपने 'जनरल सर्वे आफ एन्शंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन १९२२,' नामक पुस्तक के आधार पर तैयार की गई है। पर्गिटर ने विभिन्न पुराणों का बहुत अध्ययन करके यह बनाई है। जहां पिता-पुत्र का नाता है वहां खड़ी लकीर लगाई है, जहां ज्यादा लम्बे वंशजों का नाता है वहां छोटे-छोटे बिन्दुओं से दर्शाया गया है। चेदि, विदर्भ, भोज, वृष्णि, अंधक, शैनेय ये सब पितृकुल की ओर से रिश्तेदार थे। इनमें परस्पर विवाह भी होते थे। चेदि और विदर्भ के स्वतंत्र राज्य थे। इतरों पर जरासन्ध का आक्रमण होने से यादव द्वारका जाकर बसे और राज्य कायम किया। सम्भवतः मथुरा कंस के वंशजों के कब्जे में रहा हो। इस वंशावलि से कृष्ण के पैतृक नाम (माधव, यादव, सात्वत, वार्ष्णेय, शौरि, और वासुदेव) का बोध होगा।

४

कुरुओं से संबंधित कुल

यदुवंश

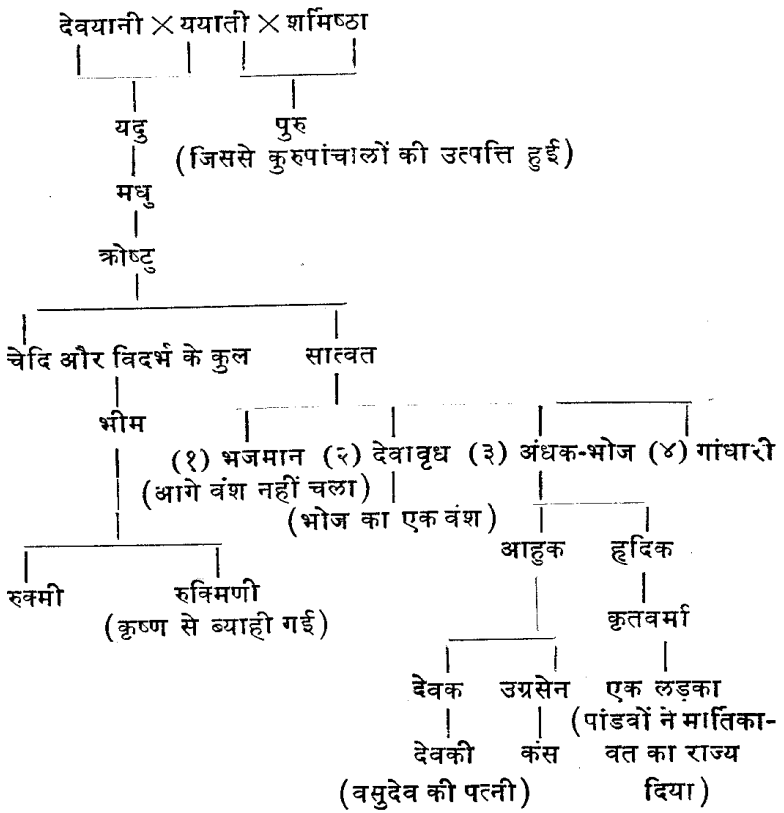

कुरुओं से संबंधित कुल (जारी)

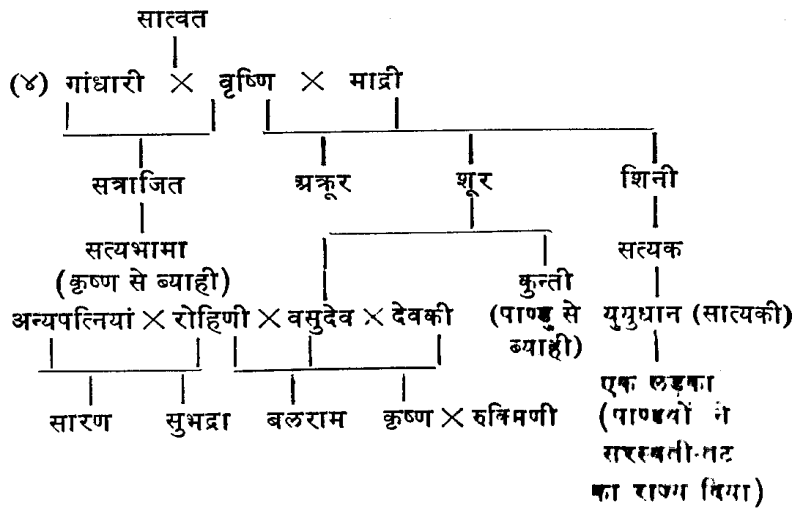

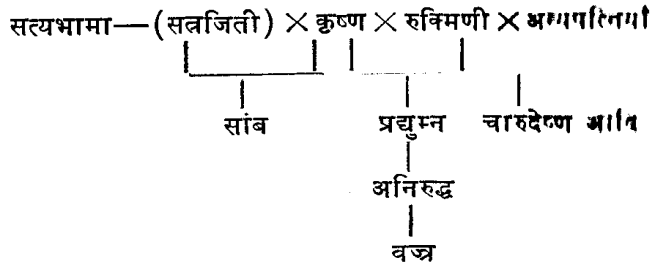

कुरुओं से संबंधित कुल—२

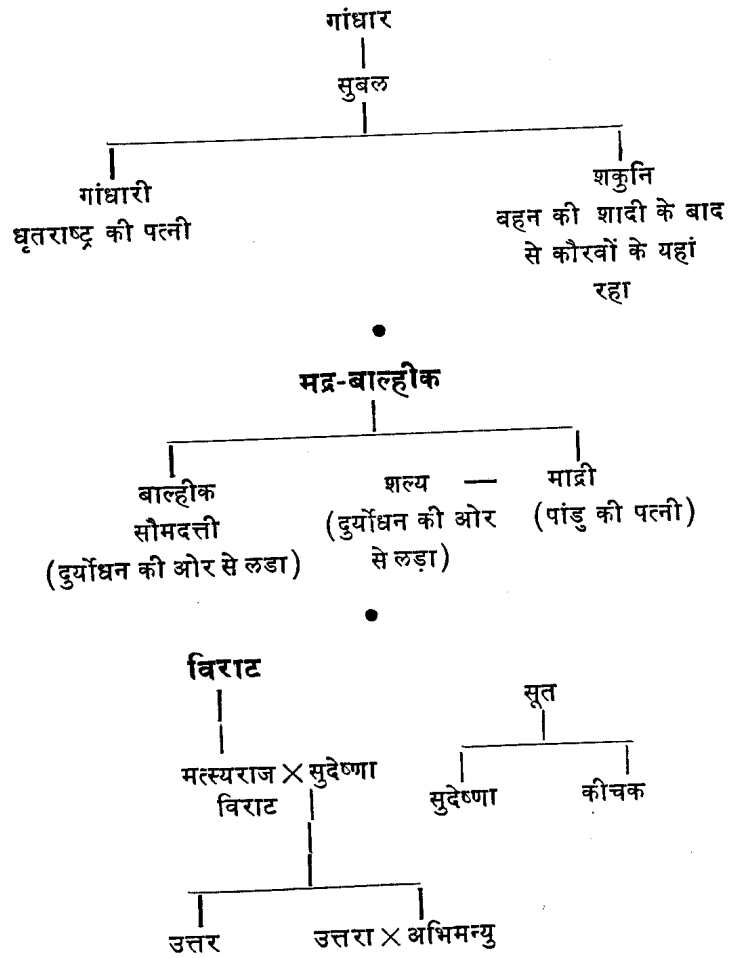

कुरुओं से संबंधित कुल

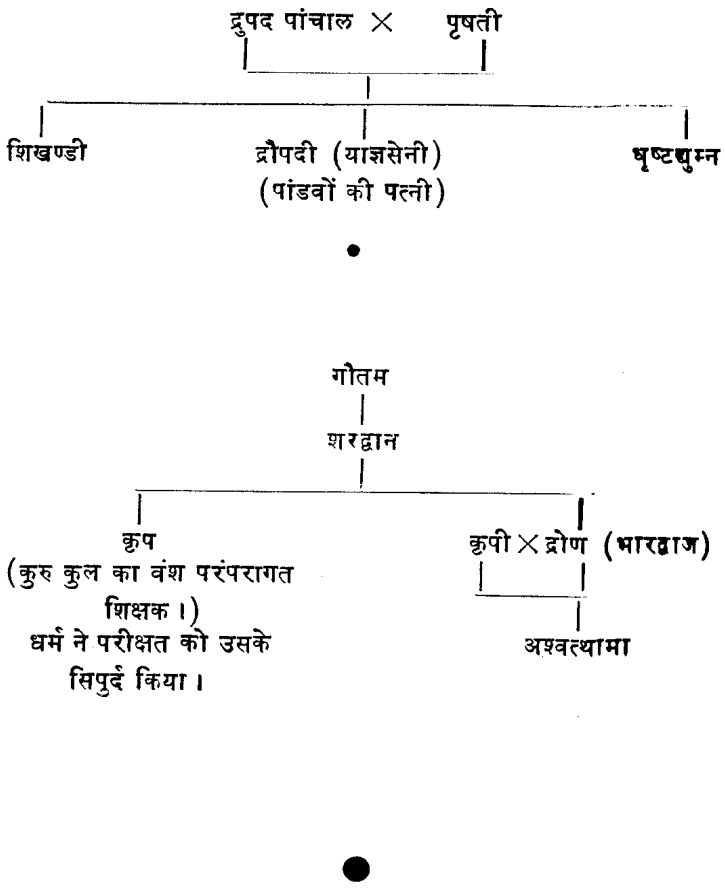

महाभारतकालीन
उत्तरभारत
किलोमीटर
हस्तिनापुर
मथुरा
द्वारका